कार्ल मार्क्स
फ्रे. एंगेल्स

भारत का प्रथम स्वातंत्र्य संग्राम
१८५७-५९

पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा) लिमिटेड
अहमदाबाद नई दिल्ली बम्बई

जनवरी १९७३ (H. P. 22)

पहला हिन्दी संस्करण : जनवरी, १९६३
दूसरा हिन्दी संस्करण : जनवरी, १९७३

अनुवादक
रमेश सिनहा

मूल्य : साधारण संस्करण ४ रुपये
सजिल्द संस्करण ८ रुपये

डी. पी. सिनहा द्वारा न्यू एज प्रिंटिंग प्रेस, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली में मुद्रित और उन्हीं के द्वारा पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली की तरफ से प्रकाशित।

विषय-सूची*

* तारांकित लेखों के शीर्षक मास्को स्थित मार्क्सवाद-लेनिनवाद संस्थान द्वारा दिये गये है। —सम्पादक.

भूमिका

वर्तमान संग्रह का अधिकांश भाग उन लेखों से बना है जो भारत के १८५७-५९ के राष्ट्रीय-मुक्ति विद्रोह के सम्बंध मे कार्ल मार्क्स और फ़ेडरिक एगेल्स ने न्यू-यौर्क डेली ट्रिब्यून के लिए लिखे थे। संग्रह में विद्रोह से ठीक पहले के भारत की स्थिति के सम्बंध में १८५३ में लिखे गये मार्क्स के लेखों, भारतीय इतिहास के सम्बंध में (उनकी) टिप्पणियों तथा उन पत्रों के वे अंश भी मौजूद हैं जिनमें विप्लव के सम्बंध मे मार्क्सवाद के संस्थापकों ने महत्वपूर्ण बातें कही हैं।

पूंजीवादी देशों की औपनिवेशिक नीति तथा उत्पीडित राष्ट्रों के राष्ट्रीय-मुक्ति संघर्ष में १८५०-६० के आरंभिक दिनों से ही मार्क्स और एंगेल्स ने हमेशा बहुत दिलचस्पी दिखलायी थी। पूर्वी देशों, खास तौर से एशिया के औपनिवेशिक और पराधीन देशों, और इनमें भी मुख्यतया भारत और चीन के इतिहास का उन्होने गहन अध्ययन किया था।

भारत और चीन—ये दोनों महान देश एक लुटेरी पूंजीवादी औपनिवेशिक नीति के शिकार थे; इसलिए सर्वहारा वर्ग की मुक्ति के संघर्ष के दृष्टिकोण से, इनके ऐतिहासिक भवितव्य में मार्क्स और एंगेल्स की दिलचस्पी सबसे अधिक थी। पितृ-सत्तात्मक और सामन्ती सम्बंधों के टूटने तथा पूंजीवादी विकास की ओर धीरे-धीरे बढ़ने के परिणामस्वरूप भारत और चीन में जो गहरे परिवर्तन हो रहे थे, उनके क्रान्तिकारी प्रभाव को वे एक नयी महत्वपूर्ण चीज मानते थे। उनका कहना था कि योरोप की आसन्न क्रान्ति की संभावनाओं पर इस परिवर्तन का असर पड़ना अनिवार्य था। यही कारण है कि १८५७ के वसन्त में भारतीय विप्लव का शुभारम्भ हो जाने पर मार्क्स और एंगेल्स ने उसका इतनी एकाग्रता से अध्ययन किया था। विप्लव की तमाम प्रमुख घटनाओं पर उन्होने विचार किया था; अपने लेखों मे उसके कारणों का विस्तारपूर्वक उन्होंने विश्लेषण किया था; और उसकी पराजय की वजहों पर प्रकाश डाला था। लड़ाई का उन्होने विस्तृत वर्णन किया था और बताया था कि उसका क्या ऐतिहासिक असर पड़ेगा। उनका विश्वास था कि भारत का यह विप्लव उत्पीड़ित राष्ट्रों के उपनिवेशवाद-विरोधी मुक्ति के उस आम संघर्ष का ही एक अभिन्न अंग था जो १८५०-६० मे लगभग सारे एशिया में चल रहा था। इस बात को वे

अच्छी तरह समझते थे कि यह संघर्ष उस योरोपीय क्रान्ति से जुड़ा हुआ था जो, उनके मतानुसार, योरोपीय देशों तथा संयुक्त राज्य अमरीका में उस समय व्याप्त प्रथम विश्वव्यापी आर्थिक संकट के फलस्वरूप शुरू होने वाली थी।

इस संग्रह की शुरुआत मार्क्स के लेखों, "भारत में ब्रिटिश शासन", "ईस्ट इंडिया कम्पनी — उसका इतिहास तथा परिणाम" और "भारत में ब्रिटिश शासन के भावी परिणाम" से होती है। ये लेख ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा १८५३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी की सनद के फिर से जारी किये जाने के अवसर पर लिखे गये थे। भारतीय इतिहास पर अनेक अधिकारी व्यक्तियों द्वारा लिखे गये ग्रंथों के गहरे अध्ययन पर आधारित ये लेख स्पष्ट रूप से दिखलाते हैं कि मार्क्स उपनिवेशवाद के कैसे कट्टर विरोधी थे। ये लेख राष्ट्रीय-औपनिवेशिक प्रश्न पर लिखी गयी उनकी श्रेष्ठतम रचनाओं की श्रेणी में आते हैं। वास्तव में, उन आर्थिक और राजनीतिक कारणों को वे उजागर कर देते हैं जिन्होंने १८५७ के विप्लव को अनिवार्य बना दिया था।

भारत को कैसे जीता गया था और कैसे उसे गुलाम बनाया गया था — इसका इन लेखों में मार्क्स ने गहरा वैज्ञानिक विश्लेषण किया है तथा ब्रिटेन के औपनिवेशिक शासन और शोषण के विभिन्न रूपों तथा तरीकों को उन्होंने स्पष्ट किया है। वे ईस्ट इंडिया कम्पनी को भारत की फतह का साधन बताते हैं और इस बात पर जोर देते हैं कि देशी राजा-नवाबों के सामन्ती झगड़ों का फायदा उठा कर और भारत की जातियों के अन्दर नस्ली, धार्मिक, कबीले-सम्बन्धी तथा जातीय विरोधों को भड़का कर—लूट-खसोट की लड़ाइयों के द्वारा भारतीय प्रदेशों पर ब्रिटेन ने कब्जा किया था।

मार्क्स बतलाते हैं कि भारत की औपनिवेशिक लूट-खसोट ने — जो ब्रिटेन के शासक गुट की सम्पन्नता का एक मुख्य स्रोत थी — भारतीय अर्थ व्यवस्था की पूरी-की-पूरी शाखाओं को एकदम चौपट कर दिया था और उस विशाल, समृद्ध तथा प्राचीन देश के लोगों को जबर्दस्त गरीबी के गढ़े में ढकेल दिया था। वे बतलाते हैं कि ब्रिटिश हस्तक्षेपकारियों ने सार्वजनिक निर्माण-कार्यों की उपेक्षा की थी और इस भांति सिंचाई की व्यवस्था पर आधारित भारत की खेती का बंटाढार कर दिया था। देशी उद्योग-धंधों का, खास तौर से करघे और चर्खे का — जो उन ब्रिटिश सूती कपड़ों का मुकाबला नहीं कर सकते थे जिनकी भारत के बाजारों में एक बाढ़ आ गयी थी — उन्होंने सत्यानाश कर दिया था और इस भांति लाखों-करोड़ों भारतीयों को उन्होंने भूखों मरने के लिए विवश कर दिया था। उपनिवेशवादियों ने भूमि के सामूहिक स्वामित्व के पितृ-सत्तात्मक ढांचे को तोड़ दिया था। लेकिन, साथ-ही-साथ, भूमिकर और भूमि स्वामित्व की दो व्यवस्थाओं—जमींदारी और रैयतवारी — को बारी-बारी

से कायम करके भारत की सामाजिक व्यवस्था में अनेक सामन्ती अवशेषों को उन्होंने जीवित बनाये रखा था। इनके कारण देश के प्रगतिशील विकास की गति धीमी हो गयी थी और भारतीय किसानों का बोझ बढ़ गया था।

भारत में ब्रिटिश सत्ताधारियों ने रैयत किसान के ऊपर असह्य करों का बोझ डाल दिया था और, इस तरह, उसे देशी सामन्ती वर्ग तथा औपनिवेशिक राज्य के दोहरे जुए के नीचे बांध दिया था। १८५३ के अपने लेखों में तथा भारतीय विद्रोह के सम्बंध मे अपनी लेख-माला में मार्क्स बताते हैं कि भारतीय किसान को करों का अत्यन्त भारी बोझ उठाना पड़ता था और, हर जगह, उसे कर उगाहने वालो की जोर-जबर्दस्तियों, हिंसा तथा क्रूर अत्याचारों का सामना करना पडता था। अत्याचारों को भारत में ब्रिटेन की वित्तीय नीति की सरकारी तौर से स्वीकृत एक अभिन्न सस्था मान लिया गया था। ("भारत में किये गये अत्याचारों की जांच-पड़ताल", "भारतीय विद्रोह", "भारत में कर", आदि उनके लेखों को देखिए)। इसके बावजूद, जो कर इकट्ठे किये जाते थे उनका कोई भी भाग सार्वजनिक निर्माण-कार्यों के रूप में जनता को नहीं लौटाया जाता था। मार्क्स कहते हैं कि, ऐसे सार्वजनिक निर्माण-कार्य अन्य किन्हीं भी देशों की अपेक्षा एशियाई देशों के लिए, कहीं अधिक आवश्यक है।

मार्क्स इस परिणाम पर पहुंचे थे कि भारत में ब्रिटिश हस्तक्षेपकारियों की लूट-खसोट की नीति तथा औपनिवेशिक शोषण के उनके बर्बर तरीके ही वे चीजें थीं जिन्होंने भारतीय विद्रोह को जन्म दिया था।

जिन फौरी कारणों ने विप्लव का श्रीगणेश कर दिया था, उनका सम्बंध मार्क्स और एंगेल्स उन परिवर्तनों के साथ घनिष्ठ रूप से जोड़ते थे जो ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत १९वी शताब्दी के मध्य काल तक भारत में हुए थे। इन कारणों का सम्बंध वे खास तौर से उन परिवर्तनों के साथ जोड़ते थे, जो देशी फौजो के कामो में हो गये थे। "फूट डालो और शासन करो" के सिद्धान्त ने भारत को जीतने और प्रायः बिना किसी बड़ी उथल-पुथल के डेढ़ शताब्दी तक उसके ऊपर राज्य करने मे ब्रिटेन की मदद की थी। किन्तु, मार्क्स ने लिखा था, १९वीं शताब्दी के मध्य काल तक शासन की उसकी परिस्थितियां काफी बदल गयी थीं। तब तक देश पर कब्जा करने के काम को ईस्ट इंडिया कम्पनी ने पूरा कर लिया था और देश की एकमात्र विजेता के रूप मे वह अच्छी तरह सत्तारूढ हो गयी थी। भारतीय जनता को दबाये रखने के लिए, कम्पनी अब अपनी देशी फौजो का सहारा लेने लगी थी। इस फौज का मुख्य काम बदलकर फौजी के स्थान पर पुलिस का हो गया था। जीती गयी आबादी को दबाये रखना ही अब उसका मुख्य काम हो गया था। मार्क्स कहते हैं कि

इस तरह, भारत की २० करोड आबादी को अंग्रेज अफसरो की मातहती में काम करने वाली २ लाख देशी फौज गुलाम बनाये हुए थी और स्वयं इस फौज को ४०,००० अंग्रेज सैनिको की शक्ति अपने नियंत्रण में किये रहती थी। किन्तु, अंग्रेजो ने भारत मे देशी सेना की सृष्टि करके, "साथ ही साथ, भारतीय जनता के प्रतिरोध के एक प्रथम आम केन्द्र को भी संगठित कर दिया था।" (देखिए, इस संग्रह का पृष्ठ ३४-३५)। मार्क्स बताते है कि यही कारण है, जिससे कि, आम विद्रोह की शुरुआत भूखी, लुटी हुई रैयत ने नही की थी, बल्कि भारत की अधिकतर उच्चतर जातियो मे से भरती की गयी एंग्लो-इंडियन सेना के देशी रेजीमेंटो के विशेष अधिकार रखने वाले और अच्छी तनख्वाह पाने वाले सैनिको तथा अफसरो ने की थी। अंग्रेजो का दृढ विश्वास था कि भारत में उनकी सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत, देशी सिपाहियो की फौज थी; पर, अब एक जबर्दस्त झटके के साथ, उन्हें इस बात का अहसास हुआ कि वही फौज उनके लिए खतरे का भी मुख्य स्रोत थी ("भारत से समाचार")।

लेकिन, मार्क्स बताते है कि, ये सिपाही केवल साधन थे ("भारतीय प्रश्न")। विप्लव की मुख्य चालक-शक्ति भारत की जनता थी जो असह्य औपनिवेशिक उत्पीडन के विरुद्ध संघर्ष में उठ खडी हुई थी। ब्रिटिश शासक वर्गो ने यह कहने की कोशिश की थी कि यह सशस्त्र सिपाहियो की महज एक बगावत थी। इस बात को उन्होने छिपाने की कोशिश की थी कि इस विप्लव में भारतीय जन-समुदाय के व्यापक अंग शामिल थे। मार्क्स और एंगेल्स ने ब्रिटिश शासक वर्गों के इस झूठे दावे का खंडन किया था। इस संघर्ष को आरम्भ से ही एक राष्ट्रीय विद्रोह के रूप मे — ब्रिटिश शासन के विरुद्ध भारतीय जनता की एक क्रान्ति के रूप में — उन्होने चित्रित किया था ("भारतीय सेना मे विद्रोह," "भारतीय विद्रोह," आदि, तथा "भारतीय इतिहास के सम्बंध मे टिप्पणिया")। मार्क्स और एंगेल्स ने इस बात पर खास तौर से जोर दिया था कि इस विद्रोह ने न केवल भिन्न-भिन्न धर्मों (हिन्दुओ और मुसलमानो) तथा जातियों के लोगो (ब्राह्मणो, राजपूतों और कहीं-कही सिक्खो) को, बल्कि भिन्न-भिन्न सामाजिक स्तर के लोगों को भी साथ ला खडा किया था। मार्क्स ने लिखा था, "यह पहली बार है जब कि सिपाहियो के रेजीमेंटों ने अपने योरोपीय अफसरों की हत्या कर दी है; जब कि अपने आपसी विद्वेषो को भूल कर मुसलमान और हिन्दू अपने सामान्य स्वामियो के विरुद्ध एक हो गये हैं; जब कि 'हिन्दुओं द्वारा आरम्भ की गयी उथल-पुथल ने दिल्ली के राज्य सिंहासन पर वास्तव में एक मुसलमान सम्राट को बैठा दिया है'; जब कि बगावत केवल कुछ थोडे-से स्थानों तक ही सीमित नही रही है।" (देखिए, इस संग्रह का पृष्ठ ३४-३५)

यद्यपि ब्रिटिश अखबारों ने इस बात की पूरी कोशिश की थी कि विद्रोह में आम जनता के भाग लेने की बात को वे दबा दें; किन्तु मार्क्स ने अपने आरम्भिक लेखों में भी यह बात जोर देकर कही थी कि आम भारतीय जनता ने न केवल विद्रोह के साथ सहानुभूति प्रकट की थी, बल्कि हर तरीके से उसका समर्थन भी किया था। अपने "भारतीय विद्रोह" में मार्क्स ने अच्छी तरह से साबित कर दिया था कि विप्लव में जनता के व्यापक अंगों ने — सबसे अधिक किसानों ने — प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में भाग लिया था। मार्क्स ने लिखा था कि विद्रोह का विशाल विस्तार तथा यह तथ्य कि अपनी फौजों के लिए भोजन-पानी तथा आवाजाही के साधन प्राप्त करने में अंग्रेजों को अत्यधिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था, इस बात के प्रमाण हैं कि भारतीय किसान वर्ग उनके विरुद्ध था।

"अवध के अनुबंधन", "लार्ड कैनिंग की घोषणा और भारत की भूमि-व्यवस्था" तथा अन्य लेखों में मार्क्स ने बताया था कि जो भारतीय प्रदेश अब भी स्वतंत्र थे उनका अनुबंधन करके, जबर्दस्ती अपना राज्य-विस्तार करने की तथा देशी रजवाड़ों की जमीनों पर जबर्दस्ती कब्जा करने की जो नीति अंग्रेजों ने अपनायी थी वह भी विद्रोह का एक तात्कालिक कारण थी। अनुबंधित किये गये प्रदेशों की आबादी को जबर्दस्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। भारत के सम्पत्तिवान वर्गों का एक बड़ा भाग क्रुद्ध हो उठा था। अंग्रेजों ने उन समझौतों को मानने से अब इन्कार कर दिया था जो देशी राजाओं के साथ उनके सम्बंधों का दशकों से आधार रहे थे। सरकारी तौर पर स्वीकार की गयी संधियों का उल्लंघन करके उन्होंने स्वतंत्र भारतीय प्रदेशों को अपने प्रदेशों में मिला लिया था। इस बात ने और इस तथ्य ने भारत के सामन्ती भू-स्वामियों को जोरों से आंदोलित कर दिया था कि जब भी कोई देशी राजा अपने किसी स्वाभाविक उत्तराधिकारी को छोड़े बगैर मर जाता था तो अंग्रेज उसकी रियासतों पर कब्जा कर लेते थे।

विद्रोह के समय भारतीय पूंजीपति वर्ग के अन्दर भी ब्रिटिश-विरोधी भावना व्याप्त थी। इसका प्रमाण इस बात में भी मिलता है कि भारतीय युद्ध के नाम पर ईस्ट इंडिया कम्पनी ने कलकत्ते में कर्ज उठाने की जो कोशिश की थी वह असफल हुई थी।

भारतीय जनता के मुक्ति संघर्ष के साथ मार्क्स और एंगेल्स की हर प्रकार से सहानुभूति थी। वे आशा करते थे कि विद्रोह विजयी होगा। फिर भी वे जानते थे कि उसकी सफलता इस बात पर निर्भर करेगी कि भारतीय जनता के तमाम अंग, खास तौर से दक्षिण और मध्य भारत में, हर प्रकार से उसका समर्थन करते हैं या नहीं। किन्तु ऐसी व्यापक कार्रवाई न हो सकी। भारत

का सामन्ती विभाजन, उसकी आबादी की जातीय विभिन्नता, जनता के धार्मिक तथा जात-पांत सम्बंधी आपसी विरोध, तथा विद्रोह का नेतृत्व करने वाले अधिकांश देशी सामन्तों की गद्दारी, आदि इसके अनेक ऐतिहासिक कारण थे।

मार्क्स और एंगेल्स के विचार में एक केन्द्रीय नेतृत्व तथा एक संयुक्त फौजी कमान का अभाव विप्लव की असफलता का एक प्रमुख कारण था। यही बात विद्रोहियों के शिविर के अन्दरूनी झगड़ों और मतभेदों के सम्बंध में भी लागू होती है। अपेक्षाकृत कमजोर सैनिक शक्ति तथा अच्छी तरह से लैस एक योरोपीय सेना के विरुद्ध लड़ने के लिए अनुभव की कमी ने भी विद्रोह के परिणाम पर घातक असर डाला था। विद्रोह की आन्तरिक योजना अस्थिर थी। उसकी वजह से फौजी कार्रवाइयों में सफलता की संभावनाएं कम हो गयी थीं और विद्रोहियों के मनोबल पर उसका बहुत खराब असर पड़ा था। इसने विद्रोहियों के अन्दर अस्त-व्यस्तता पैदा कर दी थी और अन्त में वही उनकी पराजय का कारण बनी थी ("दिल्ली पर कब्जा", "लखनऊ पर कब्जा", "लखनऊ पर हमले का वृतान्त")। फिर भी, मार्क्स और एंगेल्स लिखते हैं कि, तमाम मुसीबतों और कठिनाइयों के बावजूद विप्लवकारियों ने बहादुरी के साथ लड़ाई की, खास तौर से विद्रोह के मुख्य केन्द्रों — दिल्ली और लखनऊ में। यद्यपि दिल्ली की रक्षा करने में वे असफल रहे, किन्तु राष्ट्रीय विद्रोह की पूरी शक्ति को उन्होंने स्पष्ट कर दिया। एंगेल्स ने लिखा था कि यह चीज जमकर की गयी लड़ाइयों में इतनी सफाई से नहीं सामने आयी थी जितनी कि छापेमार लड़ाई में।

"सभ्य" ब्रिटिश औपनिवेशिक सेना का, पराजित विप्लवकारियों के साथ किये गये उसके पाशविक व्यवहारों का, तथा जिन विद्रोही शहरों और गावों पर उसने कब्जा किया था उनकी लूट-खसोट का—अपने कई लेखों में मार्क्स और एंगेल्स ने अत्यन्त शक्तिशाली वर्णन किया है।

भारतीय विद्रोह के ऐतिहासिक प्रभाव का मूल्यांकन करते हुए मार्क्स बताते हैं कि भारत में औपनिवेशिक शासन की व्यवस्था को किसी उल्लेखनीय मात्रा में बदलने में यद्यपि वह असफल रहा, किन्तु औपनिवेशिक दासता के विरुद्ध भारतीय जनता की आम घृणा को उसने प्रकट कर दिया और यह दिखला दिया कि अपने को मुक्त करने की उसमें योग्यता है तथा उसके लिए वह संकल्प-बद्ध है। विद्रोह ने ब्रिटिश उपनिवेशवादियों को औपनिवेशिक शासन के अपने रूपों व तौर-तरीकों को कुछ बदलने के लिए भी मजबूर कर दिया था। अन्य चीजों के साथ-साथ ईस्ट इंडिया कम्पनी को, जिसकी नीतियों ने भारतीय जनमत को क्रुद्ध कर दिया था, उन्होंने खतम कर दिया!

उपनिवेशवाद के खिलाफ निरन्तर संघर्ष करने वालों की हैसियत से मार्क्स और एंगेल्स को इस बात का हमेशा विश्वास रहा था कि भारतीय जनता औपनिवेशिक दासता से अपने को मुक्त कर लेगी। मार्क्स ने बताया था कि अंग्रेजी शासन के परिणाम-स्वरूप भारत की उत्पादक शक्तियों का जो विकास होगा, उससे भारतीय जनता की स्थिति में तब तक कोई सुधार नही होगा जब तक कि विदेशी औपनिवेशिक उत्पीड़न का वह अन्त नही कर देती और खुद अपने देश की मालिक नहीं बन जाती। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मार्क्स को दो मार्ग दिखलायी देते थे—या तो ब्रिटेन में सर्वहारा क्रान्ति हो जाय अथवा विदेशी उपनिवेशवादियों के प्रभुत्व के विरुद्ध स्वयं भारतीय जनता का मुक्ति संघर्ष सफलता प्राप्त कर ले। मार्क्स ने लिखा था, "ब्रिटिश पूंजीपति वर्ग ने भारतीयों के बीच नये समाज के जो बीज बिखेरे हैं उनके फल तब तक भारतीय नही चख सकेंगे जब तक कि या तो स्वयं ग्रेट ब्रिटेन मे वहा के वर्तमान शासक वर्गों का स्थान औद्योगिक सर्वहारा वर्ग न ले ले, अथवा भारतीय स्वयं इतने शक्तिशाली न हो जायें कि अग्रेजो की गुलामी के जुए को एकदम उतार कर फेंक दें।" (देखिए, इस संग्रह का पृष्ठ ३१)

भारतीय जनता ने १८५७–५९ के विद्रोह की शताब्दी को ऐसे समय में मनाया है जब कि औपनिवेशिक गुलामी से भारत की मुक्ति के सम्बंध मे इस महान सर्वहारा नेता की भविष्यवाणी चरितार्थ हो चुकी है। एक संकल्पपूर्ण तथा लम्बे संघर्ष के द्वारा औपनिवेशिक उत्पीड़न से भारत ने अपनी राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है और अब वह स्वतंत्र राष्ट्रीय विकास के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक आ खड़ा हुआ है।

सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी की
केन्द्रीय समिति का
मार्क्सवाद-लेनिनवाद का संस्थान

कार्ल मार्क्स

भारत में ब्रिटिश शासन[1]

लंदन, शुक्रवार, १० जून, १८५३

वियना से तार द्वारा आने वाले समाचार बताते है कि तुर्की, सारडीनिया तथा स्विट्ज़रलैंड की समस्याओं[2] का शान्तिपूर्ण ढंग से हल हो जाना वहा पर निश्चित समझा जाता है।

कल रात कामन्स सभा में भारत[3] पर बहस सदा की तरह नीरस ढंग से जारी रही। मि. ब्लैकेट ने आरोप लगाया कि सर चार्ल्स वुड और सर जे. हौग के वक्तव्यों में झूठी आशावादिता की झलक दिखलायी देती है। मंत्रि-मंडल और डायरेक्टरों[4] के बहुत से हिमायतियों ने अपनी शक्ति भर इस आरोप का खंडन किया, और फिर अचूक मि. ह्यूम ने बहस का सार पेश करते हुए मंत्रियों से मांग की कि अपना बिल वे वापिस ले लें। बहस स्थगित हो गयी।

हिन्दुस्तान एशियाई आकार का इटली है: एल्प्स की जगह वहां हिमालय है, लोम्बार्डी के मैदान की जगह वहां बंगाल का सम-प्रदेश है, ऐपिनाइन के स्थान पर दकन है, और सिसिली के द्वीप की जगह लंका का द्वीप है। भूमि से उपजनेवाली वस्तुओं में वहा भी वैसी ही सम्पन्नतापूर्ण विविधता है और राजनीतिक व्यवस्था की दृष्टि से वहा भी वैसा ही विभाजन है। समय-समय पर विजेता की तलवार इटली को जिस प्रकार विभिन्न प्रकार के जातीय समूहों मे बांटती रही है, उसी प्रकार हम पाते है कि, जब उस पर मुसलमानों, मुगलों, अथवा अंग्रेजों का दबाव नहीं होता तो हिन्दुस्तान भी उतने ही स्वतंत्र और विरोधी राज्यों में बंट जाता है जितने कि उसमे शहर, या यहा तक कि गांव होते हैं। फिर भी, सामाजिक दृष्टिकोण से, हिन्दुस्तान पूर्व का इटली नहीं, बल्कि आयरलैंड है। इटली और आयरलैंड के, विलसिता के संसार और पीड़ा के संसार के, इस विचित्र सम्मिश्रण का आभास हिन्दुस्तान के धर्म की प्राचीन परम्पराओं मे पहले से मौजूद है। वह धर्म एक ही साथ विपुल वासनाओं

का और अपने को यातनाएं देने वाले वैराग्य का धर्म है; उसमें लिंगम भी है, जगन्नाथ का रथ भी; वह योगी और भोगी दोनों ही का धर्म है ।

मैं उन लोगों की राय से सहमत नहीं हूं जो हिन्दुस्तान के किसी स्वर्ण युग में विश्वास करते हैं; परन्तु, अपने मत की पुष्टि के लिए, सर चार्ल्स वुड की भांति, कुली खाँ' की दुहाई मैं नहीं देता। किन्तु, उदाहरण के लिए, औरंगजेब के काल को लीजिए; या उस युग को जिसमें उत्तर में मुगल और दक्षिण में पुर्तगाली प्रकट हुए थे; अथवा मुस्लिम आक्रमण और दक्षिण भारत में सप्त-राज्यों' के काल को लीजिए; अथवा, यदि आप चाहें तो, और भी प्राचीन काल में जाइए––स्वयं ब्राह्मण के उस पौराणिक इतिहास को लीजिए जो कहता है कि हिन्दुस्तानियों की दुख-गाथा उस काल से भी पहले शुरू हो गयी थी जिसमें कि, ईसाइयो के विश्वास के अनुसार, सृष्टि की उत्पत्ति हुई थी।

किन्तु, इस बात में कोई सदेह नही हो सकता कि हिन्दुस्तान पर जो मुसीबतें अंग्रेजों ने ढायी हैं वे हिन्दुस्तान ने इससे पहले जितनी मुसीबतें उठायी थी, उनसे मूलतः भिन्न और अधिक तीव्र किस्म की हैं। मेरा संकेत उस योरोपीय निरंकुशशाही की ओर नही है जिसे ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी ने एशिया की अपनी निरंकुशशाही के ऊपर लाद दिया है और जिसके मेल से एक ऐसी भयानक वस्तु पैदा हो गयी है कि उसके सामने सालसेट के मन्दिर के दैवी दैत्य भी फीके पड़ जाते है। यह ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन की कोई अपनी विशेषता नहीं है, बल्कि डचों की महज नकल है; यहां तक कि यदि ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी के तौर-तरीकों का हम वर्णन करना चाहे तो उस वक्तव्य को शब्दशः दोहरा देना ही काफी होगा जो जावा के अंग्रेज गवर्नर सर स्टैमफोर्ड रैफल्स ने पुरानी डच ईस्ट इंडिया कम्पनी के सम्बंध में दिया था।

> "डच कम्पनी का एकमात्र उद्देश्य लूटना था और अपनी प्रजा की परवाह या उसका खयाल वह उससे भी कम करती थी जितनी कि पश्चिमी भारत के बागानों का गोरा मालिक अपनी जागीर में काम करने वाले गुलामों के दल का किया करता था, क्योंकि बागानों के मालिक ने अपनी मानव सम्पत्ति को पैसे खर्च करके खरीदा था, परन्तु कम्पनी ने उनके लिए एक फूटी कौड़ी तक खर्च नहीं की थी। इसलिए, जनता से उसकी आखिरी कौड़ी तक छीन लेने के लिए, उसकी श्रम-शक्ति की अन्तिम बूंद तक चूस लेने के लिए कम्पनी ने निरंकुश-शाही के तमाम मौजूदा यन्त्रों का इस्तेमाल किया था; और, इस तरह, राजनीतिज्ञों की पूरी अभ्यस्त चालबाजी और व्यापारियों की सर्व-भक्षी स्वार्थ-लिप्सा के साथ उसे चला कर स्वेच्छाचारी तथा अर्द्ध-बर्बर सरकार के दुर्गुणों को उसने पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया था।"

हिन्दुस्तान में जितने भी गृहयुद्ध छिड़े हैं, आक्रमण हुए हैं, क्रान्तियां हुई हैं, देश को विदेशियों द्वारा जीता गया है, अकाल पड़े हैं — ये सब चीजें ऊपर से देखने में चाहे जितनी विचित्र रूप से जटिल, जल्दी-जल्दी होने वाली और सत्यानाशी मालूम होती हों, किन्तु वे उसकी सतह से नीचे नहीं गयी हैं। पर इंगलैंड ने भारतीय समाज के पूरे ढांचे को ही तोड़ डाला है और उसके पुनर्निर्माण के कोई लक्षण अभी तक दिखलायी नहीं दे रहे हैं। उसके पुराने संसार के इस तरह उससे छिन जाने और किसी नये संसार के प्राप्त न होने से हिन्दू (हिन्दुस्तानी—अनु.) के वर्तमान दुखों में एक विशेष प्रकार की उदासी जुड़ जाती है, और, ब्रिटेन के शासन के नीचे, हिन्दुस्तान अपनी समस्त प्राचीन परम्पराओं तथा अपने सम्पूर्ण पिछले इतिहास से कट जाता है।

एशिया में अनादि काल से आम तौर पर सरकार के केवल तीन विभाग होते आये हैं: वित्त का, अथवा देश के अन्दर लूट का विभाग; युद्ध का, अथवा बाहर की लूट का विभाग; और, अन्त में, सार्वजनिक निर्माण का विभाग। जलवायु और भौगोलिक परिस्थितियों के कारण — विशेषकर इस कारण कि सहारा से लेकर अरब, ईरान, भारत और तातारी होते हुए एशिया के सबसे ऊंचे पठारों तक विशाल रेगिस्तानी इलाके फैले हुए हैं — पूर्व में खेती का आधार मानव द्वारा निर्मित नहरें तथा जल संग्रह की व्यवस्था के द्वारा सिंचाई रही है। मिस्र और भारत की ही तरह मेसोपोटामिया, ईरान, आदि में भी बाग बनाकर पानी को रोकने और फिर उससे जमीन को उपजाऊ बनाने की प्रथा है; नहरों में पानी पहुंचाते रहने के लिए ऊंचे स्तर से लाभ उठाया जाता है। पानी के मिलजुल कर और किफायत के साथ खर्च करने की इस बुनियादी आवश्यकता ने पश्चिम में निजी उद्योग को स्वेच्छा से सहयोग का रास्ता अपनाने के लिए बाध्य कर दिया था, जैसा कि फ्लैण्डर्स और इटली में देखने में आया था। पूर्व में, जहां सभ्यता का स्तर बहुत नीचा और भूमि का विस्तार बहुत विशाल था और इसलिए जहां सहयोगी संगठन का स्वेच्छा से बनना कठिन था, इस काम को पूरा करने के लिए सरकार की केन्द्रीय शक्ति के हस्तक्षेप की आवश्यकता पड़ी। इसलिए सभी एशियाई सरकारों पर एक आर्थिक जिम्मेदारी आ पड़ी — सार्वजनिक निर्माण कार्य की व्यवस्था करने की जिम्मेदारी। भूमि को उपजाऊ बनाने की यह कृत्रिम व्यवस्था, जो एक केन्द्रीय सरकार पर निर्भर करती थी, और सिंचाई तथा आबपाशी के काम की उपेक्षा होते ही तुरन्त चौपट हो जाती थी, इस विचित्र लगने वाले तथ्य का भी स्पष्टीकरण कर देती है कि पालमीरा, पेत्रा, यमन के भग्नावशेषों और मिस्र, ईरान तथा हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े सूबे जैसे वे विशाल क्षेत्र, जो कभी खेती से गुलजार रहते थे, आज हमें उजाड़ और रेगिस्तान बन गये क्यों दिखाई

देते हैं। इससे यह बात भी साफ हो जाती है कि यदि एक भी विनाशकारी युद्ध आ जाता है तो सदियों के लिए देश को वह किस प्रकार जन-विहीन बना देता है और उसकी पूरी सभ्यता का अन्त कर देता है।

अंग्रेजों ने पूर्वी भारत में अपने पूर्वाधिकारियों से वित्त और युद्ध के विभागों को तो ले लिया है, किन्तु सार्वजनिक निर्माण विभाग की ओर उन्होंने पूर्ण उपेक्षा दिखलायी है। फलस्वरूप, एक ऐसी खेती, जिसे स्वतंत्र व्यवसाय और निर्बाध व्यापार* के मुक्त व्यापार वाले ब्रिटिश सिद्धान्त के आधार पर नहीं चलाया जा सकता था, पतन के गढे में पहुंच गयी है। परन्तु एशियाई साम्राज्यों में हम इस बात को देखने के काफी आदी हैं कि एक सरकार के मातहत खेती की हालत बिगड़ती है और किसी दूसरी सरकार के मातहत वह फिर सुधर जाती है। वहां पर फसलें अच्छी या बुरी सरकारों के अनुसार होती है जैसे कि योरप मे वे अच्छे या बुरे मौसम पर निर्भर करती हैं। इस तरह, उत्पीड़न और खेती की उपेक्षा बुरी बातें होते हुए भी ऐसी नही थी कि उन्हे भारतीय समाज को ब्रिटिश हस्तक्षेपकारियों द्वारा पहुंचायी गयी अंतिम चोट मान लिया जाता—यदि, उनके साथ-साथ, एक और भी बिल्कुल ही भिन्न महत्व की बात न जुड़ी होती, एक ऐसी बात जो पूरी एशियाई दुनिया के इतिहास में एक बिल्कुल नयी चीज़ थी। लेकिन, भारत के अतीत का राजनीतिक स्वरूप चाहे कितना ही अधिक बदलता हुआ दिखलायी देता हो, प्राचीन से प्राचीन काल से लेकर १९ वी शताब्दी के पहले दशक तक उसकी सामाजिक स्थिति अपरिवर्तित ही बनी रही है। नियमित रूप से असख्य कातनेवालों और बुनकरों को पैदा करने वाला करघा और चर्खा ही उस समाज के ढांचे की धुरी थे। अनादि काल से योरप भारतीय कारीगरों के हाथ के बनाये हुए बढ़िया कपड़ों को मंगाता था और उनके बदले में अपनी मूल्यवान धातुओं को भेजता था; और, इस प्रकार, वहां के सुनार के लिए वह कच्चा माल जुटा देता था। सुनार भारतीय समाज का एक आवश्यक अंग होता है। बनाव-शृंगार के प्रति भारत का मोह इतना प्रबल है कि उसके निम्नतम वर्ग तक के लोग, वे लोग जो लगभग नंगे बदन घूमते हैं, आम तौर पर कानो मे सोने की एक जोड़ी बालियां और गले में किसी न किसी तरह का सोने का एक जेवर अवश्य पहने रहते हैं। हाथो और पैरों की उंगलियों मे छल्ले पहनने का भी आम रिवाज है। औरतें तथा बच्चे भी अक्सर सोने या चांदी के भारी-भारी कड़े हाथों और पैरो में पहनते है और घरों में सोने या चांदी की देवमूर्तियां पायी जाती हैं। ब्रिटिश आक्रमणकारी ने आकर भारतीय करघे को तोड़ दिया और चर्खे को नष्ट कर डाला। इंगलैंड ने भारतीय कपड़े को योरप के बाजार से खदेड़ना शुरू किया; फिर उसने हिन्दुस्तान में सूत भेजना शुरू किया; और

अन्त मे उसने कपडे की मातृभूमि को ही अपने कपडों से पाट दिया। १८१८ और १८३६ के बीच ग्रेट ब्रिटेन से भारत आनेवाले सूत का परिमाण ५,२०० गुना बढ गया। १८२४ में मुश्किल से १० लाख गज अंग्रेजी मलमल भारत आती थी, किन्तु १८३७ में उसकी मात्रा ६ करोड ४० लाख गज से भी अधिक पहुच गयी। किन्तु, इसी के साथ-साथ, ढाका की आबादी १,५०,००० से घटकर २०,००० ही रह गयी। भारत के जो शहर अपने कपडो के लिए प्रसिद्ध थे, उनका इस तरह अवनत हो जाना ही इसका सबसे भयानक परिणाम नहीं था। अंग्रेजी भाप और विज्ञान ने सारे हिन्दुस्तान में खेती और उद्योग की एकता को नष्ट कर दिया।

पूर्व की सभी कौमों की तरह, हिन्दू (हिन्दुस्तानी—अनु.) एक ओर तो अपने महान सार्वजनिक निर्माण कार्यो को, जो उनकी खेती और व्यापार के मुख्य आधार थे, केन्द्रीय सरकार के हाथों में छोडे रहते थे; दूसरी तरफ, सारे देश में, वे उन छोटे-छोटे केन्द्रों में बिखरे रहते थे जिन्हें खेती और उद्योग-धंधो की घरेलू एकता ने कायम कर रखा था। इन दो परिस्थितियों ने एक विशेष प्रकार की सामाजिक व्यवस्था को, उस तथाकथित **ग्रामीण व्यवस्था** को जन्म दिया था जो अनादि काल से चली आ रही है। इस व्यवस्था ने इनमें से प्रत्येक छोटे संघ (केन्द्र) को एक स्वतंत्र संगठन और खास तरह का जीवन प्रदान कर रखा था। इस व्यवस्था का अनोखा रूप कैसा था इसे नीचे दिये गये वर्णन से जाना जा सकता है। यह वर्णन भारत के मामलो पर ब्रिटेन की कामन्स सभा की एक पुरानी सरकारी रिपोर्ट से लिया गया है :

"भौगोलिक दृष्टि से, गांव देहात का एक ऐसा हिस्सा होता है जिसमें कुछ सौ या हजार एकड़ उपजाऊ और ऊसर जमीन होती हैं; राजनीतिक दृष्टि से, वह एक शहर या कस्बे के समान होता है। ठीक से व्यवस्थित होने पर उसमे निम्न प्रकार के अफसर और कर्मचारी होते है : **पटेल**, अर्थात मुखिया, जो आम तौर पर गाव के मामलों की देखभाल करता है, उसके निवासियों के आपसी झगडो का निपटारा करता है, पुलिस की देख-रेख करता है, और अपने गाव के अन्दर मालगुजारी वसूल करने का काम करता है। यह काम ऐसा है जिसके लिए उसका व्यक्तिगत प्रभाव और परिस्थितियों तथा लोगो की समस्याओ के सम्बंध मे उसकी सूक्ष्म जानकारी उसे खास तौर से सबसे अधिक उपयुक्त व्यक्ति बना देती है। **कर्नम** (पटवारी) खेती का हिसाब-किताब रखता है और उससे सम्बधित हर चीज को अपने कागजो मे दर्ज करता है। **तालियर** (चौकीदार) और **तोती** (दूसरी तरह का चौकीदार)—इनमे से तालियर का काम अपराधो और जुर्मों का पता लगाना तथा एक गाव से दूसरे गांव जानेवाले यात्रियो को

वहां तक पहुंचाना और उनकी रक्षा करना होता है; तोती का काम गाव के अन्दरूनी मामलो से अधिक जुड़ा हुआ मालूम होता है, अन्य कामो के साथ-साथ वह फसलों की चौकीदारी करता है और उन्हे मापने में मदद देता है। सीमा-कर्मचारी, जो गांव की सीमाओं की रक्षा करता है, अथवा कोई विवाद उठने पर उसके सम्बध मे गवाही देता है। तालाबो और सोतों का सुपरिन्टेंडेन्ट खेती के लिए पानी बांटता है। ब्राह्मण, जो गांव की ओर से पूजा करता है। स्कूल मास्टर जो रेत के ऊपर गांव के बच्चों को पढना और लिखना सिखाता हुआ दिखलायी देता है। पत्रेवाला ब्राह्मण, अथवा ज्योतिषी आदि भी होता है। ये अधिकारी और कर्मचारी ही आम तौर से गाव का प्रबंध करते हैं। किन्तु देश के कुछ भागों मे इस प्रबंध-व्यवस्था का विस्तार इतना नही होता; ऊपर बताये गये कर्तव्यों और कार्यों में से कुछ एक ही व्यक्ति को करने पड़ते हैं। दूसरे भागों में इन अधिकारियों और कर्मचारियों की तादाद ऊपर गिनाये गये व्यक्तियों से भी अधिक होती है। इसी सरल म्युनिसिपल शासन के अन्तर्गत इस देश के निवासी न जानें कब से रहते आये हैं। गावों की सीमाएं शायद ही कभी बदली गयी हों; और यद्यपि गाव स्वयं कभी-कभी युद्ध, अकाल अथवा महामारी से तबाह और बर्बाद तक हो गये हैं, किन्तु उनके वही नाम, वही सीमाएं, वही हित, और यहा तक की वही परिवार युगों-युगों तक कायम रहे हैं। राज्यों के टूटने और छिन्न-विच्छिन्न हो जाने के सम्बंध में निवासियों ने कभी कोई चिन्ता नही की। जब तक गांव पूरा का पूरा बना रहता है, वे इस बात की परवाह नहीं करते कि वह किस सत्ता के हाथ में चला जाता है, या उस पर किस बादशाह की हुकूमत कायम होती है। गांव की अन्दरूनी आर्थिक व्यवस्था अपरिवर्तित ही बनी रहती है। पटेल अब भी गाव का मुखिया बना रहता है, और अब भी वही छोटे न्यायाधीश या मजिस्ट्रेट की तरह गांव से मालगुजारी वसूल करने अथवा जमीन को उठाने का काम करता रहता है।"[6]

सामाजिक सगठन के ये छोटे-छोटे एक ही तरह के रूप अब अधिकतर मिट गये है, और मिटते जा रहे है। टैक्स इकट्ठा करने वाले अंग्रेज अफसरों और अंग्रेज सिपाहियों के पाशविक हस्तक्षेप के कारण वे इतने नहीं मिटे है जितने कि अंग्रेजी भाप और अंग्रेजी मुक्त व्यापार की कारगुजारियों के कारण। गांवो में रहने-सहने वाले उन परिवारो का आधार घरेलू उद्योग थे, हाथ से सूत बुनने, हाथ से सूत कातने और हाथ से ही खेती करने के उस अनोखे सयोग से उन्हे आत्म-निर्भरता की शक्ति प्राप्त होती थी। अंग्रेजो के हस्तक्षेप ने सूत कातने वाले को लंकाशायर में और बुनकर को बंगाल में रख कर, या हिन्दुस्तानी सूत

कातने वाले और बुनकर दोनों का सफाया करके -- उनके आर्थिक आधार को नष्ट करके -- इन छोटी-छोटी अर्द्ध बर्बर, अर्द्ध सभ्य बस्तियों को छिन्न-विछिन्न कर दिया है और इस तरह उसने एशिया की महानतम्, और सच कहा जाय तो एकमात्र सामाजिक क्रान्ति कर डाली है।

यह ठीक है कि उन असख्य उद्योगशील पितृ-सत्तात्मक और निरीह सामाजिक सगठनों का इस तरह टूटना और टुकड़ों-टुकड़ों में बिखर जाना -- विपत्तियों के सागर मे पड़ जाना, और साथ ही साथ उनके व्यक्तिगत सदस्यों द्वारा अपनी प्राचीन सभ्यता तथा जीविका कमाने के पुश्तैनी साधनों को खो बैठना -- निस्सन्देह ऐसी चीजें हैं जिनसे मानव-भावना अवसाद में डूब जाती है; किन्तु, हमें यह न भूलना चाहिए कि, ये काव्यमय ग्रामीण बस्तिया ही, ऊपर से वे चाहे कितनी ही निर्दोष दिखलायी देती हों, पूर्व की निरंकुशशाही का सदा ठोस आधार रही है, कि मनुष्य के मस्तिष्क को उन्होने संकुचित से सकुचित सामाओं में बाधे रखा है जिससे वह अंध-विश्वासों का असहाय साधन बन गया है, परम्परागत चली आयी रूढियो का गुलाम बन गया है और उसकी समस्त गरिमा तथा ऐतिहासिक ओज उससे छिन गया है। उस बर्बर अहमन्यता को हमें नही भूलना चाहिए जो, अपना सारा ध्यान जमीन के किसी छोटे से टुकड़े पर लगाये हुए, साम्राज्यों को टूटते-मिटते, अवर्णनीय अत्याचारों को होते, बडे-बडे शहरों की जनसख्या का कत्लेआम होते चुपचाप देखती रही। इन चीजों की तरफ देखकर उसने ऐसे मुह फिरा लिया है जैसे कि वे कोई प्राकृतिक घटनाएं हो। वह स्वयं भी हर उस आक्रमणकारी का असहाय शिकार बनती रही है जिसने उसकी तरफ किंचित भी दृष्टिपात करने की परवाह की है। हमें यह नही भूलना चाहिए कि दूसरी तरफ, इसी प्रतिष्ठा-हीन, गतिहीन और सर्वथा जड जीवन ने, इस तरह के निष्क्रिय अस्तित्व ने, अपने से बिल्कुल भिन्न, विनाश की अनियंत्रित, उद्देश्यहीन, असीमित शक्तियों को भी जगा दिया था, और मनुष्य-हत्या तक को हिन्दुस्तान की एक धार्मिक प्रथा बना दिया था। हमे यह नही भूलना चाहिए कि इन छोटी-छोटी बस्तियो को जात-पात के भेद-भावों और दासता की प्रथा ने दूषित कर रखा है, कि मनुष्य को परिस्थितियों का सर्वसत्ताशाली स्वामी बनाने के बजाय उन्होने उसे बाह्य परिस्थितियो का दास बना दिया है, कि अपने-आप विकसित होने वाली एक सामाजिक सत्ता को उसने एक कभी न बदलने वाला स्वाभाविक प्रारब्ध का रूप दे दिया है और, इस प्रकार उसने एक ऐसी प्रकृति-पूजा को प्रतिष्ठित कर दिया है जिसमें मनुष्य अपनी मनुष्यता खोता जा रहा है। इस मनुष्य का अधोपतन इस बात से भी स्पष्ट हो रहा था कि प्रकृति का सर्व-सत्ताशाली स्वामी -- मनुष्य घुटने टेककर बानर हनुमान और गऊ शबला की पूजा करने लगा था।

यह सच है कि हिन्दुस्तान में इंगलैंड ने निकृष्टतम उद्देश्यों से प्रेरित होकर सामाजिक क्रान्ति की थी और अपने उद्देश्यों को साधने का उसका तरीका भी बहुत मूर्खता-पूर्ण था। किन्तु सवाल यह नहीं है। सवाल यह है कि क्या एशिया की सामाजिक अवस्था में एक बुनियादी क्रान्ति के बिना मानव-जाति अपने लक्ष्य तक पहुंच सकती है? यदि नहीं, तो मानना पड़ेगा कि इंगलैंड के चाहे जो गुनाह रहे हों, उस क्रान्ति को लाने में वह इतिहास का एक अचेतन साधन था।

तब फिर, एक प्राचीन संसार के धराशायी होने का दृश्य हमारी व्यक्तिगत भावनाओं के लिए चाहे कितना ही कटुता-पूर्ण क्यों न हो, ऐतिहासिक दृष्टि से, गेटे के शब्दों में, हमें यह कहने का अधिकार है कि :

"Sollte diese Qual uns quälen,
Da sie unsre Lust vermehrt,
Hat nicht Myriaden Seelen
*Timurs Herrschaft aufgezehrt?"**

कार्ल मार्क्स द्वारा १० जून, १८५३ को लिखा गया।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

२५ जून, १८५३ के "न्यूयौर्क डेली ट्रिब्यून," संख्या ३८०४, में प्रकाशित हुआ।

हस्ताक्षर : कार्ल मार्क्स

* क्या उस यातना से हमें दुखी होना चाहिए
जो हमारे लिए एक महत्तर सुख का निर्माण करती है?
क्या तैमूर का शासन
अनगिनत आत्माओं को खा नहीं गया था?
—गेटे के Westostilich er Diwan, "An Suleika" से।

—सम्पादक।

कार्ल मार्क्स

ईस्ट इंडिया कम्पनी—उसका इतिहास तथा परिणाम

लंदन, शुक्रवार, २४ जून, १८५३

लॉर्ड स्टैनली के इस प्रस्ताव पर कि भारत के लिए कानून बनाने की बात को स्थगित कर दिया जाय, शाम तक के लिए बहस टाल दी गयी है। १७८३ के बाद से पहली बार भारतीय प्रश्न इंगलैंड में मंत्रि-मंडल के जीवन-मरण का प्रश्न बन गया है। ऐसा क्यों हुआ ?

ईस्ट इंडिया कम्पनी की वास्तविक शुरुआत को १७०२ के उस वर्ष से पीछे के किसी और युग में नहीं माना जा सकता जिसमें पूर्वी भारत के व्यापार के इजारे का दावा करने वाले विभिन्न संघों ने मिलकर अपनी एक कम्पनी बना ली थी। उस समय तक असली ईस्ट इंडिया कम्पनी का अस्तित्व तक बार-बार संकट में पड़ जाता था। एक बार, क्रोमवेल के संरक्षण काल में, वर्षों के लिए उसे स्थगित कर दिया गया था; और, एक बार, विलियम तृतीय के शासन-काल में, पार्लियामेंट के हस्तक्षेप के द्वारा उसके बिल्कुल ही खतम कर दिये जाने का खतरा पैदा हो गया था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के अस्तित्व को पार्लियामेंट ने उस डच राजकुमार के उत्थान काल में तब स्वीकार किया था जब ह्विग लोग ब्रिटिश साम्राज्य की आमदनियों के अहलकार बन गये थे, बैंक ऑफ इंगलैंड का जन्म हो चुका था, इंगलैंड में संरक्षण की व्यवस्था दृढ़ता से स्थापित हो गयी थी और योरप में शक्ति का संतुलन निश्चित रूप से निर्धारित हो गया था। ऊपर से दिखने वाली स्वतंत्रता का यह युग वास्तव में इजारेदारियों का युग था। एलिजाबेथ और चार्ल्स प्रथम के कालों की तरह, इन इजारेदारियों की सृष्टि शाही स्वीकृतियों के द्वारा नहीं हुई थी, बल्कि उन्हें पार्लियामेंट ने अधिकार प्रदान किया था और उनका राष्ट्रीकरण किया था। इंगलैंड के इतिहास का यह युग वास्तव में फ्रांस के लुई फिलिप के युग से अत्यधिक मिलता-जुलता है—पुराना भूस्वामियों का अभिजात वर्ग पराजित

हो गया है और पूंजीपति वर्ग रुपयाशाही, अथवा "वित्तीय प्रभुता" का झंडा उठाये बिना और किसी तरह से उसका स्थान लेने में असमर्थ है। ईस्ट इंडिया कम्पनी आम लोगों को भारत के साथ व्यापार करने से वंचित रखती थी, उसी तरह जिस तरह कि कॉमन्स सभा पालियामेंट में प्रतिनिधित्व पाने से उन्हें वंचित रखती थी। इस तथा दूसरे उदाहरणों से हम देखते है कि सामंती अभिजात वर्ग के ऊपर पूंजीपति वर्ग की प्रथम निर्णायक विजय के साथ ही साथ जनता के विरुद्ध जबर्दस्त आक्रमण भी शुरू हो जाता है। इस चीज की वजह से कोबेट जैसे एक से अधिक जन-प्रेमी लेखक जनता की आजादी के लिए भविष्य की ओर देखने के बजाय अतीत की ओर निगाह डालने के लिए बाध्य हो गये हैं।

वैधानिक राजतंत्र और इजारेदार पैसे वाले वर्ग के बीच, ईस्ट इंडिया की कम्पनी तथा १६८८ की "गौरवशाली" क्रान्ति[१] के बीच एकता उसी शक्ति ने कायम की थी जिसके कारण तमाम कालो और तमाम देशो में उदारपंथी वर्ग तथा उदार राजवंश मिले तथा एकताबद्ध हुए है। यह शक्ति भ्रष्टाचार की शक्ति है जो वैधानिक राजतंत्र को चलाने वाली प्रथम और अन्तिम शक्ति है। विलियम तृतीय की यही रक्षक देवता थी और यही लुई फिलिप का जानलेवा दैत्य था। पालियामेंटरी जांचो से यह बात १६९३ मे ही सामने आ गयी थी कि सत्ताशाली व्यक्तियों को दी जाने वाली "भेंटो" की मद मे होने वाला ईस्ट इंडिया कम्पनी का सालाना खर्च, जो क्रान्ति से पहले शायद ही कभी १,२०० पौंड से अधिक हुआ था, अब ९०,००० पौंड प्रति-वर्ष तक पहुच गया था। लीड्स के ड्यूक पर इस बात के लिए मुकदमा चलाया गया था कि उसने ५,००० पौंड की रिश्वत ली थी, और स्वयं धर्मात्मास्वरूप राजा को १०,००० पौंड लेने का अपराधी घोषित किया गया था। इन सीधी रिश्वतों के अलावा, विरोधी कम्पनियों को हराने के लिए सरकार को सूद की नीची मे नीची दर पर विशाल रकमो के ऋण देने का लालच दिया जाता था और विरोधी डायरेक्टरो को खरीद लिया जाता था।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने सरकार को रिश्वत देकर सत्ता हासिल की थी। उसे कायम रखने के लिए वह फिर रिश्वत देने के लिए मजबूर थी। बैंक ऑफ इंगलैंड ने भी इसी प्रकार सत्ता प्राप्त की थी और अपने को बनायें रखने के लिए वह फिर रिश्वत देने के लिए बाध्य थी। हर बार जब कम्पनी की इजारेदारी खतम होने लगती थी तब वह सरकार को नये कर्जे और नयी भेंटे देकर ही अपनी सनद को फिर से बढ़वा पाती थी।

सात-वर्षीय युद्ध[*] ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को व्यावसायिक शक्ति से बदल कर एक सैनिक और प्रदेशीय शक्ति बना दिया था। पूर्व मे वर्तमान

ब्रिटिश साम्राज्य की नींव उसी वक्त पड़ी थी। ईस्ट इंडिया के हिस्सों की कीमत बढ़ कर तब २६३ पौंड हो गयी और डिवीडेंड (हिस्सों पर मुनाफे) १२½ प्रतिशत की दर से दिये जाने लगे। परन्तु तभी कम्पनी का एक नया दुश्मन पैदा हो गया। इस बार वह प्रतिद्वन्दी संघों के रूप में नही, बल्कि प्रतिद्वन्दी मंत्रियों और एक प्रतिद्वन्द्वी प्रजा के रूप में पैदा हुआ था। कहा जाने लगा कि कम्पनी के राज्य को ब्रिटिश जहाजी बेड़ों तथा ब्रिटिश फौजों की मदद से जीतकर कायम किया गया है और ब्रिटिश प्रजा के किन्हीं भी व्यक्तियों को इस बात का अधिकार नहीं है कि वे ताज (बादशाह) से अलग कोई स्वतंत्र राज्य रख सकें। पिछली जीतों के द्वारा जिन "आश्चर्यजनक खज़ानों" को हासिल किया गया था उनमें उस समय के मंत्री और उस समय के लोग भी अपने हिस्से का दावा करने लगे। कम्पनी अपने अस्तित्व को १७६७ में यह समझौता करके ही बचा सकी कि राष्ट्रीय कोष मे प्रति वर्ष वह ४,००,००० पौंड दिया करेगी।

परन्तु, इस समझौते को पूरा करने के बजाय ईस्ट इंडिया कम्पनी स्वयं आर्थिक कठिनाइयों मे फंस गयी और अंग्रेजी प्रजा को नजराना देने की जगह, आर्थिक सहायता के लिए पालियामेंट को उसने अर्जी दी। इस कदम का फल यह हुआ कि कम्पनी की सनद में गम्भीर परिवर्तन कर दिये गये। लेकिन नयी शर्तों के बावजूद कम्पनी के मामलों मे सुधार न हुआ, और, लगभग इसी समय, अंग्रेजी राष्ट्र के उत्तरी अमरीका वाले उपनिवेशों के हाथ से निकल जाने के कारण, अन्य किसी स्थान पर किसी विशाल औपनिवेशिक साम्राज्य को हासिल करने की आवश्यकता को सब लोगों द्वारा अधिकाधिक महसूस किया जाने लगा। १७८३ मे नामी मि. फॉक्स ने सोचा कि अपने प्रसिद्ध भारतीय बिल को पालियामेंट मे ले आने का अब उपयुक्त अवसर आ गया है। इस बिल मे प्रस्ताव किया गया था कि डायरेक्टरों और मालिकों के कोर्टों (संचालक समितियों) को खतम कर दिया जाय और सम्पूर्ण भारतीय सरकार की जिम्मेदारी पालियामेंट द्वारा नियुक्त किये गये सात कमिश्नरों के हाथों मे सौंप दी जाय। लार्ड्स सभा के ऊपर उस समय के दुर्बल राजा* के निजी प्रभाव के कारण मि. फॉक्स का बिल गिर गया; और उसी को आधार बनाकर फॉक्स और लार्ड नौर्थ की तत्कालीन मिली-जुली सरकार को भंग कर दिया गया तथा प्रसिद्ध पिट को सरकार का मुखिया बना दिया गया। पिट ने १७८४ में दोनो सदनों से एक बिल पास कराया जिसमे आदेश दिया गया था कि प्रिवी कौंसिल के ६ सदस्यो का एक नियंत्रण बोर्ड स्थापित किया जाय जिसका काम होगा:

* जार्ज तृतीय।

"ईस्ट इंडिया कम्पनी की अमलदारियो और मिल्कियतों के नागरिक और फौजी शासन, अथवा आमदनियों से किसी भी प्रकार से सम्बंधित उसके तमाम कार्यों, कार्रवाइयों तथा मामलों पर नजर रखना, उनकी देख-भाल करना और उन पर नियंत्रण रखना।"

इस विषय में इतिहासकार मिल कहते हैं :

"उक्त कानून को पास करते समय दो उद्देश्य सामने रखे गये थे। उस अभियोग से बचने के लिए जिसे मि. फॉक्स के बिल का घृणित लक्ष्य बताया गया था आवश्यक था कि ऊपर से ऐसा लगे कि सत्ता का मुख्यांश डायरेक्टरों के ही हाथ में है। किन्तु, मंत्रियों के लाभ के लिए आवश्यक था कि वास्तव में सारी सत्ता डायरेक्टरों के हाथ से छीन ली जाय। अपने प्रतिद्वंदी के बिल से मिस्टर पिट का बिल अपने को मुख्यतया इसी बात मे भिन्न बताता था कि जहां उसमें डायरेक्टरो की सत्ता को खतम कर दिया गया था, इसमें उसे लगभग पूरा का पूरा बनाये रखा गया था। मि. फॉक्स के कानून के अन्तर्गत ऐलानिया तौर से मंत्रियों की सत्ता कायम हो जाती। मि. पिट के कानून के मातहत उसे छिपाकर और छल-कपट से हाथ मे ले लिया गया था। फॉक्स का बिल कम्पनी की सत्ता को पार्लियामेंट के द्वारा नियुक्त किये गये कमिश्नरों के हाथ में सौप देता। मि. पिट के बिल ने उसे राजा द्वारा नियुक्त कमिश्नरो के हाथ में सौप दिया।"[११]

इस प्रकार १७८३-८४ के वर्ष ही प्रथम, और अब तक एकमात्र, ऐसे वर्ष रहे है जिनमें भारत का सवाल मन्त्रि-मंडल का अस्तित्व का सवाल बन गया है। मि. पिट के बिल के पास हो जाने के बाद ईस्ट इडिया कम्पनी की सनद को फिर जारी कर दिया गया और भारतीय सवाल को २० साल तक के लिए खतम कर दिया गया। किन्तु, १८१३ में शुरू हुए जैकोबिन-विरोधी[१२] युद्ध तथा १८३२ में नये-नये पेश किये जाने वाले सुधार बिल[१३] ने अन्य तमाम राजनीतिक प्रश्न को गौण बना दिया।

तब फिर, १७८४ से पहले और उसके बाद से भारत का सवाल एक बड़ा राजनीतिक सवाल क्यों नही बन सका, इसका प्रथम कारण यही है कि उससे पहले आवश्यक था कि ईस्ट इंडिया कम्पनी अपने अस्तित्व और महत्व को हासिल करे। इसके हो जाने के बाद कम्पनी की उस तमाम सत्ता को, जिसे जिम्मेदारी अपने ऊपर लिए बिना वह अपने हाथों में ले सकता था, शासक गुट ने अपने पास समेट लिया था। और, इसके बाद, सनद के फिर जारी किये जाने के जब अवसर आये, १८१३ और १८३३ में, तब आम अंग्रेज लोग सर्वाधिक हित के दूसरे सवालों मे बुरी तरह उलझे हुए थे।

अब हम एक दूसरे पहलू से विचार करेंगे। ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपने

काम की शुरुआत केवल इस बात की कोशिश से की थी कि अपने एजेंटों के लिए फैक्टरियां तथा अपने मालो को रखने के लिए जगहों की वह स्थापना करे। इनकी हिफाज़त के लिए कम्पनी वालों ने कई किले बना लिये। भारत में राज्य कायम करने और जमीन की मालगुजारी को अपनी आमदनी का एक जरिया बनाने की बात की कल्पना ईस्ट इंडिया कम्पनी के लोगों ने यद्यपि बहुत पहले, १६८९ में ही, की थी; किन्तु १७४४ तक, बम्बई, मद्रास और कलकत्ते के आसपास केवल कुछ महत्व-हीन जिले ही वे हासिल कर पाये थे। इसके बाद कर्नाटक में जो युद्ध छिड गया था, उसके परिणामस्वरूप, विभिन्न लड़ाइयों के बाद, भारत के उस भाग के भी वे लगभग एकछत्र स्वामी बन गये थे। बंगाल के युद्ध तथा क्लाइव की जीतों से उन्हें और भी अधिक लाभ हुए। बंगाल, बिहार और उड़ीसा पर उनका वास्तविक कब्जा हो गया। १८ वीं शताब्दी के अन्त मे और वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में टीपू साहिब के साथ होने वाले युद्ध आये। इनके परिणामस्वरूप सत्ता तथा नायबी की व्यवस्था" का बहुत व्यापक विस्तार हुआ। १९वीं शताब्दी के दूसरे दशक में सीमान्त के प्रथम सुविधा-जनक प्रदेश को, रेगिस्तान के अन्दर भारत के सीमान्त को आखिरकार जीत लिया गया। इससे पहले पूर्व में एशिया के उन भागों तक ब्रिटिश साम्राज्य नहीं पहुंचा था जो तमाम कालों में भारत की प्रत्येक महान केन्द्रीय सत्ता की राजधानी रहे थे। परन्तु साम्राज्य के सबसे भेद्य स्थल के, उस स्थल के जहां से उसके ऊपर उतनी ही बार हमले हुए थे जितनी बार पुराने विजेताओं को नये विजेताओं ने निकाल बाहर किया था, यानी देश की पश्चिमी सरहद के नाके अंग्रेजों के हाथों में नहीं थे। १८३८ से १८४९ के काल में, सिख और अफगान युद्धो के द्वारा, पंजाब और सिंध" पर जबर्दस्ती कब्जा करके, ब्रिटिश शासन ने पूर्वी भारत के महाद्वीप की जातीय, राजनीतिक, तथा सैनिक सरहदों को भी निश्चित रूप से अपने अधीन कर लिया। मध्य एशिया से आने वाली किसी भी ताकत को खदेड़ने के लिए तथा फारस (ईरान) की सरहदों की ओर बढ़ते हुए रूस को रोकने के लिए ये अधिकार नितान्त आवश्यक थे। इस पिछले दशक के दौरान में ब्रिटेन के भारतीय प्रदेश में १,६७,००० वर्ग-मील का रकबा, जिसमें ८१,७२,६३० लोग रहते हैं, और जुड गया है। जहां तक देश के अन्दर की बात है, तो तमाम देशी रियासतें अब ब्रिटिश अमलदारियों से घिर गयी हैं; किसी न किसी रूप में वे ब्रिटेन की सत्ता के मातहत हो गयी हैं; और, केवल गुजरात और सिंध को छोड़कर वे समुद्र तट से काट दी गयी हैं। जहां तक बाहर का सवाल है, भारत अब खतम हो गया है। १८४९ के बाद से केवल एक महान एंग्लो-इंडियन साम्राज्य का अस्तित्व ही वहां रह गया है।

इस भांति, कम्पनी के नाम के नीचे ब्रिटिश सरकार दो शताब्दियों से तब तक लड़ती आयी है जब तक कि आखिरकार भारत की प्राकृतिक सरहदें खतम नहीं हो गयीं। अब हम समझ सकते हैं कि इस पूरे काल में इंगलैंड की तमाम पार्टियां खामोशी से नजर नीची किये क्यों बैठी रही हैं — वे भी जिन्होंने संकल्प कर रखा था कि भारतीय साम्राज्य की स्थापना का कार्य पूरा हो जाने के बाद कपटी शांति की बनावटी बातें बनाकर वे खूब हल्ला मचायेंगी। अपनी उदार परोपकारिता दिखलाने के लिए आवश्यक था कि पहले वे उसे किसी तरह हथिया तो लें! इस नजरिये से देखने पर हम समझ सकते है कि इस वर्ष, १८५३ में, सनद के दोबारा जारी किये जाने के पुराने तमाम जमानों की तुलना में, भारतीय सवाल की स्थिति क्यों बदल गयी है।

फिर, हम एक और पहलू पर विचार करें। भारत के साथ ब्रिटेन के व्यापारिक सम्बंधों के विकास की विभिन्न मंजिलों के सिंहावलोकन से उससे सम्बंधित कानून के अनोखे संकट को हम और भी अच्छी तरह समझ सकेंगे।

एलिजाबेथ के शासन-काल में, ईस्ट इंडिया कम्पनी की कार्रवाइयों के प्रारम्भ में, भारत के साथ लाभदायक ढंग से व्यापार चलाने के लिए कम्पनी को इस बात की इजाजत दे दी गयी थी कि चांदी, सोने और विदेशी मुद्रा के रूप में ३०,००० पौंड तक के मूल्य की वस्तुओं का वार्षिक निर्यात वह कर ले। यह चीज उस युग के तमाम पूर्वाग्रहों के विरुद्ध जाती थी और इसीलिए टॉमस मुन इस बात के लिए मजबूर हो गया था कि **ईस्ट इंडीज के साथ इंगलैंड के व्यापार का एक विवेचन**" देकर वह "व्यापारिक व्यवस्था" के आधारों को निर्धारित कर दे। इसमें उसने स्वीकार किया था कि बहुमूल्य धातुएं ही किसी देश की सच्ची सम्पदा होती हैं; परन्तु, इसके बावजूद, साथ ही साथ उसने कहा था कि बिना किसी नुकसान के उनका निर्यात होने दिया जा सकता है बशर्ते कि बाकी अदायगी निर्यात करने वाले राष्ट्र के अनुकूल हो। इस दृष्टि से, उसका कहना था कि ईस्ट इंडिया से जो माल आयात किये जाते थे, उन्हें मुख्यतया दूसरे देशों को फिर से निर्यात कर दिया जाता था जिससे भारत में उनका मूल्य चुकाने के लिए जितने सोने की जरूरत पड़ती थी उससे कहीं अधिक सोना प्राप्त हो जाता था। इसी भावना के अनुरूप सर जोशिया चाइल्ड ने भी एक पुस्तक लिखी जिसमें सिद्ध किया गया है कि **ईस्ट इंडिया के साथ किया जाने वाला व्यापार तमाम विदेशी व्यापारों में सबसे अधिक राष्ट्रीय है।**" धीरे-धीरे ईस्ट इंडिया कम्पनी के समर्थक अधिक उद्धत होते गये और, भारत के इस विचित्र इतिहास के दौरान में, एक अचम्भे के रूप में देखा जा सकता है कि इंगलैंड में सबसे पहले मुक्त व्यापार के जो उपदेशक थे, वही अब भारतीय व्यापार के इजारेदार बन गये थे।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम तथा अठारहवीं शताब्दी के अधिकांश भाग में, जिस समय यह कहा जा रहा था कि ईस्ट इंडिया से मंगाये जाने वाले सूती और सिल्क के सामानों के कारण ब्रिटेन के गरीब कारखानेदार तबाह हुए जा रहे हैं, उसी समय ईस्ट इंडिया कम्पनी के सम्बंध में पार्लियामेंट से हस्तक्षेप करने की फिर मांग की जा रही थी। और यह मांग की जा रही थी व्यापारी वर्ग की ओर से नहीं, बल्कि स्वयं औद्योगिक वर्ग की ओर से। जॉन पोलेक्सफेन की रचना, **इंगलैंड और ईस्ट इंडिया अपने विनिर्माण में असंगत**, लंदन, १६९७,[८] में यही राय दी गयी थी। इस रचना का शीर्षक डेढ़ शताब्दी बाद विचित्र रूप से सही सिद्ध हुआ था—किन्तु एक बिल्कुल ही दूसरे अर्थ में। इसके बाद पार्लियामेंट ने जरूर हस्तक्षेप किया। विलियम तृतीय के शासन काल में १०वें अध्याय के ग्यारहवें और बारहवें कानूनों द्वारा यह तय कर दिया गया कि हिन्दुस्तान, ईरान और चीन की कृत्रिम शिल्कों तथा छपी या रंगी छीटों के पहनने पर रोक लगा दी जाय और उन तमाम लोगों पर जो इन चीजों को रखते या बेचते हैं, २०० पौंड का जुर्माना किया जाय। बाद में इतने "ज्ञानी" बनने वाले ब्रिटिश कारखानेदारों के बार-बार रोने-धोने के परिणामस्वरूप इसी तरह के कानून जॉर्ज प्रथम, द्वितीय और तृतीय के शासन काल में भी बना दिये गये थे और, इस भांति, अठारहवीं शताब्दी के अधिकांश भाग में, भारत का बना माल इंगलैंड में आम तौर से इसलिए मंगाया जाता था कि उसे योरुप में बेचा जा सके। पर इंगलैंड के बाजार से उसे दूर ही रखा जाता था।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के मामलों में इस पार्लियामेंटरी दखलन्दाजी के अलावा —जो देश के लालची कारखानेदारों ने करवायी थी—उसकी सनद के दोबारा जारी किये जाने के हर अवसर पर लंदन, लिवरपूल तथा ब्रिस्टल के व्यापारियों द्वारा यह कोशिश भी की जाती थी कि कम्पनी की व्यापारिक इजारेदारी को खतम कर दिया जाय तथा उस व्यापार में, जिसमें सोना बरसता दिखाई देता था, हिस्सा बंटा लिया जाय। इन कोशिशों के फलस्वरूप, १७७३ के उस कानून में, जिसके द्वारा कम्पनी की सनद को १ मार्च १८१४ तक के लिए फिर बढ़ा दिया गया था, एक धारा ऐसी भी जोड़ दी गयी थी जिसके अन्तर्गत ब्रिटेन के गैर-सरकारी लोगों को इंगलैंड से लगभग सभी प्रकार के मालों का *निर्यात करने और कम्पनी के भारतीय नौकरों को इंगलैंड से उनका निर्यात* करने की अनुमति मिल गयी थी। परन्तु इस छूट को देने के साथ-साथ, निजी व्यापार करने वाले व्यापारियों द्वारा ब्रिटिश भारत में माल भेजे जाने के सम्बंध में ऐसी शर्तें लगा दी गयी थीं जिनसे कि इस छूट से होने वाले फायदे एकदम खतम हो जाते थे। १८१३ में कम्पनी आम व्यापारियों के दबाव का

और अधिक सामना कर सकने में असमर्थ हो गयी; और चीनी व्यापार की इजारेदारी तो बनी रही, परन्तु भारत के साथ व्यापार करने की छूट कुछ शर्तों के साथ निजी व्यापारियों को मिल गयी। १८३३ में जब फिर सनद जारी की जाने लगी तो ये अन्तिम प्रतिबंध भी आखिरकार खतम कर दिये गये, कम्पनी को किसी भी तरह का व्यापार करने से रोक दिया गया, उसके व्यापारिक रूप का अन्त कर दिया गया, और भारतीय प्रदेश से ब्रिटिश प्रजाजनों को दूर रखने के उसके विशेषाधिकार को उससे छीन लिया गया।

इसी बीच ईस्ट इंडिया के साथ होने वाले व्यापार में अत्यन्त क्रांतिकारी परिवर्तन हो गये थे जिनसे कि इंगलैंड के विभिन्न वर्गों की स्थिति उसके सम्बंध में एकदम बदल गयी थी। पूरी अठारहवीं शताब्दी के दौर में जो विशाल धनराशि भर कर भारत से इंगलैंड लायी गयी थी, उसका बहुत ही थोड़ा भाग व्यापार के द्वारा प्राप्त हुआ था, क्योंकि तब व्यापार अपेक्षाकृत महत्वहीन था। उसका अधिकतर भाग उस देश के प्रत्यक्ष शोषण के द्वारा तथा उन विशाल व्यक्तिगत सम्पत्तियों के रूप में हासिल हुआ था जिन्हें जोर-जबर्दस्ती से इकट्ठा करके इंगलैंड भेज दिया गया था। १८१३ में व्यापार का मार्ग खुल जाने के बाद बहुत ही थोड़े समय के अन्दर भारत के साथ होने वाला व्यवसाय तीन गुने से भी अधिक बढ़ गया। परन्तु बात इतनी ही नहीं थी। व्यापार का पूरा चरित्र ही बदल गया था। १८१३ तक भारत मुख्यतया निर्यात करने वाला देश था, पर अब वह आयात करने वाला देश बन गया था। यह परिवर्तन इतनी तेजी से हुआ था कि १८२३ में ही विनिमय की दर, जो आम तौर से २ शिलिंग ६ पेंस फी रुपया थी, गिर कर २ शिलिंग फी रुपया हो गयी। भारत को—जो अनादि काल से सूती कपड़े के उत्पादन के सम्बंध में संसार की महान उद्योगशाला बना हुआ था—अब अंग्रेजी सूत और सूती कपड़ों से पाट दिया गया। उसके अपने उत्पादन के इंगलैंड में प्रवेश पर रोक लगा दी गयी, या अगर उसे वहां आने भी दिया गया तो बहुत ही कठिन शर्तों पर। और इसके बाद, स्वयं उसे थोड़ी-सी और नाममात्र की चुंगी लगाकर ब्रिटेन के बने माल से पाट दिया गया। इसके फलस्वरूप उस देश में उन सूती कपड़ों का बनना, जो कभी इतने प्रसिद्ध थे, खतम हो गया। १७८० में ब्रिटेन के तमाम उत्पादन का मूल्य केवल ३,८६,१५२ पौंड था; उसी साल जो सोना वहां से निर्यात किया गया था उसका मूल्य १५,०४१ पौंड था और १७८० में जो निर्यात हुआ था उसका कुल मूल्य १,२६,४८,६१६ पौंड था। इस तरह भारत के साथ होने वाला व्यापार ब्रिटेन के कुल विदेशी व्यापार के केवल १/३२ के बराबर था। १८५० से [illegible] आयरलैंड से भारत को निर्यात किये जाने वाले कुल [illegible] ०,

पौंड हो गयी थी। इसमें केवल सूती कपड़े की कीमत ५२,२०,००० पौंड थी। इस तरह भारत को भेजा जाने वाला माल उसके कुल निर्यात के ⅛ भाग से अधिक हो गया था और उसके सूती कपड़े के विदेशी व्यापार के ¼ भाग से अधिक। किन्तु, कपडे का उद्योग अब ब्रिटेन की ⅛ आबादी को अपने यहा नौकर रखे था और सम्पूर्ण राष्ट्रीय आय का ₁/₁₂ केवल उसी से प्राप्त होता था। प्रत्येक व्यापारिक संकट के बाद, भारत के साथ होने वाला व्यापार ब्रिटेन के सूती कपड़े के उद्योगपतियो के लिए अधिकाधिक महत्व की वस्तु बनता गया और पूरब का भारतीय महाद्वीप उनका सबसे अच्छा बाजार बन गया। जिस रफ्तार से ग्रेट ब्रिटेन के सम्पूर्ण सामाजिक ढांचे के लिए सूती कपडे का निर्माण बुनियादी महत्व की चीज बन गया था, उसी रफ्तार से ब्रिटेन के सूती कपड़े के उद्योग के लिए पूर्वी भारत भी बुनियादी महत्व की वस्तु बन गया।

उस समय तक उन थैलीशाहों के स्वार्थ, जिन्होंने भारत को उस शासक गुट की जागीर बना लिया था जिसने अपनी फौजों के द्वारा उसको फतह किया था, उन मिल-शाहो के स्वार्थों के साथ-साथ चलते आये थे जिन्होंने उसे अपने कपड़ों से पाट दिया था। लेकिन औद्योगिक स्वार्थ भारत के बाजार के ऊपर जितने ही अधिक निर्भर होते गये, वे उतने ही अधिक इस बात की आवश्यकता अनुभव करते गये कि उसके राष्ट्रीय उद्योग को तबाह कर चुकने के बाद अब उन्हें भारत मे नयी उत्पादक शक्तियों की सृष्टि करनी चाहिए। किसी देश को अपने माल से आप बराबर पाटते नही जा सकते जब तक कि उसे भी आप बदले में कोई उपज देने योग्य न बना दें। औद्योगिक मालिकों को लगा कि उनका व्यापार बढने की जगह घट गया था। १८४६ से पहले के चार वर्षों मे ग्रेट ब्रिटेन से जो माल भारत भेजा गया था, उसका मूल्य २६ करोड़ १० लाख रुपया था; १८५० से पहले के चार वर्षों में केवल २५ करोड़ ३० लाख रुपयों का माल वहा भेजा गया था; और भारत से ब्रिटेन में जो माल आया था उसका मूल्य पहले वाले काल में २७ करोड़ ४० लाख रुपये के बराबर और बाद के काल में २५ करोड़ ४० लाख रुपये के बराबर था। उन्होने देखा कि भारत मे उनके माल की खपत की ताकत निम्नतम स्तर पर पहुंच गयी थी। ब्रिटिश वेस्ट इंडीज में उनके मालों की खपत का मूल्य जनसंख्या के प्रति व्यक्ति पर प्रति वर्ष लगभग १४ शिलिंग था, चिली में ९ शिलिंग ३ पेन्स, ब्राजील में ६ शिलिंग ५ पेन्स, क्यूबा में ६ शिलिंग २ पेन्स, पेरू में ५ शिलिंग ७ पेन्स, मध्य अमरीका में १० पेन्स और भारत में उसका मूल्य मुश्किल से लगभग ९ पेन्स था। उसके बाद अमरीका में कपास की फसल का अकाल आया जिससे १८५० में उन्हें १ करोड़ १० लाख पौंड

का नुकसान हुआ। ईस्ट इंडीज से कच्ची कपास मंगाकर अपनी जरूरत को पूरा करने के बजाय अमरीका पर निर्भर रहने की अपनी नीति से वे ऊब उठे। इसके अलावा, उन्होंने यह भी देखा कि भारत में पूंजी लगाने की उनकी कोशिशों के मार्ग में भारतीय अधिकारी रुकावटें पैदा करते थे तथा छल-कपट से काम लेते थे। इस भांति, भारत एक रण-क्षेत्र बन गया जिसमें एक तरफ औद्योगिक स्वार्थ थे और दूसरी तरफ थैलीशाह तथा शासक गुट के लोग। उद्योगपति, जिन्हें इंगलैंड मे अपनी बढ़ती हुई शक्ति का पूरा एहसास है, अब मांग कर रहे हैं कि भारत की इन विरोधी ताकतों का एकदम खातमा कर दिया जाय, भारतीय सरकार प्राचीन ताने-बाने को पूर्णतया नष्ट कर दिया जाय और ईस्ट इंडिया कम्पनी की अन्तिम क्रिया कर दी जाय।

और अब हम उस चौथे और अन्तिम पहलू को लें जिससे भारतीय सवाल को देखा जाना चाहिए। १७८४ से भारत की वित्तीय व्यवस्था कठिनाई के दलदल में अधिकाधिक गहरे फंसती गयी है। अब वहां ५ करोड़ पौंड का राष्ट्रीय कर्जा हो गया है, आमदनी के साधन लगातार घटते जा रहे है, और खर्चा उसी गति से बढ़ता जा रहा है। अफीम-कर की अनिश्चित आय के द्वारा इस खर्च को संदिग्ध रूप से पूरा करने की कोशिश की जा रही है। पर अब यह अफीम-कर की आमदनी भी खतरे में है, क्योंकि चीनियों ने स्वयं पोस्त (अफीम) की खेती शुरू कर दी है। दूसरी तरफ निरर्थक बर्मी युद्ध[11] मे जो खर्च होगा, उससे यह संकट और भी गहरा हो जायगा।

> मि. डिकिन्सन कहते हैं : "परिस्थिति यह है कि जिस तरह भारत में अपने साम्राज्य को खो देने पर इंगलैंड तबाह हो जायगा, उसी तरह उसे अपने कब्जे में बनाये रखने के लिए वह स्वयं हमारी वित्तीय व्यवस्था को तबाही की ओर लिए जा रहा है।"[12]

इस तरह मैंने दिखला दिया है कि १७८३ के बाद पहली बार भारत का सवाल किस तरह इंगलैंड का और मंत्रि-मंडल का सवाल बन गया है।

कार्ल मार्क्स द्वारा २४ जून, १८५३ को लिखा गया।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

११ जुलाई, १८५३ के "न्यू-यॉर्क डेली ट्रिब्यून", अंक ३८१६, में प्रकाशित हुआ।

हस्ताक्षर : कार्ल मार्क्स

कार्ल मार्क्स

भारत में ब्रिटिश शासन के भावी परिणाम

लंदन, शुक्रवार, २२ जुलाई, १८५३

भारत के सम्बंध मे अपनी टिप्पणियों को इस पत्र मे मैं समाप्त कर देना चाहता हूं।

यह कैसे हुआ कि भारत के ऊपर अंग्रेजों का आधिपत्य कायम हो गया? महान मुगल की सर्वोच्च सत्ता को मुगल सूबेदारों ने तोड दिया था। सूबेदारों की शक्ति को मराठों[1] ने नष्ट कर दिया था। मराठों की ताकत को अफ़गानों ने खतम किया, और जब सब एक-दूसरे से लडने में लगे हुए थे, तब अंग्रेज घुस आये और उन सबको कुचल कर खुद स्वामी बन बैठे। एक देश जो न सिर्फ मुसलमानों और हिन्दुओं में, बल्कि कबीले-कबीले और वर्ण-वर्ण में भी बंटा हुआ हो; एक समाज जिसका ढाचा उसके तमाम सदस्यों के पारस्परिक विरोधों तथा वैधानिक अलगावों के ऊपर आधारित हो — ऐसा देश और ऐसा समाज क्या दूसरों द्वारा फतह किये जाने के लिए ही नही बनाया गया था? भारत के पिछले इतिहास के बारे मे यदि हमें जरा भी जानकारी न हो, तब भी क्या इस जबर्दस्त और निर्विवाद तथ्य से हम इनकार कर सकेंगे कि इस क्षण भी भारत को, भारत के ही खर्च पर पलने वाली एक भारतीय फौज अंग्रेजों का गुलाम बनाये हुए है? अतः, भारत दूसरों द्वारा जीते जाने के दुर्भाग्य से बच नही सकता, और उसका सम्पूर्ण पिछला इतिहास अगर कुछ भी है, तो वह उन लगातार जीतों का इतिहास है जिनका शिकार उसे बनना पड़ा है। भारतीय समाज का कोई इतिहास नही है, कम-से-कम ज्ञात इतिहास तो बिल्कुल ही नही है। जिसे हम उसका इतिहास कहते हैं, वह वास्तव में उन आक्रमणकारियो का इतिहास है जिन्होंने आकर उसके उस समाज के निष्क्रिय आधार पर अपने साम्राज्य कायम किये थे, जो न विरोध करता था, न कभी बदलता था। इसलिए, प्रश्न यह नही है कि अंग्रेजों को भारत जीतने का अधिकार था या नहीं, बल्कि प्रश्न यह है कि क्या अंग्रेजो की जगह तुर्कों, ईरानियो, रूसियो द्वारा भारत का फतह किया जाना हमें ज्यादा पसन्द होता।

भारत में इंगलैंड को दोहरा काम करना है : एक ध्वंसात्मक, दूसरा पुनर्रचनात्मक—पुराने एशियाई समाज को नष्ट करने का काम और एशिया में पश्चिमी समाज के लिए भौतिक आधार तैयार करने का काम।

अरब, तुर्क, तातार, मुगल, जिन्होंने एक के बाद दूसरे भारत पर चढ़ाई की थी, जल्दी ही खुद हिन्दुस्तानी बन गये थे : इतिहास के एक शाश्वत नियम के अनुसार बर्बर विजेता अपनी प्रजा की श्रेष्ठतर सभ्यता द्वारा स्वयं जीत लिये गये थे। अंग्रेज पहले विजेता थे जिनकी सभ्यता श्रेष्ठतर थी, और, इसलिए, हिन्दुस्तानी सभ्यता उन्हें अपने अन्दर न समेट सकी। देशी बस्तियों को उजाड़ कर, देशी उद्योग-धंधों को तबाह कर और देशी समाज के अन्दर जो कुछ भी महान् और उदात्त था उस सबको धूल-धूसरित करके उन्होंने भारतीय सभ्यता को नष्ट कर दिया। भारत में उनके शासन के इतिहास के पन्नों में इस विनाश की कहानी के अतिरिक्त और लगभग कुछ नहीं है। विध्वंस के खंडहरों में पुनर्रचना के कार्य का मुश्किल से ही कोई चिह्न दिखलायी देता है। फिर भी यह कार्य शुरू हो गया है।

पुनर्रचना की पहली शर्त यह थी कि भारत में राजनीतिक एकता स्थापित हो और वह महान् मुगलों के शासन में स्थापित एकता से अधिक मजबूत और अधिक व्यापक हो। इस एकता को ब्रिटिश तलवार ने स्थापित कर दिया है और अब बिजली का तार उसे और मजबूत बनायेगा तथा स्थायित्व प्रदान करेगा। भारत अपनी मुक्ति प्राप्त कर सके और हर विदेशी आक्रमणकारी का शिकार होने से वह बच सके, इसके लिए आवश्यक था कि उसकी अपनी एक देशी सेना हो। अंग्रेज ड्रिल-सार्जेण्ट ने ऐसी ही एक सेना संगठित और शिक्षित करके तैयार कर दी है। एशियाई समाज में पहली बार स्वतंत्र अखबार कायम हो गये हैं। इन्हें मुख्यतया भारतीयों और योरोपियनों की मिली-जुली संतानें चलाती हैं और वे पुनर्निर्माण के एक नये और शक्तिशाली साधन के रूप में काम कर रहे हैं। जमींदारी और रैयतवारी[11] प्रथाओं के रूप में —यद्यपि ये अत्यन्त घृणित प्रथाएं हैं—भूमि पर निजी स्वामित्व के दो अलग रूप कायम हो गये हैं; इससे एशियाई समाज में जिस चीज की (भूमि पर निजी स्वामित्व की प्रथा की—अनु) अत्यधिक आवश्यकता थी, उसकी स्थापना हो गयी है। भारतीयों के अन्दर से, जिन्हें अंग्रेजों की देख-रेख में कलकत्ते में अनिच्छापूर्वक और कम-से-कम संख्या में शिक्षित किया जा रहा है, एक नया वर्ग पैदा हो रहा है जिसे सरकार चलाने के लिए आवश्यक ज्ञान और योरोपीय विज्ञान की जानकारी प्राप्त हो गयी है। भाप ने योरप के साथ भारत का नियमित और तेज सम्बंध कायम कर दिया है, उसने उसके मुख्य बन्दरगाहों को पूरे दक्षिण पूर्वी महासागर के बन्दरगाहों से जोड़ दिया है,

और उसकी उस अलगाव की स्थिति को खतम कर दिया है जो उसके प्रगति न करने का मुख्य कारण थी। वह दिन बहुत दूर नहीं है जब रेलगाड़ियाँ और भाप से चलने वाले समुद्री जहाज इंगलैंड और भारत के बीच के फासले को, समय के माप के अनुसार, केवल आठ दिन का कर देंगे और जब कभी का वह वैभवशाली देश पश्चिमी संसार का सचमुच एक हिस्सा बन जायगा।

ग्रेट-ब्रिटेन के शासक वर्गों की भारत की प्रगति में अभी तक केवल आकस्मिक, क्षणिक और अपवाद रूप में ही दिलचस्पी रही है। अभिजात वर्ग उसे फतह करना चाहता था, थैलीशाहों का वर्ग उसे लूटना चाहता था, और मिलशाहों का वर्ग सस्ते दामों पर अपना माल बेच कर उसे बर्बाद करना चाहता था। किन्तु अब स्थिति एकदम उल्टी हो गयी है। मिलशाहों के वर्ग को पता लग गया है कि भारत को एक उत्पादन करने वाले देश में बदलना उनके अपने हित के लिए अत्यन्त आवश्यक हो गया है, और यह कि, इस काम के लिए, सबसे पहले इस बात की आवश्यकता है कि वहां पर सिंचाई के साधनों और आवाजाही के अन्दरूनी साधनों की व्यवस्था की जाय। अब वे भारत में रेलों का जाल बिछा देना चाहते हैं। और वे बिछा देंगे। इसका परिणाम क्या होगा, इसका उन्हें कोई अनुमान नहीं है।

यह तो कुख्यात है कि विभिन्न प्रकार की उपजों को लाने-ले-जाने और उसकी अदला-बदली करने के साधनों के नितान्त अभाव ने भारत की उत्पादक शक्ति को पंगु बना रखा है। अदला-बदली के साधनों के अभाव के कारण, प्राकृतिक प्रचुरता के मध्य ऐसा सामाजिक दारिद्र्य हमें भारत से अधिक कहीं और दिखलायी नहीं देता। ब्रिटिश कॉमन्स सभा की एक समिति के सामने, जो १८४८ में नियुक्त की गयी थी, यह साबित हो गया था कि :

> "खानदेश में जिस समय अनाज ६ शिलिंग से लेकर ८ शिलिंग फी क्वार्टर के भाव से बिक रहा था, उसी समय पूना में उसका भाव ६४ शिलिंग से ७० शिलिंग तक का था, जहां पर अकाल के मारे लोग सड़कों पर दम तोड़ रहे थे, पर खानदेश से अनाज ले आना सम्भव नहीं था क्योंकि कच्ची सड़कें एकदम बेकार थीं।"

रेलों के जारी होने से खेती के कामों में भी आसानी से मदद मिल सकेगी, क्योंकि जहां कहीं बांध बनाने के लिए मिट्टी की जरूरत होगी वहां तालाब बन सकेंगे, और पानी को रेलवे लाइन के सहारे विभिन्न दिशाओं में ले जाया जा सकेगा। इस प्रकार सिंचाई का, जो पूर्व में खेती की बुनियादी शर्त है, बहुत विस्तार होगा और पानी की कमी के कारण बार-बार पड़ने वाले स्थानीय अकालों से नजात मिल सकेगी। इस दृष्टि से देखने पर रेलों का आम महत्व उस समय

और भी स्पष्ट हो जायगा जब हम इस बात को याद करें कि सिंचाई वाली जमीनें, घाट के नजदीक वाले जिलों में भी, बिना सिंचाई वाली जमीनो की तुलना मे उतने ही रकबे के ऊपर तीन-गुना अधिक टैक्स देती हैं, दस या बारह गुना अधिक लोगों को काम देती हैं और उनसे बारह या पन्द्रह गुना अधिक मुनाफा होता है।

रेलों के बनने से फौजी छावनियों की संख्या और उनके खर्चे में कमी करना भी सम्भव हो जायगा। फोर्ट सेन्ट विलियम के टाउन मेजर, कर्नल वारेन ने कॉमन्स सभा की एक प्रवर समिति के सामने कहा था :

"यह सम्भावना कि जितने दिनों में, यहां तक कि हफ्तों मे, देश के दूर-दूर के भागों से आजकल जो सूचनाएं आ पाती हैं, वे आगे से उतने ही में वहां से प्राप्त हो जाया करेंगी और इतने ही संक्षिप्त समय में फौजों तथा सामान के साथ वहां हिदायतें भेजी जा सकेंगी—यह ऐसी सम्भावना है जिसका महत्व कभी भी बहुत बढ़ाकर नही आंका जा सकता। फौजो को तब और दूर-दूर की, तथा आज की अपेक्षा अधिक स्वास्थ्यप्रद, छावनियों में रखा जा सकेगा और बीमारी के कारण जो बहुत-सी जानें जाती हैं, उन्हे इस तरह बचा लिया जा सकेगा। तब विभिन्न गोदामो मे इतना अधिक सामान रखने की भी जरूरत नहीं होगी और सड़ने-गलने तथा जलवायु के कारण नष्ट हो जाने से होने वाले नुकसान से भी बचा जा सकेगा। फौजों की कार्य-क्षमता के प्रत्यक्ष अनुपात मे उनकी संख्या में भी कमी की जा सकेगी।"

हम जानते है कि (भारत के) ग्रामीण स्थानिक संगठन तथा आर्थिक आधार छिन्न-विच्छिन्न हो गये हैं; किन्तु उनका सबसे बड़ा दुर्गुण—समाज की एक ही जैसी घिसी-पिटी और विशृंखल इकाइयो मे बिखरा होना—उनकी जीवन-शक्ति के लुप्त हो जाने के बाद भी कायम है। गावो के अलगाव की वजह से भारत में सड़कें नहीं पैदा हुईं, और सड़कों के अभाव ने गावो के अलगाव को स्थायी बना दिया। इसी आधार पर एक समाज कायम था, जिसे जीवन की बहुत कम सुविधाएं प्राप्त थी, जिसका दूसरे गावो के साथ सम्पर्क लगभग नही के बराबर होता था, जिसमे उन इच्छा-आकांक्षाओ तथा प्रयत्नों का सर्वथा अभाव था जो सामाजिक प्रगति के लिए अनिवार्य होते हैं। अंग्रेजो ने गावो की इस आत्म-सन्तोषी निश्चलता को भंग कर दिया है, रेले अब आने-जाने तथा सम्पर्क के साधनों की नयी आवश्यकताओं को पूरा कर देंगी। इसके अलावा :

"रेल व्यवस्था का एक परिणाम यह भी होगा कि जिस गांव के पास से वह गुजरेगी उसमें दूसरे देशो के औजारों और मशीनों की ऐसी जानकारी

वह करा देगी, और उन्हे प्राप्त करने के ऐसे साधनों से लैस कर देगी, जो पहले तो भारत के पुश्तैनी और वृत्तिग्राही ग्रामीण दस्तकारों को अपनी पूरी क्षमता का परिचय देने के लिए मजबूर करेंगे, और फिर, उसकी कमियों को दूर कर देंगे।" (चैपमेन, भारत की कपास और उसका व्यापार।)[11]

मैं जानता हू कि अंग्रेज मिलशाह (कारखानेदार) केवल इसी उद्देश्य को सामने रखकर भारत मे रेलें बनवा रहे हैं कि उनके जरिए अपने कारखानो के लिए कम खर्च मे अधिक कपास और कच्चा माल वे हासिल कर सकें। किन्तु, एक बार जब आप किसी देश के---एक ऐसे देश के जिसमें लोहा और कोयला मिलता है---आवाजाही के साधनों में मशीनों का इस्तेमाल शुरू कर देते है, तब फिर उस देश को मशीनें बनाने से आप नही रोक सकते। यह नही हो सकता कि एक विशाल देश में रेलों का एक जाल आप बिछाये रहें और उन औद्योगिक प्रक्रियाओ को आप वहां आरम्भ न होने दें जो रेल यातायात की तात्कालिक और रोजमर्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं। और इन औद्योगिक प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप, यह भी अवश्यभावी है कि उद्योग की जिन शाखाओं का रेलों से कोई सीधा सम्बंध नही है उनमे भी मशीनों का उपयोग होने लगे। इसलिए, रेल व्यवस्था भारत में आधुनिक उद्योग की अग्रदूत बन जायगी। ऐसा होना इसलिए और भी निश्चित है कि स्वयं ब्रिटिश अधिकारियों की राय के अनुसार हिन्दुओं (हिन्दुस्तानियों---अनु.) में बिल्कुल नये ढग के काम सीखने और मशीनों का आवश्यक ज्ञान प्राप्त करने की विशिष्ट योग्यता है। इस बात का प्रचुर प्रमाण कलकत्ते के सिक्के बनाने के कारखाने में काम करने वाले उन देशी इंजीनियरो की क्षमता तथा कौशल में मिलता है जो वर्षों से भाप से चलनेवाली मशीनों पर वहां काम कर रहे हैं। इसका प्रमाण हरद्वार के कोयले वाले इलाकों में भाप से चलने वाले इंजनों से सम्बंधित भारतीयों मे भी मिलता है। और भी ऐसे उदाहरण दिये जा सकते हैं। मिस्टर कैम्पबेल पर ईस्ट इंडिया कम्पनी के पूर्वाग्रहों का बडा प्रभाव है, पर वे स्वयं भी इस बात को कहने के लिए मजबूर हैं कि :

> "भारतीय जनता के बहु-संख्यक समुदाय में जबर्दस्त औद्योगिक क्षमता मौजूद है, पूंजी जमा करने की उसमे अच्छी योग्यता है और गणित सम्बंधी उसके मस्तिष्क की कुशाग्रता अद्‌भुत है, तथा हिसाब-किताब और तथ्य विज्ञान मे वह बहुत सुगमता से दक्षता प्राप्त कर लेती है।" वह कहते हैं, "उनकी बुद्धि बहुत तीक्ष्ण होती है।"[12]

रेल व्यवस्था से उत्पन्न होने वाले आधुनिक उद्योग-धंधे उस पुश्तैनी श्रम-

विभाजन को भंग कर देंगे जिस पर भारत की तरक्की और उसकी ताकत के बढ़ने के रास्ते की सबसे बड़ी रुकावट—भारत की वर्ण-व्यवस्था—टिकी हुई है।

अंग्रेज पूंजीपति वर्ग मजबूर होकर चाहे जो कुछ करे, उससे न तो भारत की आम जनता को आजादी मिलेगी, न उसकी सामाजिक हालत में कोई खास सुधार होगा, क्योंकि ये चीजें केवल इस बात पर नही निर्भर करती कि उत्पादक शक्तियों का विकास हो, बल्कि इस बात पर निर्भर करती हैं कि उन शक्तियों पर जनता का स्वामित्व हो। किन्तु इन दोनों चीजो के लिए भौतिक आधार तैयार करने के काम से वे (अंग्रेज पूंजीपति) नही बच सकेंगे। पूंजीपति वर्ग ने क्या कभी इससे अधिक कुछ किया है ? व्यक्तियों या कौमों को खून या गर्दोगुबार के बीच से चलाये बिना, कष्टों और पतन के गढ़े में ढकेले बिना, क्या वह कभी कोई प्रगति ला सका है ?

अंग्रेज पूंजीपति वर्ग ने भारतवासियो के बीच नये समाज के जो बीज बिखेरे हैं, उनके फल भारतीय तब तक नही चख सकेंगे जब तक कि स्वयं ग्रेट ब्रिटेन मे आज के शासक वर्गों का स्थान औद्योगिक सर्वहारा वर्ग न ले ले या जब तक कि भारतीय लोग स्वयं इतने शक्तिशाली न हो जायें कि अंग्रेजों की गुलामी के जुए को एकदम उतार फेंकें। हर हालत में, यह आशा तो हम विश्वास के साथ कर ही सकते हैं कि देर या सबेर, उस महान और चित्ताकर्षक देश का पुनरोत्थान अवश्य होगा जिसके निम्न से निम्न वर्गों के सौम्य नागरिक भी, राजकुमार साल्तीकोव के शब्दों में "plus fins et adroits que les Italiens"* होते हैं, जिनकी परवशता मे भी एक शान्त महानता दिखाई देती है, जिन्होंने अपनी स्वाभाविक तन्द्रा के बावजूद अपनी बहादुरी से ब्रिटिश अफसरों को चकित कर दिया है, जिनके देश से हमें हमारी भाषाएं और हमारे धर्म प्राप्त हुए हैं, और जिनके बीच प्राचीन जर्मनों के प्रतिनिधि के रूप मे जाट और प्राचीन यूनानियों के प्रतिनिधि के रूप मे ब्राह्मण आज भी मौजूद हैं।

भारत से सम्बंधित इस विषय को, उपसंहार के रूप मे कुछ बातें कहे बिना, मै समाप्त नही कर सकता।

पूंजीवादी सभ्यता की निविड़ धूर्तता और स्वभावगत बर्बरता हमारी आंखो के सामने उस समय निरावरण होकर प्रकट हो जाती है जब अपने देश से, जहा वह सभ्य रूप धारण किये रहती है, वह उपनिवेशों को जाती है।

---

* "इटली के निवासियों से भी अधिक कुशाग्र और कुशल होते हैं।" मार्क्स ने यह उद्धरण ए. डी. साल्तीकोव की पुस्तक Lettres sur l'Inde (हिन्दुस्तान से सम्बंधित पत्रों) में से लिया है। पैरिस, १८४८, पृष्ठ ६१। —सं.

जहां वह बिल्कुल नंगी हो जाती है। वे (अंग्रेज पूंजीपति—अनु.) निजी सम्पत्ति के हिमायती है, किन्तु क्या किसी भी क्रान्तिकारी पार्टी ने कभी ऐसी कृषि क्रान्तियों को जन्म दिया है जैसी कि बंगाल, मद्रास और बम्बई में हुई है? क्या यह सच नहीं है कि भारत में जब साधारण भ्रष्टाचार से उनकी स्वार्थलिप्सा पूरी नहीं हो सकी, तब उस खूंखार लुटेरे लार्ड क्लाइव के ही शब्दों में, उन्होने बीभत्स लूट-खसोट शुरू कर दी? योरप में जब वे राष्ट्रीय ऋण की अनुल्लघनीय पवित्रता की दोहाई दे रहे थे, तभी क्या भारत में उन्होने उन राजाओं की मुनाफे की रकमो को जब्त नहीं कर लिया था जिन्होने बचायी हुई अपनी निजी पूंजी को कम्पनी के खजाने में जमा कर दिया था? वे जिस समय "हमारे पवित्र धर्म" की रक्षा के नाम पर फ्रांसीसी क्रांति का विरोध कर रहे थे, क्या उसी समय उन्होंने भारत में ईसाई धर्म के प्रचार पर रोक नहीं लगा दी थी? और क्या उन्होंने उड़ीसा और बंगाल के मन्दिरो में दर्शनार्थ आने वाले तीर्थ-यात्रियों से रुपया कमाने के लिए जगन्नाथ मन्दिर मे चलने वाली वेश्यावृत्ति और नर-हत्या के व्यापार को अपने हाथों मे नहीं ले लिया? यही वे लोग है जो "सम्पत्ति, व्यवस्था, परिवार और धर्म" की दुहाई देते नहीं थकते!

भारत जैसे देश पर, जो योरप के समान विशाल है और जहां १५ करोड एकड जमीन है, अंग्रेजी उद्योगो का सत्यानाशी प्रभाव बिल्कुल स्पष्ट और हैरत मे डाल देने वाला है; किन्तु हमे यह नहीं भूलना चाहिए कि यह प्रभाव वर्तमान समय में प्रचलित उत्पादन की सम्पूर्ण व्यवस्था का ही लाजिमी परिणाम है। यह उत्पादन व्यवस्था पूंजी की सर्वोच्च सत्ता पर आधारित है। पूंजी के एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में बने रहने के लिए आवश्यक है कि उसका केन्द्रीकरण हो। दुनिया के बाजारों पर पूंजी के इस केन्द्रीकरण का जो विनाशकारी प्रभाव पड़ता है, वह राजनीतिक अर्थशास्त्र के उन स्वभावगत बुनियादी नियमो को ही अत्यन्त भयानक रूप में प्रकट कर देता है जो प्रत्येक सभ्य शहर मे आज काम कर रहे है। इतिहास के पूंजीवादी युग को नये संसार का भौतिक आधार तैयार करना है—एक तरफ तो उसे मानव जाति की पारस्परिक निर्भरता पर आधारित संसारव्यापी आदान-प्रदान की व्यवस्था और इस आदान-प्रदान के साधनो की स्थापना करनी है; दूसरी तरफ, उसे मनुष्य की उत्पादक शक्तियों का विकास करना है और उसके भौतिक उत्पादन को प्राकृतिक शक्तियों पर वैज्ञानिक आधिपत्य का रूप देना है। पूंजीवादी उद्योग और व्यापार नये संसार के इन भौतिक परिस्थितियों का उसी तरह निर्माण कर रहे हैं जिस तरह कि भूगर्भ में होने वाली क्रान्तियों ने पृथ्वी के धरातल की सृष्टि की है। पूंजीवादी युग को इन देनो पर—विश्व बाजार तथा उत्पादन की आधुनिक शक्तियों पर—

एक महान् सामाजिक क्रान्ति जब अपना आधिपत्य कायम कर लेगी और उन्हें सर्वाधिक उन्नत जनता के संयुक्त नियंत्रण के नीचे ले आयेगी, केवल तभी मानवी प्रगति प्राचीन मूर्ति-पूजकों के उस घृणित देव के रूप को तिलांजलि दे सकेगी जो बलि दिये गये इंसानों की खोपड़ियों के अलावा और किसी चीज मे भरकर अमृत पीने से इन्कार करता था।

कार्ल मार्क्स द्वारा २२ जुलाई, १८५३ को लिखा गया।

८ अगस्त, १८५३ के "न्यू-यॉर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ३८४०, में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

हस्ताक्षर : कार्ल मार्क्स

कार्ल मार्क्स

भारतीय सेना में विद्रोह[15]

फूट डालो और राज्य करो—रोम के इसी महान नियम के आधार पर ग्रेट-ब्रिटेन लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक अपने भारतीय साम्राज्य पर अपना शासन बनाये रखने मे कामयाब हुआ था। जिन विभिन्न नस्लो, कबीलो, जातियों, धार्मिक-सम्प्रदायों तथा स्वतन्त्र राज्यों के योग से उस भौगोलिक एकता का निर्माण हुआ है जिसे भारत कहा जाता है, उनके बीच आपसी शत्रुता फैलाना ही ब्रिटिश आधिपत्य का बुनियादी उसूल रहा है। किन्तु, बाद के काल मे, उस आधिपत्य की परिस्थितियो मे एक परिवर्तन हुआ। सिंध और पंजाब की फतह के बाद, एंग्लो-इंडियन साम्राज्य न केवल अपनी स्वाभाविक सीमाओ तक फैल गया था, बल्कि स्वतन्त्र भारतीय राज्यो के अन्तिम चिन्हो को भी पैरो तले कुचल कर उसने नष्ट कर दिया था। तमाम लड़ाकू देशी जातियों को वश मे कर लिया गया था, देश के अन्दर के तमाम बडे झगडे खत्म हो गये थे, और हाल में अवध[16] के (अंग्रेजी सल्तनत मे—अनु.) मिला लिये जाने की घटना ने सन्तोषप्रद रूप से इस बात को सिद्ध कर दिया था कि तथाकथित स्वतंत्र भारतीय राज्यो के अवशेष केवल अंग्रेजो की दया पर ही जिन्दा हैं। इसलिए ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थिति मे एक जबर्दस्त परिवर्तन आ गया था। अब वह भारत के एक भाग की मदद से दूसरे भाग पर हमला नही करती थी; वह अब उसके शीर्ष-स्थान पर आसीन हो गयी थी और सारा भारत उसके चरणों मे पड़ा था। अब वह फतह करने का काम नही कर रही थी, वह सर्व-विजेता बन गयी थी। उसकी मातहत सेनाओ को अब उसके साम्राज्य का विस्तार करने की नही, बल्कि उसे केवल बनाये रखने की जरूरत थी। सिपाहियों को बदल कर उन्हे पुलिस-मैन बना दिया गया था, २० करोड़ भारतवासियों को अंग्रेज अफसरों की मातहती मे २ लाख सैनिकों की देशी फौज की मदद मे दबा कर रखा जा रहा है, और इस देशी फौज को केवल ४० हजार अंग्रेज सैनिकों की सहायता से काबू मे रखा जा रहा है। प्रथम दृष्टि मे ही यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय जनता की फर्मा-बरदारी उस देशी फौज की नमक-हलाली पर आधारित है जिसे संगठित करके ब्रिटिश

शासन ने, साथ ही साथ, भारतीय जनता के प्रतिरोध के एक प्रथम आम केन्द्र को भी संगठित कर दिया है। उस देशी फौज पर कितना भरोसा किया जा सकता है, यह हाल की उसकी उन बगावतों से बिल्कुल स्पष्ट है जो, फारस" (ईरान) के साथ युद्ध के कारण, बंगाल प्रेसीडेन्सी (प्रान्त) के योरोपियन सैनिकों से खाली होते ही यहां पर आरम्भ हो गयी थी। भारतीय सेना में इससे पहले भी बगावतें हुई थीं, किन्तु वर्तमान विद्रोह" उनसे भिन्न है, उसकी कुछ अपनी विशिष्ट तथा घातक विशेषताएं हैं। यह पहली बार है जब कि सिपाहियों की रेजीमेन्टों ने अपने योरोपीय अफसरों की हत्या कर दी है; जब कि अपने आपसी विद्वेषों को भूल कर, मुसलमान और हिन्दू अपने सामान्य स्वामियों के खिलाफ एक हो गये हैं; जब कि "हिन्दुओं द्वारा आरम्भ की गयी उथल-पुथल ने दिल्ली के राज्य सिंहासन पर वास्तव में एक मुसलमान बादशाह* को बैठा दिया है;" जब कि बगावत केवल कुछ थोड़े से स्थानों तक ही सीमित नहीं रही है; और, अन्त में, जब कि एंग्लो-इंडियन सेना का विद्रोह अंग्रेजों के प्रभुत्व के विरुद्ध महान एशियाई राष्ट्रों के असन्तोष के आम प्रदर्शन के साथ मिलकर एक हो गया है। इसमें रत्ती भर भी सन्देह नहीं कि बंगाल की सेना का विद्रोह फारस (ईरान) और चीन के युद्धों" के साथ अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है।

बंगाल की सेना में चार महीने पहले जो असन्तोष फैलने लगा था, उसका तथाकथित कारण यह बताया जाता है कि देशी फौजों को यह डर था कि सरकार उनके धर्म-कर्म में हस्तक्षेप करेगी। कहा गया है कि सिपाहियों में जो कारतूस बांटे गये थे, उनके कागजों में गाय और सुअर की चर्बी लगी हुई थी, और इसलिए उनको दांत से काटने की आज्ञा को देशी फौजियों ने अपने धार्मिक रीति-रिवाजों में दखलन्दाजी माना, और यही चीज स्थानीय फसादों के लिए एक सिगनल बन गयी। २२ जनवरी को कलकत्ते से थोड़े ही फासले पर स्थित छावनियों में भयानक आग लग गयी। २५ फरवरी को बरहमपुर में १९वीं देशी रेजीमेन्ट ने बगावत कर दी जिसके सैनिकों को उन कारतूसों के प्रति विरोध था। ३१ मार्च को इस रेजीमेन्ट को भंग कर दिया गया; मार्च के अन्त में, बैरकपुर में स्थित ३४वीं सिपाही रेजीमेन्ट ने परेड-ग्राउंड पर अपने एक सैनिक को भरी हुई बन्दूक लेकर एकदम अगली कतार तक आगे बढ़ जाने दिया; वहां से बगावत के लिए अपने साथियों का आह्वान करने के बाद उसे अपने एडजुटेंट और सार्जेन्ट-मेजर पर हमला करने और उन्हें घायल करने दिया। इसके बाद जो जबर्दस्त हाथा-पाई हुई, उसके दौरान

* बहादुरशाह। —सं.

सैकड़ों सिपाही चुपचाप खड़े तमाशा देखते रहे और कुछ दूसरों ने इस मार-पीट में शामिल होकर अपनी बन्दूकों के कुन्दों से अफसरों की मरम्मत की। इसके बाद उस रेजीमेन्ट को भी भंग कर दिया गया। अप्रैल महीने का श्रीगणेश इलाहाबाद, आगरा, अम्बाला आदि कई छावनियों में बंगाली सेना की आगजनी से, मेरठ में हल्के घुड़सवारों की ३री रेजीमेन्ट की बगावत से, तथा मद्रास और बम्बई की सेनाओं में इसी प्रकार की बागी प्रवृत्तियों के प्रदर्शन से हुआ। मई के आरम्भ में अवध की राजधानी लखनऊ में भी एक विद्रोह की तैयारी हो रही थी, किन्तु सर एच. लारेन्स की सतर्कता ने उसे रोक दिया था। ९ मई को मेरठ की ३री हल्की घुड़सवार सेना के बागियों को जेल ले जाया गया जिससे कि उन्हें जो भिन्न-भिन्न सजाएं दी गयी थी उन्हें वे काटें। अगले दिन की शाम को, ११वीं और २०वीं—दो देशी रेजीमेन्टों के साथ ३री घुड़सवार सेना के सैनिक परेड मैदान में इकट्ठे हो गये; जो अफसर उन्हें शान्त करने की कोशिश कर रहे थे उनको उन्होंने मार डाला, छावनियों में आग लगा दी और जितने अंग्रेजों को वे पा सके, उन सबको उन्होंने काट डाला। ब्रिगेड के अंग्रेज सैनिकों के भाग ने यद्यपि पैदल सेना की एक रेजीमेन्ट, घुड़सवार सेना की एक रेजीमेन्ट, और पैदल घुड़सवार तोपखाने की एक भारी शक्ति जमा कर ली थी, किन्तु रात होने से पहले वे कोई कार्रवाई न कर सके। बागियों को वे कोई चोट न पहुंचा सके, और उन्होंने वहां से उन्हें खुले मैदान में, मेरठ से लगभग चालीस मील के फासले पर स्थित दिल्ली के ऊपर, धावा करने के लिए चला जाने दिया। वहां ३८वीं, ५४वीं और ७४वीं पैदल सेना की रेजीमेन्टों की देशी गैरीसन, तथा देशी तोपखाने की एक कम्पनी भी उनके साथ शामिल हो गयी। ब्रिटिश अफसरों पर हमला बोल दिया गया, जितने भी अंग्रेजों को विद्रोही पा सके उनकी हत्या कर दी गयी, और दिल्ली के पिछले मुगल बादशाह* के वारिस† को भारत का बादशाह घोषित कर दिया गया। मेरठ की मदद के लिए, जहां पुनः व्यवस्था स्थापित कर ली गयी थी, भेजी गयी फौजों में से देशी सफरमैना की छः कम्पनियों ने, जो १५ मई को वहां पहुंची थी, अपने कमांडिंग अफसर मेजर फ्रेजर को मार डाला और फौरन देहात की तरफ चल पड़ीं। उनके पीछे-पीछे घुड़सवार तोपखाने की फौजें तथा छठे ड्रैगून गार्ड्स की बहुत सी टुकड़ियां उन्हें पकड़ने के उद्देश्य से निकल पड़ीं। पचास या साठ बागियों को गोली मार दी गयी, लेकिन बाकी भाग कर दिल्ली पहुंचने में सफल हो गये। पंजाब के फीरोजपुर

---

* अकबर। —सं.

† बहादुरशाह। —सं.

में ५७वीं और ४५वीं देशी पैदल रेजीमेन्टों ने बगावत कर दी, किन्तु उन्हें बलपूर्वक कुचल दिया गया । लाहौर से आने वाले निजी पत्र बताते है कि तमाम देशी फौजें खुले तौर से बागी बन गयी है। १९ मई को कलकत्ता में तैनात सिपाहियों ने सेन्ट विलियम के किले पर अधिकार करने की असफल कोशिश की थी। बुशायर से बम्बई आयी तीन रेजीमेन्टों को तुरन्त कलकत्ता रवाना कर दिया गया।

इन घटनाओं का सिंहावलोकन करते समय मेरठ के ब्रिटिश कमांडर* के रवैये के सम्बंध में आदमी को हैरत होती है। लड़ाई के मैदान मे उसका देर से आना और ढीले-ढाले ढंग से उसके द्वारा बागियों का पीछा किया जाना उससे भी कम समझ में आता है। दिल्ली जमुना के दाहिने तट पर और मेरठ उसके बायें तट पर स्थित है। दोनों तटों के बीच दिल्ली में केवल एक पुल है। इसलिए भागते हुए सिपाहियों का रास्ता काट देने से अधिक आसान चीज दूसरी न होती!

इसी दरम्यान, तमाम अप्रभावित जिलों में मार्शल-लॉ लगा दिया गया है। मुख्यतया भारतीय फौजी टुकड़िया उत्तर-पूर्व और दक्षिण से दिल्ली की तरफ बढ़ रही हैं। कहा जाता है कि पड़ोसी राजे-रजवाड़ों ने अंग्रेजों के पक्ष में होने का ऐलान कर दिया है। लंका चिट्ठियां भेज दी गयी हैं कि लार्ड एलगिन और जनरल एशबर्नहम की सेनाओं को चीन जाने से रोक दिया जाय और, अन्त में, पखवाड़े भर के अन्दर ही १४ हजार अंग्रेज सैनिक इंगलैंड से भारत भेजे जा रहे हैं। भारत के वर्तमान मौसम के कारण और आवाजाही के साधनों की एकदम कमी की वजह से ब्रिटिश फौजों के आगे बढ़ने में चाहे जो रुकावटें सामने आयें, लेकिन बहुत सम्भव यही है कि दिल्ली के विद्रोही बिना किसी लम्बे प्रतिरोध के ही हार जायेंगे। किन्तु, इसके बावजूद, यह उस भयानक दुखान्त नाटक की मात्र भूमिका है जो वहां अभी खेला जायगा।

कार्ल मार्क्स द्वारा ३० जून, १८५७ को लिखा गया।
१५ जुलाई, १८५७ के "न्यू यौर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५०६५, में एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

---

* जनरल हेविट। —सं.

कार्ल मार्क्स

भारत में विद्रोह

लंदन, १७ जुलाई, १८५७

विद्रोही सिपाहियों के हाथ में दिल्ली के आने और मुगल सम्राट* के राज्याभिषेक की उनके द्वारा घोषणा किये जाने के बाद, ८ जून को ठीक एक महीना बीता है। लेकिन, ऐसा कोई खयाल मन में रखना कि भारत की प्राचीन राजधानी पर, अंग्रेजी फौजों के विरुद्ध, विप्लवकारी अधिकार बनाये रह सकेंगे, अनर्थक होगा। दिल्ली की हिफाजत के लिए केवल एक दीवाल और एक मामूली-सी खाई है, जब कि उसके चारों तरफ की, और उससे ऊंची-ऊंची जगहों पर—जहां से उसकी गतिविधि को रोका जा सकता है—अंग्रेजों ने कब्जा कर रखा है। इसलिए, उन दीवारों को तोड़े बिना भी, केवल उसके पानी की सप्लाई को काटकर ही, बहुत थोड़े समय के अन्दर, वे उसे आत्म-समर्पण करने के लिए मजबूर कर दे सकते हैं। इसके आलावा, विद्रोही सिपाहियों की एक ऐसी असंगठित भीड़—जिसने स्वयं अपने अफसरों को मार डाला है, अनुशासन के बंधनों को तोड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया है और जो अभी तक ऐसा कोई आदमी ढूंढ़ने में सफल नहीं हुई है जिसको वह अपना सर्वोच्च सेनापति बना सके—निश्चित रूप से ऐसी शक्ति नहीं है जो किसी गंभीर और दीर्घ-कालीन प्रतिरोध का संगठन कर सके। गड़बड़ हालत में मानो और भी गड़बड़ी पैदा करने के लिए, दिल्ली की रंग-बिरंगी फौजें नये-नये आदमियों के आने से रोजाना बढ़ती जा रही हैं। बंगाल प्रेसीडेन्सी के कोने-कोने से बागियों के नये-नये गिरोह आकर उनमें शामिल होते जा रहे हैं। मालूम होता है जैसे किसी पूर्व-निर्धारित योजना के अनुसार वे सब उस हत-भाग्य शहर में अपने को झोंकते जा रहे हैं। ३० और ३१ मई को किलेबन्दी की दीवारों के बाहर विद्रोहियों ने जो दो हमले किये थे, उनके पीछे आत्म-विश्वास या शक्ति की किसी अनुभूति की अपेक्षा निराशा की ही भावना अधिक काम

---

* बहादुरशाह। —सं.

करती मालूम होती थी। इन दोनों ही हमलों में उन्हें भारी नुकसान हुआ और वे पीछे ढकेल दिये गये। आश्चर्य की चीज तो केवल ब्रिटिश कार्रवाइयों की सुस्ती है। एक हद तक इसकी वजह मौसम की भयानकता तथा आवा-जाही के साधनों की कमी हो सकती है। फ्रांसीसियों के पत्र बताते हैं कि कमांडर-इन-चीफ जनरल एन्सन के अलावा लगभग ४,००० योरोपियन सैनिक घातक गर्मी के शिकार बन चुके हैं, और इस बात को तो अंग्रेजी अखबार तक मंजूर करते हैं कि दिल्ली के पास की लड़ाइयों मे सैनिकों को दुश्मन की गोलियों की अपेक्षा गर्मी से अधिक नुकसान पहुंचा है। उनके पास आने-जाने के साधनों के अभाव के फलस्वरूप, अम्बाला में तैनात मुख्य ब्रिटिश सेनाओं को दिल्ली पर धावा बोलने के लिए वहां तक पहुंचने में लगभग सत्ताइस दिन लग गये, यानी औसतन हर दिन वे लगभग डेढ घंटा चल सके। और भी देरी अम्बाला मे भारी तोपों के न होने की वजह से हो गयी। परिणामस्वरूप, अम्बाला की फौजों को सबसे नजदीक के शस्त्रागार से, जो सतलज के उस पार फिल्लौर में था, हमला करने की एक गाड़ी लाने की आवश्यकता पड़ी।

इस सब के कारण, दिल्ली के पतन का समाचार किसी भी दिन आ सकता है; परन्तु उसके आगे क्या होगा ? भारतीय साम्राज्य के परम्परागत केन्द्र पर विद्रोहियों के एक महीने के निर्विरोध अधिकार ने बंगाल की फौज को एकदम छिन्न-भिन्न कर देने में, कलकत्ते से लेकर उत्तर में पंजाब तक और पश्चिम मे राजपूताना तक, विद्रोह और सेना-त्याग की आग को फैला देने में तथा भारत के एक किनारे से दूसरे किनारे तक ब्रिटिश सत्ता की जड़ों को हिला देने का काम करने में यदि जबर्दस्त योग दिया था, तो इस बात को मान लेने से बडी दूसरी गलती नही होगी कि दिल्ली के पतन से—चाहे उसके कारण सिपाहियों में पांतों मे घबडाहट भले पैदा हो जाय—विद्रोह दब जायगा, उसकी प्रगति रुक जायगी या ब्रिटिश शासन की पुनर्स्थापना हो जायगी। बंगाल की पूरी देशी फौज मे लगभग ८० हजार सैनिक थे। इनमे लगभग २८ हजार राजपूत, २३ हजार ब्राह्मण, १३ हजार मुसलमान, ५ हजार दलित जातियों के हिन्दू, और बाकी योरोपियन थे। विद्रोह, सेना-त्याग, या बर्खास्तगी के कारण इनमें से ३० हजार गायब हो गये हैं। जहा तक उस सेना के बाकी हिस्से का सवाल है, तो उसकी कई रेजीमेन्टों ने खुलेआम ऐलान कर दिया है कि वे ब्रिटिश सत्ता के प्रति वफादार रहेंगी और उसका समर्थन करेंगी, किन्तु जिस मामले को लेकर देशी सेनाएं इस वक्त लड़ाई कर रही हैं, उसके सम्बंध मे ब्रिटिश सत्ता का साथ वे नहीं देंगी : देशी रेजीमेन्टो के विद्रोहियों के विरुद्ध कार्रवाइयो में अंग्रेज अधिकारियो की वे सहायता नही करेंगी, बल्कि इसके विपरीत, वे अपने "भाइयों"

का साथ देंगी । कलकत्ता से लेकर आगे के लगभग प्रत्येक स्टेशन पर इस बात की सचाई प्रमाणित हो चुकी है । देशी रेजीमेन्टें कुछ समय तक निष्क्रिय रहीं; किन्तु, ज्यों ही उन्होंने यह समझ लिया कि वे काफी मजबूत हो गयी हैं, त्यों ही उन्होंने विद्रोह कर दिया । जिन रेजीमेन्टों ने अभी तक कोई घोषणा नहीं की है, तथा जिन देशी वाशिन्दों ने विद्रोहियों का अभी तक साथ नहीं दिया है, उनके बारे में लंदन टाइम्स" के एक भारतीय सम्वाददाता ने जो कुछ लिखा है, उससे उनकी "वफादारी" के सम्बंध में कोई सन्देह नहीं रह जाता ।

> वह लिखता है, "अगर आप पढ़ें कि **सब कुछ शान्त है**, तो इसका मतलब यह समझिए कि देशी फौजों ने अभी तक खुली बगावत नहीं की है; कि आबादी का असन्तुष्ट भाग अभी तक खुले विद्रोह में नहीं आया है; कि या तो वे बहुत कमजोर हैं, या अपने को कमजोर समझते हैं, या फिर वे अधिक अनुकूल अवसर की राह देख रहे हैं । जहां आप बंगाल की किसी घुड़सवार या पैदल देशी रेजीमेन्ट के अन्दर 'वफादारी के प्रदर्शन' की बात पढ़ें, तो समझ लीजिए कि इस तरह से जिन रेजीमेन्टों की अनुकूल चर्चा की गयी है उनमें से केवल आधी ही वास्तव में वफादार हैं; बाकी आधी सिर्फ दिखावा कर रही हैं, जिसमें कि उचित अवसर आने पर वे योरोपियनों को और भी कम चौकस पायें; अथवा, जिससे कि सन्देहों को दूर करके, अपने विद्रोही साथियों को वे और भी अधिक सहायता देने की शक्ति प्राप्त कर लें ।"

पंजाब में, देशी फौजों को तोड़ करके ही खुले विद्रोह को रोका जा सका है । अवध में केवल लखनऊ की रेजीडेन्सी पर अंग्रेजों का कब्जा कहा जा सकता है; बाकी सब जगहों पर देशी रेजीमेन्टों ने विद्रोह कर दिया है, अपने गोले-बारूद के साथ वे भाग गयी हैं; तमाम बंगलों को जलाकर उन्होंने खाक कर दिया है, और बाहर जाकर वे उस आबादी के साथ मिल गयी है जिन्होंने स्वयं हथियार उठा लिये हैं । अंग्रेजी फौज की वास्तविक स्थिति इस तथ्य से सबसे अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि पंजाब और राजपूताना दोनों में उसने अब उड़न-दस्ते कायम करने की जरूरत समझी है । इसका मतलब हुआ कि अपनी बिखरी फौजों के बीच संचार व्यवस्था को बनाये रखने के लिए अंग्रेज न तो सिपाहियों की अपनी फौज पर भरोसा कर सकते है और न देशी लोगों पर । प्रायद्वीप युद्ध" के दिनों में फ्रांसीसियों की भांति ही अंग्रेजों का भी जमीन के केवल उसी टुकड़े पर और उस टुकड़े के पड़ोस के केवल उसी भाग पर अधिकार है जहां स्वयं उनकी फौजें कब्जा किये हुए है । अपनी फौज के बाकी बिखरे हुए लोगों के बीच संचार सम्बंध के लिए उन्हें उड़न-दस्तों पर ही निर्भर करना पड़ता है । इन उड़न-दस्तों का काम, जो स्वयं बहुत जोखिम-भरा है, जितने ही व्यापक क्षेत्र में फैलता जाता है, स्वाभाविक रूप से वह

उतना ही कम कारगर होता जाता है। ब्रिटिश फौजों की वास्तविक अपर्याप्तता इस बात से और सिद्ध हो जाती है कि विद्रोही स्थानों से खजानों को हटाने के लिए वे देशी सिपाहियों से मदद लेने के लिए मजबूर हो गये थे। और उन्होंने, बिना किसी अपवाद के, रास्ते में विद्रोह कर दिया था तथा उन खजानों को, जो उन्हें सौंपे गये थे, लेकर भाग खड़े हुए थे। इंगलैंड से भेजे गये सिपाही, अच्छी से अच्छी हालत में भी, नवम्बर से पहले वहां नही पहुंचेंगे, और मद्रास तथा बम्बई प्रेसीडेन्सियों से योरोपियन सैनिकों को हटाना और भी खतरनाक होगा — मद्रास के सिपाहियों की १०वीं रेजीमेन्ट में असन्तोष के लक्षण पहले ही प्रकट हो चुके है। इसलिए, बंगाल की पूरी प्रेसीडेन्सी में नियमित टैक्सों की वसूली के विचार को छोड़ देना होगा और टूट-फूट की प्रक्रिया को यों ही चलने देना होगा। अगर हम यह भी मान लें कि बर्मियों की हालत और नही सुधरेगी, ग्वालियर* का महाराजा अंग्रेजो का समर्थन करता रहेगा और नेपाल का शासक, ‡ जिसके पास सबसे अच्छी भारतीय फौज है, खामोश रहेगा; असन्तुष्ट पेशावर अशान्त पहाड़ी कबीलों के साथ नही मिल जायगा और फारस (ईरान) का शाह † हेरात को खाली कर देने की मूर्खता नही करेगा — तब भी, बंगाल की पूरी प्रेसीडेन्सी को फिर से जीतना होगा, और सम्पूर्ण एंग्लो-इंडियन सेना को फिर से संगठित करना होगा। इस विशाल कार्य का पूरा का पूरा व्यय ब्रिटिश जनता के मत्थे पड़ेगा। जहा तक लार्ड्स सभा में लार्ड ग्रैनविल द्वारा व्यक्त किये गये इस विचार का सम्बंध है कि इस कार्य के लिए, भारतीय कर्जों की मदद से, ईस्ट इंडिया कम्पनी स्वयं आवश्यक साधन जुटा लेगी, तो यह कहा तक सही है, इसे बम्बई के रुपये के बाजार पर उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों की अशान्त हालत का जो असर पड़ा है, उसीसे समझा जा सकता है। देशी पूंजीपतियों के अन्दर फौरन जबर्दस्त घबड़ाहट फैल गयी है, बैंकों से बहुत भारी-भारी रकमें निकाल ली गयी हैं, सरकारी हुंडियों का बिकना लगभग असंभव हो गया है, और बड़े पैमाने पर न सिर्फ बम्बई में, बल्कि उसके आसपास भी रुपयों को गाड़कर छिपाना आरम्भ हो गया है।

कार्ल मार्क्स द्वारा १७ जुलाई, १८५७ को लिखा गया।

४ अगस्त, १८५७ के "न्यू यॉर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५०८२, में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

---

* सिंधिया। — सं.

‡ जंग बहादुर। — सं.

† नासिरुद्दीन। — सं.

कार्ल मार्क्स

भारतीय प्रश्न

लंदन, २८ जुलाई, १८५७

कल रात "मृत भवन"[१] में मिस्टर डिजरायली ने तीन घंटे का जो भाषण दिया था, उसे सुनने की जगह पढा जाता तो उसका असर कम होने की जगह और बढ जाता। कुछ समय तक मि. डिजरायली ने वक्तृत्व कला का घोर आडम्बर प्रदर्शित किया, बनकर बहुत धीरे-धीरे बोलने का और औपचारिकता के एक विकार-हीन अनुक्रम का प्रदर्शन किया। ये चीजें एक महत्वाकांक्षी मंत्री की शान से सम्बंधित उनकी विचित्र धारणाओं के चाहे जितनी भी अनुकूल हों, किन्तु उनके यातना-ग्रस्त श्रोताओं के लिए वास्तव में बहुत क्लेश-पूर्ण होती है। पहले वह एकदम तुच्छ चीजों को भी लघु काव्यों के रूप में प्रस्तुत करने में सफल हो जाते थे। परन्तु अब वह लघु काव्यों तक को प्रतिष्ठा की रूढि-बद्ध नीरसता मे डुबो देते है। मिस्टर डिजरायली की तरह के एक अच्छे वक्ता को तो, जो तलवार चलाने की जगह कटार भाजने में अधिक निपुण है, वाल्तेयर की इस चेतावनी को कभी नहीं भूलना चाहिए था: "Tous les genres sont bons excepte le genre ennuyeux."*

विधि सम्बधी इन विशेषताओं के अलावा, जो मि. डिजरायली के वाग्वैभव के वर्तमान ढग को सुशोभित करती है, पामर्सटन के सत्ता में आने के बाद से वह इस बात के सम्बध मे खूब सावधान हो गये हैं कि अपने पालियामेन्टरी प्रदर्शनों में वास्तविकता की रचमात्र प्रतिध्वनि न आने दे। उनके भाषणो का उद्देश्य अपने प्रस्तावो को पास कराना नही होता, बल्कि उनके प्रस्तावों का उद्देश्य अपने भाषणो के लिए रास्ता तैयार करना होता है। उनके प्रस्तावों को स्वार्थ-त्यागी प्रस्ताव कहा जा सकता है, क्योंकि वे कुछ इस तरह तैयार

---

* "सभी शैलियां अच्छी होती हैं सिवा उबाने वाली के।"— वाल्तेयर, L' Enfant prodigue की प्रस्तावना मे। —स.

किये जाते है कि अगर पास हो जायें तो विरोधी को कोई नुकसान न पहुंचाएं, और अगर गिर भी जायें तो प्रस्तावक को कोई हानि न होने दें। वास्तव में, उनका लक्ष्य न तो यह है कि वे पास हो जायें, और न यह कि गिर जायें, वह तो बस यही चाहते हैं कि उन्हे यों ही छोड़ दिया जाय। वे न तो अम्लों में आते हैं, न क्षारकों मे, बल्कि वे अनियत-लक्षण ही पैदा करते है। उनका भाषण कार्य का वाहन नहीं होता, बल्कि कार्य का पाखडी दिखावा उनके भाषण के लिए एक अवसर प्रस्तुत कर देता है। निस्सन्देह, हो सकता है कि पार्लियामेन्टरी वाग्वैभव का प्राचीन तथा अन्तिम स्वरूप यही हो; किन्तु, तब, हर स्थिति में, पार्लियामेन्टरी वाग्मिता को पार्लियामेन्टवाद के तमाम अन्तिम स्वरूपों की किस्मत का साझेदार बनने से इनकार नही करना चाहिए, अर्थात् सबके लिए जाने-बवाल होने वाली वस्तुओ की श्रेणी में रखे जाने से उसे इनकार नहीं करना चाहिए। कार्य, जैसा कि अरस्तू ने कहा था, ड्रामा (नाटक) का नियामक कानून है।* यही बात राजनीतिक वक्तृत्व कला के सम्बंध में लागू होती है। भारतीय विद्रोह के सम्बंध मे मि. डिजरायली ने जो भाषण दिया है, उसे उपयोगी ज्ञान का प्रचार करने वाली सोसायटी की पुस्तिकाओं मे छाप दिया जा सकता है, उसे कारीगरों (मैकेनिको) के संघ के सामने दिया जा सकता है, अथवा पुरस्कार-प्राप्त करने योग्य एक निबंध के रूप मे बर्लिन की अकादमी के सामने प्रस्तुत कर दिया जा सकता है। देश, काल तथा अवसर के सम्बंध में उनके भाषण की विचित्र निष्पक्षता इस बात को अच्छी तरह साबित कर देती है कि वह न देश और काल के अनुरूप था, न अवसर के। रोमन साम्राज्य के पतन से सम्बधित कोई अध्याय मान्टेस्क्यू अथवा गिवन" की पुस्तक मे पढने पर बहुत अच्छा लग सकता है, किन्तु उसी को यदि एक ऐ. रोमन सीनेटर के मुह में रख दिया जाय, जिसका खास काम ही यह था कि उस पतन को रोके, तो वह बहुत ही मूर्खतापूर्ण लगेगा। यह सही है कि हमारे आधुनिक पार्लियामेन्टो मे एक ऐसे स्वतंत्र-चेता वक्ता की कल्पना भी जा सकती है जो वास्तविक विकास-क्रम को प्रभावित करने में अपनी असमर्थता से निराश होकर प्रच्छन्न निन्दापूर्ण तटस्थता का रुख अपना लेता है और अपने को इसी मे संतुष्ट कर लेता है। यह भी मान लिया जा सकता है कि उसकी इस भूमिका में न ज्ञान की कमी होगी, न दिलचस्पी की। स्वर्गीय श्री गार्नियर-पेजेज ने—लुई फिलिप की प्रतिनिधि सभा (चेम्बर आफ डिपुटीज) की स्थायी सरकार वाले गार्नियर-पेजेज ने नहीं—कमोबेश सफलता के साथ ऐसी ही भूमिका अदा की थी। किन्तु मि. डिजरायली, जो

* अरस्तू, 'काव्य शास्त्र,' अध्याय ६। —सं.

एक जीर्ण-शीर्ण गुट" के जाने-माने नेता हैं, इस तरह की सफलता को भी एक जबर्दस्त पराजय मानेंगे। इसमें कोई शक नहीं कि भारतीय सेना के विद्रोह ने वक्तृत्व-कला के प्रदर्शन के लिए एक अत्यन्त शानदार अवसर उपस्थित कर दिया था। किन्तु, इस विषय पर एकदम निर्जीव ढंग से विचार करने के अलावा उस प्रस्ताव में क्या सार था जिसको अपने भाषण का उन्होंने निमित्त बनाया? वास्तव में वह कोई प्रस्ताव ही नहीं था। उन्होंने झूठ-मूठ का यह दिखावा किया कि दो सरकारी दस्तावेजों की जानकारी हासिल करने के लिए वह व्यग्र थे: इनमें से एक दस्तावेज तो ऐसा था जिसके बारे में उन्हें यह भी यकीन नहीं था कि वह कहीं है भी, और दूसरा दस्तावेज ऐसा था जिसके बारे में उन्हें पूरा यकीन था कि सम्बंधित विषय से उसका कोई फौरी ताल्लुक नहीं था। इसलिए उनके भाषण और उनके प्रस्ताव में इसके सिवा और कोई सम्बंध नहीं था कि प्रस्ताव ने बिना किसी उद्देश्य के ही एक भाषण के लिए जमीन तैयार कर दी थी और उद्देश्य ने स्वयं यह स्वीकार कर लिया था कि वह इस योग्य नहीं था कि उस पर कोई भाषण दिया जाय। मि. डिजरायली सरकारी पद से अलग इंगलैंड के सबसे प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ हैं और इसलिए उनके द्वारा अत्यंत श्रम-पूर्वक तथा विस्तार से तैयार की गयी राय के रूप में उनके भाषण की ओर बाहर के देशों को अवश्य ध्यान देना चाहिए। "एंग्लो-इंडियन साम्राज्य के पतन के सम्बंध में" उनके "विचारों" की एक संक्षिप्त व्याख्या खुद उन्हीं के शब्दों में प्रस्तुत करके मैं अपने को संतुष्ट कर लूंगा।

> "भारत की उथल-पुथल एक फौजी बगावत है, या वह एक राष्ट्रीय विद्रोह है? फौजों का व्यवहार किसी आकस्मिक उत्तेजना का परिणाम है, अथवा वह एक संगठित षड्यंत्र का नतीजा है?"

मि. डिजरायली फरमाते हैं कि पूरा सवाल इन्हीं नुक्तों पर निर्भर करता है। उन्होंने कहा कि पिछले दस वर्षों से पहले तक भारत में ब्रिटिश साम्राज्य **फूट डालो और शासन करो** के पुराने सिद्धान्त पर आधारित था — किन्तु उस समय तक भारत की विभिन्न जातियों के प्रति सम्मान प्रदर्शित करते हुए, उनके धर्म में किसी प्रकार के हस्तक्षेप से बचते हुए, और उनकी भू-सम्पत्ति की रक्षा करते हुए ही इस सिद्धान्त पर अमल किया जाता था। देशी सिपाहियों की फौज देश की अशान्त भावनाओं को अपने अन्दर समेट कर बचाव के एक साधन का काम करती थी। परन्तु हाल के वर्षों में भारत की सरकारी व्यवस्था में एक नये सिद्धान्त को — जातियों को नष्ट करने के सिद्धान्त को — शामिल कर लिया गया है। देशी राजे-रजवाड़ों को बलपूर्वक नष्ट करके,

सम्पत्ति की निश्चित व्यवस्था को उलट-पुलट करके तथा आम लोगो के धर्म में हस्तक्षेप करके इस सिद्धान्त को अमल में लाया गया है। १८४८ में ईस्ट इंडिया कम्पनी की आर्थिक कठिनाइयां ऐसी जगह पर पहुच गयी थी जहां उसके लिए यह आवश्यक हो गया था कि वह अपनी आमदनी को किसी न किसी तरीके से बढाये। तब कौंसिल की एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई" जिसमे लगभग बिना किसी छिपाव-दुराव के साफ-साफ, यह सिद्धान्त तय कर दिया गया कि अधिक आमदनी हासिल करने का एकमात्र तरीका यही हो सकता है कि देशी राजे-रजवाडो को मिटा कर ब्रिटिश अमलदारियो का विस्तार किया जाय। इसी के अनुसार, जब सतारा के राजा* की मृत्यु हुई तो उनके गोद लिये हुए वारिस को ईस्ट इंडिया कम्पनी ने नही माना और उल्टे उनके राज्य को हड़प कर उसे अपनी हुकूमत में शामिल कर लिया। उसके बाद से जब भी कोई देशी राजा बिना अपना स्वाभाविक वारिस छोड़े मरा, तो उसके राज्य को हड़प लेने की इसी व्यवस्था पर अमल किया गया। गोद लेने का सिद्धान्त भारतीय समाज की आधारशिला है : सरकार ने उसको मानने से व्यवस्थित रूप से इन्कार कर दिया। और, इसी तरह, १८४८ से १८५४ तक, एक दर्जन से अधिक स्वतंत्र राजाओं के राज्यों को बलपूर्वक ब्रिटिश साम्राज्य मे मिला लिया गया। १८५४ मे बरार के राज्य पर जबर्दस्ती कब्जा कर लिया गया। बरार का क्षेत्रफल ८० हजार वर्ग मील था, ४० से ५० लाख तक उसकी आबादी थी और उसके पास विशाल सम्पत्ति थी। इस तरह बलपूर्वक हड़पे गये राज्यो की सूची का अन्त मि. डिजरायली ने अवध के नाम के साथ किया। उन्होंने कहा कि अवध को हडपने की चाल के फलस्वरूप ईस्ट इंडिया सरकार की न केवल हिन्दुओं के साथ, बल्कि मुसलमानो के साथ भी टक्कर हो गयी। इसके बाद और भी आगे जाकर मि. डिजरायली ने बताया कि भारत की साम्पत्तिक व्यवस्था मे सरकार की नयी व्यवस्था ने पिछले दस वर्षों मे किस भांति उलट-फेर किये हैं।

वे कहते है, "गोद लेने के नियम का सिद्धान्त केवल भारत के राजाओं और रजवाडों के विशेषाधिकार की वस्तु नही है, वह हिन्दुस्तान के हर उस व्यक्ति पर लागू होता है जिसके पास भू-सम्पत्ति है और जो हिन्दू धर्म को मानता है।"

मैं उनके भाषण के एक स्थल का उद्धरण देता हूं :

"वह महान सामन्त, अथवा जागीरदार, जो अपने सम्राट की सार्वजनिक सेवा के एवज मे अपनी भूमि का स्वामी बना हुआ है, और वह

---

* अप्पा साहिब। —सं.

इनामदार जो पूरे भूमि-कर से मुक्त जमीन का स्वामी है—जो, अगर एकदम सही तौर पर नही तो, कम से कम, प्रचलित तौर पर हमारे माफीदार के समान है—इन दोनो ही वर्गो के लोग—और ये वर्ग भारत मे बहुत है—स्वाभाविक वारिसो के न रहने पर अपनी रियासतो के लिए वारिस प्राप्त करने के लिए हमेशा इस सिद्धान्त का उपयोग करते हैं। सतारा के हड़प लिये जाने से ये वर्ग एकदम विचलित हो उठे है। उन दस छोटे किन्तु स्वतत्र राजाओ की अमलदारियो के हड़प लिये जाने से भी, जिनका मैने पहले ही जिक्र किया है, वे विचलित हो उठे थे और जब बरार के राज्य को हड़प लिया गया तब वे केवल विचलित ही नहीं हुए थे, बल्कि अधिकतम मात्रा मे भयभीत भी हो उठे थे। अब कौन आदमी सुरक्षित रह गया था? भारत भर मे कौन सामन्त, कौन माफीदार—जिसका खुद का अपना बेटा नही था—सुरक्षित रह गया था? (बिल्कुल ठीक कहते है! ठीक कहते हैं!) यह भय अकारण नही था; इन चीजो के बारे मे बड़े पैमाने पर काम किया गया था और उन्हे अमली रूप दिया गया था। भारत मे पहली बार जागीरों और इनामो पर फिर से कब्जा कर लेने का सिलसिला शुरू हुआ। इसमे सदेह नही कि ऐसे भी नादानी-भरे अवसर आये थे जब सनदो (अधिकार-पत्रो) की जाच-पडताल करने की कोशिशें की गयी थी, किन्तु गोद लेने के कानून को ही खतम कर दिया जाय, इसका स्वप्न मे भी किसी ने कभी ख्याल नही किया था। इसलिए कोई भी सत्ता, कोई भी सरकार इस स्थिति मे कभी नही थी कि जो लोग अपने स्वाभाविक वारिस नही छोड़ गये थे, उनकी जागीरो और इनामो पर वह फिर से कब्जा कर ले। यह आमदनी का एक नया जरिया था; परन्तु, इन वर्गो के हिन्दुओं के दिमागों पर इन तमाम चीजों का जिस समय असर पड़ रहा था, उसी समय साम्पत्तिक व्यवस्था मे उलट-फेर करने के लिए सरकार ने एक और कदम उठा लिया। सदन का ध्यान अब मैं उसी की ओर दिलाना चाहता हू। निस्सन्देह, १८५३ मे समिति के सामने ली गयी गवाही के पढने मे, सदन को इस बात की जानकारी है कि भारत मे जमीन के ऐसे बहुत बड़े-बड़े भाग हैं जो भूमि-कर (मालगुजारी) से बरी हैं। भारत मे भूमि-कर से बरी होना इस देश मे भूमि-कर देने से मुक्त होने मे कही अधिक महत्व रखता है, क्योंकि, आम तौर से, और प्रचलित अर्थ मे कहा जाय तो, भारत मे भूमि-कर ही राज्य का सम्पूर्ण कर है।

"इन मुआफियो की उत्पत्ति कब हुई थी, इसका पता लगाना कठिन है; किन्तु इसमे सन्देह नही कि वे अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही

हैं। वे भिन्न-भिन्न तरह की है। निजी मुआफी की उन जमीनो के अतिरिक्त, जिनकी अत्यन्त बहुतायत है, भूमि-कर से मुक्त ऐसी बड़ी-बडी जागीरें भी वहा हैं जो मस्जिदो और मंदिरों को दे दी गयी है।"

यह बहाना करके कि मुआफी के झूठे दावे बहुत है, भारत की जागीरों की सनदो की जाच करने का काम ब्रिटिश गवर्नर जनरल* ने स्वय अपने कधे पर ले लिया है। १८४८ मे स्थापित नयी व्यवस्था के अन्तर्गत,

"सनदो की जाच-पड़ताल करने की उस योजना को यह प्रमाणित करने की दृष्टि मे फौरन कलेजे से लगा लिया गया कि सरकार शक्तिशाली है, कार्यकारिणी बहुत जोरदार है तथा वह योजना स्वयं सार्वजनिक आमदनी का एक अत्यन्त लाभदायी स्रोत है। अस्तु, बंगाल प्रेसीडेन्सी तथा उसके आस-पास के इलाको की जागीरो की सनदों की जाच करने के लिए कमीशन बैठा दिये गये। बम्बई प्रेसीडेन्सी मे भी वे नियुक्त कर दिये गये और, जिन प्रान्तो की नयी-नयी व्यवस्था की गयी थी उनमे पैमाइश करने की आज्ञा जारी कर दी गयी, जिससे कि पैमाइशो के पूरे हो जाने पर इन कमीशनों का काम आवश्यक निपुणता के साथ किया जा सके। इस बात मे कोई सन्देह नही है कि पिछले नौ वर्षों में भारत की जागीरों की माफी-प्राप्त सम्पत्ति की जाच-पड़ताल का काम इन कमीशनों द्वारा बहुत तेज गति से किया गया है और उससे भारी नतीजे भी निकले हैं।"

मि. डिजरायली ने हिसाब लगाकर बताया है कि इन जागीरों को उनके मालिकों से वापिस ले लेने के फलस्वरूप जो आमदनी हुई है, वह बंगाल प्रेसीडेन्सी मे ५ लाख पौंड प्रति वर्ष, बम्बई प्रेसीडेन्सी मे ३ लाख ७० हजार पौंड प्रति वर्ष, और पजाब में २ लाख पौंड प्रति वर्ष से कम नही है, इत्यादि। भारतवासियो की सम्पत्ति को हड़पने के केवल इस तरीके से सन्तुष्ट न होकर, ब्रिटिश सरकार ने उन देशी अमीरों की पेंशनों को भी बन्द कर दिया है जिन्हें सधियों के अन्तर्गत देने के लिए वह बाध्य थी।

मि. डिजरायली कहते है, "दूसरो की सम्पत्ति को जब्त करने का यह एक नया साधन है जिसका अत्यन्त व्यापक, आश्चर्यजनक और दिल दहलानेवाले पैमाने पर इस्तेमाल किया गया है।"

इसके बाद मि. डिजरायली भारतवासियो के धर्म मे हस्तक्षेप करने की बात को उठाते हैं। उस पर विचार करने की जरूरत हमें नहीं है। अपनी

* डलहौज़ी। —सं.

तमाम स्थापनाओं से वह इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि भारत की वर्तमान अशांति एक फौजी बगावत नहीं है, बल्कि वह एक राष्ट्रीय विद्रोह है— सिपाही उसके केवल सक्रिय साधन हैं। अपने उपदेशात्मक भाषण का अंत उन्होंने सरकार को यह सलाह देकर किया है कि आक्रमण की अपनी वर्तमान नीति पर चलते जाने के बजाय उसे चाहिए कि वह अपना ध्यान भारत के आर्थिक सुधार के काम की ओर दे।

कार्ल मार्क्स द्वारा २८ जुलाई, १८५७ को लिखा गया।

१४ अगस्त, १८५७ के "न्यू-यौर्क डेली ट्रिब्यून", अंक ५०९१, में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

भारत की ब्रिटिश सेना में वास्तव में ३० हजार सैनिक हैं। अगले छै महीनों में अंग्रेज इंगलैंड से जो सैनिक वहा भेज सकते हैं, उनकी संख्या २० या २५ हजार सैनिको से अधिक नही हो सकती। इनमें से ६ हजार सैनिक ऐसे होंगे जो भारत में योरोपियनों की खाली हुई जगहो पर काम करेंगे। बाकी बचे १८ या १९ हजार सैनिकों की शक्ति भी कठिन यात्रा की हानियों, प्रतिकूल जलवायु के नुकसानों और अन्य दुर्घटनाओ के कारण कम होकर लगभग १४ हजार सैनिको की हो जायगी। वे ही युद्ध के मैदान में उतर सकेंगे। ब्रिटिश सेना को फैसला करना होगा कि या तो वह अपेक्षाकृत इतनी कम संख्या के साथ बागियों का सामना करे, या फिर उनका सामना करने का खयाल एकदम छोड दे। हम अभी तक इस चीज को नही समझ पा रहे हैं कि दिल्ली के इर्द-गिर्द फौजो को जमा करने के काम मे वे इतनी ढिलाई क्यो दिखा रहे हैं। अगर इस मौसम में भी गर्मी एक अविजेय बाधा प्रतीत होती है, जो सर चार्ल्स नेपियर के दिनो में सिद्ध नही हुई थी, तो कुछ महीनों बाद, योरोपियन फौजों के आने पर, कुछ न करने के लिए बारिश और भी अच्छा बहाना उपस्थित कर देगी। इस चीज को कभी नहीं भुलाया जाना चाहिए कि वर्तमान बगावत दरअसल जनवरी के महीने मे ही शुरू हो गयी थी; और, इस तरह, अपने गोला-बारूद तथा अपनी फौजो को तैयार रखने के लिए ब्रिटिश सरकार को काफी पहले से चेतावनी मिल चुकी थी।

अंग्रेजी फौजों की घेरेबंदी के बाद भी दिल्ली पर देशी सिपाहियों का इतने दिनों तक कब्जा बने रहने का निस्सन्देह स्वाभाविक असर हुआ है। बगावत कलकत्ते के एकदम दरवाजे तक पहुच गयी है, बंगाल की ५० रेजीमेन्टों का अस्तित्व मिट गया है, स्वयं बंगाल की सेना अतीत की एक कहानी मात्र बन गयी है, और एक विशाल क्षेत्र में विप्लवकारियों ने इधर-उधर बिखरे तथा अलग-थलग जगहों मे फंस गये योरोपियनो की या तो हत्या कर दी है, या वे एकदम हताश होकर अपनी हिफाजत करने की कोशिश कर रहे हैं। इस बात का पता लग जाने के बाद कि सरकार के आसन पर अचानक हमला करने का एक षड्यंत्र रच लिया गया था जो, कहा जाता है कि, पूरे ब्यौरे के साथ मुकम्मिल था, स्वयं कलकत्ते के ईसाई बाशिन्दों ने एक स्वयंसेवक रक्षा-दल तैयार कर लिया है और वहां की देशी फौजों को तोड़ दिया गया है। बनारस में एक देशी रेजीमेन्ट से हथियार छीनने की कोशिश का सिखो के एक दल तथा १३वीं अनियमित घुड़सवार सेना ने विरोध किया है। यह तथ्य बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इससे यह मालूम होता है कि मुसलमानों की ही तरह सिख भी ब्राह्मणों के साथ मिलकर एक आम मोर्चा बना रहे हैं; और, इस तरह, ब्रिटिश शासन के विरुद्ध समस्त भिन्न-भिन्न जातियों की व्यापक एकता तेजी

से कायम हो रही है। अंग्रेजों का यह दृढ़ विश्वास रहा है कि देशी सिपाहियों की सेना ही भारत में उनकी सारी शक्ति का आधार है। अब, यकायक, उन्हें पक्का यकीन हो गया है कि ठीक वही सेना उनके लिए खतरे का एकमात्र कारण बन गयी है। भारत के सम्बंध में हुई पिछली बहसों के दौरान भी, नियंत्रण बोर्ड (बोर्ड ऑफ कंट्रोल) के अध्यक्ष मि. वर्नन स्मिथ ने ऐलान किया था कि "इस तथ्य पर कभी भी जरूरत से ज्यादा जोर नहीं दिया जा सकता कि देशी रजवाड़ों और विद्रोह के बीच किसी प्रकार का कोई सम्बध नही है।" दो दिन बाद, उन्हीं वर्नन स्मिथ को एक समाचार प्रकाशित करना पड़ा जिसमें अशुभ-सूचक यह परिच्छेद है :

> "१४ जून को अवध के भूतपूर्व बादशाह* को, जिनके बारे में पकड़े गये कागजों से पता चला था कि वह षड़यंत्र में शामिल थे, फोर्ट विलियम के अन्दर कैद कर दिया गया था और उनके अनुयाइयों से हथियार छीन लिये गये थे।"

धीरे-धीरे और भी ऐसे तथ्य सामने आयेंगे जो स्वयं जौन बुल तक को इस बात का विश्वास दिला देंगे कि जिसे वह एक फौजी बगावत समझता है, वह वास्तव में, एक राष्ट्रीय विद्रोह है।

अंग्रेजी अखबार इस विश्वास से बहुत सांत्वना पाते प्रतीत होते हैं कि विद्रोह अभी तक बंगाल प्रेसीडेन्सी की सीमाओं से आगे नहीं फैला है और बम्बई तथा मद्रास की फौजों की वफादारी के सम्बंध में रत्ती भर भी सन्देह करने की गुंजाइश नही है। परन्तु, मुख्कर विचार के इस पहलू को निजाम‡ की घुड़सवार सेना में औरंगाबाद में शुरू हुई बगावत के सम्बंध में पिछली डाक से आयी खबर बुरी तरह काटती प्रतीत होती है। औरंगाबाद बम्बई प्रेसीडेंसी के इसी नाम के एक जिले की राजधानी है। स्पष्ट है कि पिछली डाक ने बम्बई की सेना में भी विद्रोह के श्रीगणेश का ऐलान कर दिया है। वास्तव मे, कहा तो यह जाता है कि औरंगाबाद की बगावत को जनरल वुडबर्न ने फौरन कुचल दिया है। लेकिन, क्या मेरठ की बगावत को भी फौरन कुचल दिये जाने की बात नही कही गयी थी? सर एच. लॉरेन्स द्वारा कुचल दिये जाने के बाद, लखनऊ की बगावत भी क्या पखवाड़े भर बाद पुनः और भी अदम्य रूप में नहीं फूट पड़ी थी? क्या यह याद नहीं है कि भारतीय फौज की बगावत के सम्बध मे दी गयी पहली सूचना के साथ ही साथ इस बात की भी सूचना नहीं

---

* वाजिदअली शाह। —सं.

‡ हैदराबाद राज्य का पूर्ण सत्ताशाली शासक।

दी गयी थी कि शान्ति स्थापित कर दी गयी है ? बम्बई या मद्रास की सेनाओं का अधिकांश भाग यद्यपि नीची जाति के लोगों का बना है, किन्तु प्रत्येक रेजीमेन्ट में अब भी कुछ सौ राजपूत मिल जायेंगे। बंगाल की सेना के उच्च वर्ण के विद्रोहियों के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए यह संख्या पर्याप्त है। पंजाब को शान्त घोषित किया गया है, किन्तु इसी के साथ हमें सूचित किया गया है कि "फीरोजपुर में, १३ जून को, फौजी फांसियां हुई थीं"! और, इसी के साथ वाघन की सेना—पंजाब की ५वीं पैदल सेना—की "५५वीं देशी पैदल सेना का पीछा करने में सराहनीय कार्य करने" के लिए प्रशंसा की गयी है। कहना पड़ेगा कि यह बहुत ही विचित्र प्रकार की "शान्ति" है!

कार्ल मार्क्स द्वारा ३१ जुलाई, १८५७ को लिखा गया।

१४ अगस्त, १८५७ के "न्यू-यॉर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५०६१, में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

कार्ल मार्क्स

भारतीय विद्रोह की स्थिति

लंदन, ४ अगस्त, १८५७

भारत से आने वाली पिछली डाक के साथ-साथ जो भारी-भरकम रिपोर्टें लंदन पहुंची थीं, उनसे दिल्ली पर कब्जा किये जाने की अफवाह इतनी तेजी से फैल गयी थी और उसने इतनी अधिक मान्यता प्राप्त कर ली थी कि सट्टा बाजार के कारोबार पर भी उसका असर पड़ा था। इन खबरों की हल्की-फुल्की सूचना तारों के जरिए पहले ही प्राप्त हो चुकी थी। सेवास्तोपोल पर कब्जा करने के झांसे[16] का, छोटे पैमाने पर, यह दूसरा संस्करण था! अगर मद्रास से आने वाले उन अखबारों की, जिनमें अनुकूल खबर आयी बतायी गयी थी, तारीखों और उनके मजमूनों की जरा भी जांच कर ली जाती, तो यह भ्रम दूर हो जाता। कहा जाता है कि मद्रास सम्बंधी सूचना आगरा से १७ जून को भेजे गये निजी पत्रों के ऊपर आधारित है, लेकिन १७ जून को ही लाहौर से जारी की गयी एक आधिकारिक विज्ञप्ति बताती है कि १६ तारीख के तीसरे पहर के चार बजे तक दिल्ली के आसपास सब कुछ शान्त था। और १ जुलाई की तारीख का बम्बई टाइम्स" लिखता है कि "कई हमलों को रोक देने के बाद, १७ तारीख की सुबह को जनरल बरनार्ड सहायता के लिए आनेवाले और सैनिकों का इन्तजार कर रहे थे।" मद्रास से आयी सूचना की तारीख के बारे में इतना ही काफी है। जहां तक इस सूचना के मजमून का ताल्लुक है, तो स्पष्ट है कि दिल्ली की कुछ ऊंची जगहों पर बलपूर्वक अधिकार कर लेने के सम्बंध में ८ जून को जारी की गयी जनरल बरनार्ड की विज्ञप्ति तथा घेरेबंदी में पड़े लोगों द्वारा १२ और १४ जून को किये गये अचानक हमलों के सम्बंध में प्राप्त कुछ निजी रिपोर्टें ही उसका आधार हैं।

आखिरकार, ईस्ट इंडिया कम्पनी की अप्रकाशित योजनाओं के आधार पर दिल्ली और उसकी छावनियों का एक फौजी नक्शा कैप्टन लॉरेन्स ने तैयार कर दिया है। इससे हम देख सकते हैं कि दिल्ली की मोर्चेबन्दी इतनी

कमजोर नही है जितनी वह पहले बतायी गयी थी, और न वह इतनी मजबूत ही है जितनी इस समय जतलायी जा रही है। उसके अन्दर एक किला है जिस पर या तो अचानक धावे के जरिए फांदकर या सीधे रास्तो से अन्दर जाकर कब्जा किया जा सकता है। उसकी दीवारें, जो सात मील से भी अधिक लम्बी है, पक्के ईट-चूने की बनी हुई हैं; किन्तु उसकी ऊंचाई बहुत नही है। खाई संकरी है और बहुत गहरी नही है, और बाजू की मोर्चे-बन्दियां फसील से कायदे से नही जुड़ी हुई है। बीच-बीच मे कोटे (ऊंचे रक्षा-स्तम्भ) बने हुए है। फसील के ऊपर से कोटो के अन्दर होती हुई, नीचे के उन कमरो तक चक्करदार सीढियां जाती हैं जो खाई के धरातल पर बने हुए हैं; और इनमें पैदल सैनिको के लिए गोली चलाने के छेद बने हुए है। इनमे से की जानेवाली गोली-वर्षा खन्दक को पार करके फसील पर चढनेवाली टुकड़ी के लिए बहुत परेशानी का कारण बन सकती है। फसील की रक्षा करनेवाले बुर्जों के अन्दर राइफलमैनों के बैठने के लिए सुरक्षित स्थान भी बने हुए है, लेकिन इनके इस्तेमाल को तोपों के जरिए रोका जा सकता है। विप्लव जिस समय शुरू हुआ था, उस समय शहर के अन्दर के शस्त्रागार में ९,००,००० कारतूस, घेरा डालने की तोपखाने वाली दो पूरी ट्रेनें, बहुत-सी तोपें और १०,००० देसी बन्दूकें थी। बारूदखाने को, वहां के बाशिन्दो की इच्छा के अनुसार, दिल्ली से बाहर की छावनियो मे पहुंचा दिया गया था। उसमें बारूद के १०,००० से कम पीपे नही थे। फौजी महत्व की जिन ऊंचाइयो पर ८ जून को जनरल बरनार्ड ने कब्जा किया था, वे दिल्ली से उत्तर-पश्चिम की दिशा में उसी स्थान पर स्थित हैं जहां दीवारों के बाहर की छावनियां भी कायम की गयी थी।

प्रामाणिक योजनाओ पर आधारित जो ब्योरा प्राप्त हुआ है, उससे यह बात अच्छी तरह समझ मे आ जायगी कि जो ब्रिटिश सेना आज दिल्ली के सामने पड़ी हुई है, यदि वह २६ मई को वहां पर होती तो उसके एक ही जोरदार हमले से विद्रोह का गढ धराशायी हो जाता — और यह सेना उस वक्त वहां पहुच सकती थी यदि वहां जाने के लिए पर्याप्त साधन उसे मुहैया कर दिये जाते। जून के अन्त तक विद्रोह करनेवाली रेजीमेन्टो की संख्या की **बम्बई टाइम्स** मे छपी और लदन के अखबारो में पुनर्मुद्रित सूची और उनके विद्रोह की तारीखो को देखने से स्पष्ट रूप में यह सिद्ध हो जाता है कि २६ मई को दिल्ली पर केवल ४ से ५ हजार सैनिकों का कब्जा था। इतनी सेना सात मील लम्बी फसील की हिफाजत करने की बात क्षण भर के लिए भी नहीं सोच सकती थी। दिल्ली से मेरठ केवल चालीस मील के फासले पर

स्थित है। १८५३ के आरम्भ से ही, हमेशा उसने बंगाल के तोपखाने के सदर मुकाम की तरह काम किया है, इसलिए वहां फौजी वैज्ञानिक कामों की प्रमुख प्रयोगशाला मौजूद थी तथा मोर्चे पर लड़ने और घेरा डालने के पैतरों का अभ्यास करने के लिए वहा परेड का भी एक मैदान था। इस वजह से इस बात को समझना और भी मुश्किल हो जाता है कि वहां के ब्रिटिश कमांडर के पास उन साधनों की कमी क्योंकर हो गयी थी जिनके जरिए एक जोरदार अचानक हमला करके नगर पर वह कब्जा कर लेता—उसी तरह का अचानक हमला जिस तरह के हमलों से भारत की अंग्रेजी फौजें देशी लोगों के ऊपर अपना प्रभुत्व कायम कर लेने मे हमेशा सफल हो जाती है पहले हमें सूचित किया गया था कि घेरा डालने की तोपखाने वाली ट्रेन का* इन्तजार था, फिर कहा गया कि सहायता के लिए और सैनिकों की जरूरत थी; और अब द प्रेस,[*] जो लंदन के सबसे अधिक जानकार पत्रों मे से है, हमें बताता है कि,

"हमारी सरकार को इस तथ्य का पता है कि जनरल बरनार्ड के पास सामानों और गोले-बारूद की कमी है, कि उनके पास गोला-बारूद की सप्लाई केवल २४ राउंड फी सैनिक के हिसाब से है।"

दिल्ली की ऊची जगहों पर कब्जा करने के बाद जनरल बरनार्ड ने ८ जून को जो विज्ञप्ति निकाली थी, उससे हम देखते है कि शुरू में खुद उसका इरादा दिल्ली पर अगले दिन हमला करने का था। इस योजना पर वह अमल नही कर सका और इसके बजाय, किसी न किसी दुर्घटना के कारण, घिरे हुए लोगों के साथ वह केवल सुरक्षात्मक लड़ाई ही लड़ता रहा।

दोनों तरफ कितनी शक्तियां हैं, इसका हिसाब लगाना इस समय बहुत कठिन है। भारतीय अखबारों के वक्तव्य एकदम परस्पर-विरोधी हैं; लेकिन, हमारा ख्याल है कि बोनापार्टवादी पेज[**] के एक भारतीय सम्वाददाता द्वारा भेजी गयी खबरो पर कुछ भरोसा किया जा सकता है जो कलकत्ता स्थित फ्रांसीसी कौंसल से प्रसारित मालूम होती हैं। उक्त सम्वाददाता के बयान के अनुसार १४ जून को जनरल बरनार्ड की सेना में लगभग ५७०० सैनिक थे, जिनकी संख्या उसी महीने की २० तारीख को अपेक्षित सैनिक-कुमक पहुचने के कारण दुगनी (?) हो जाने की आशा थी। उसकी ट्रेन में घेरा डालने की ३० भारी तोपें थी। इसके विपरीत, विप्लवकारियों की फौज में लगभग ४०,००० सैनिक होने का अनुमान था, जिनका संगठन तो काफी बुरा था पर वे आक्रमण और बचाव के सभी साधनों से अच्छी तरह लैस थे।

---

* इस संग्रह का पृष्ठ ४६ देखिए। —सं.

चलते-चलते हम यहां इस बात का भी उल्लेख कर दें कि अजमेरी गेट के बाहर, शायद गाजी खां के मकबरे में, जो ३,००० विद्रोही सैनिक कैम्पों में थे, वे अंग्रेजी फौज के आमने-सामने नहीं थे जैसा कि लंदन के कुछ अखबार कल्पना करते हैं; बल्कि इसके विपरीत उन दोनों के बीच दिल्ली की पूरी चौड़ाई जितनी दूरी थी, क्योंकि अजमेरी गेट आधुनिक दिल्ली के दक्षिण-पश्चिमी भाग के एक छोर पर, प्राचीन दिल्ली के खंडहरों के उत्तर में स्थित है। नगर के उस भाग में विद्रोहियों के इसी तरह के कुछ और कैम्प कायम किये जाने में कोई चीज बाधक नहीं बन सकती है। नगर के उत्तर-पूरब या नदी की दिशा में नावों का पुल उनके अधिकार में है जिससे अपने देशवासियों के साथ उनका सम्पर्क निरन्तर बना हुआ है और वे बिना किसी रोक-टोक के सैनिकों और सामानों की सप्लाय प्राप्त करते रहते हैं। छोटे पैमाने पर दिल्ली एक किला जैसा प्रतीत होती है जिसका अपने देश के अन्दरूनी भाग के साथ संचार का मार्ग (सेवास्तोपोल की भांति ही) खुला हुआ है।

अंग्रेजी फौज की कार्रवाइयों में हुई देरी की वजह से न केवल घेरे में बंद लोगों को अपनी रक्षा के लिए बड़ी संख्या में सैनिकों को जुटाने का अवसर मिल गया है, बल्कि कई हफ्तों तक दिल्ली पर कब्जा किये रहने तथा बार-बार हमले करके योरोपियन फौजों को परेशान करते रहने की अनुभूति ने और इसी के साथ-साथ पूरी सेना में हो रहे नये विद्रोहों की रोजाना आनेवाली खबरों ने सिपाहियों के मनोबल को निस्सन्देह मजबूत कर दिया है। अंग्रेज अपनी छोटी फौजों से शहर को घेरने की बात हर्गिज नहीं सोच सकते, वे तो अचानक हल्ला बोल कर ही उस पर कब्जा कर सकते हैं। परन्तु, अगली साधारण डाक से दिल्ली पर अधिकार कर लिये जाने की खबर यदि नहीं आती है, तो इस बात को हम लगभग पक्का मान सकते हैं कि अंग्रेजों की तरफ से की जानेवाली तमाम गम्भीर कार्रवाइयों को कुछ महीनों के लिए स्थगित कर देना पड़ेगा। वर्षा ऋतु जोरों से शुरू हो जायगी और "जमुना की गहरी और तेज धार" से परिखा को भर कर वह नगर के उत्तर-पूर्वी भाग को सुरक्षित बना देगी। दूसरी तरफ, ७५ डिग्री से लेकर १०२ डिग्री तक की गर्मी पड़ेगी और उसके साथ औसतन नौ इंच तक की बारिश जुड़ी रहेगी— इससे योरोपियनों को असली एशियाई हैजे का शिकार बनना पड़ेगा। तब फिर लार्ड एलेनबरो के ये शब्द सच चरितार्थ हो जायेंगे :

> "मेरी राय है कि सर एच. बरनार्ड जहां पर हैं, वहीं बने नहीं रह सकते — जलवायु ऐसा नहीं होने देगी। वर्षा जब जोरों से शुरू हो जायगी, तब मेरठ, अम्बाला और पंजाब से उनका सम्बंध कट जायगा; भूमि की एक

कार्ल मार्क्स

भारतीय विद्रोह

लंदन, १४ अगस्त, १८५७

३० जुलाई को ट्रीस्ट से तार द्वारा और १ अगस्त को भारत की डाक* द्वारा सबसे पहले जब भारतीय समाचार मिले थे, तो उनके मजमूनों और तारीखों के आधार पर, इस बात को फौरन ही हमने स्पष्ट कर दिया था कि दिल्ली पर कब्जा करने की बात एक बहुत ही तुच्छ किस्म का झांसा और सेवास्तोपोल के पतन की कभी न भुलाई जानेवाली बात की बहुत घटिया किस्म की एक नकल थी। परन्तु अपने को धोखा देने की जौन बुल की शक्ति इतनी असीम है कि उसके मंत्रियों, उसके सट्टेबाजों और उसके अखबारों ने, दरहकीकत सबों ने, इस बात का उसे पूरा विश्वास दिला दिया था कि जिन खबरों में जनरल बरनार्ड की महज सुरक्षात्मक स्थिति को खोलकर सामने रखा गया था, उनमें ही उसके दुश्मनों के पूर्ण विनाश का प्रमाण मौजूद था। यह भ्रम दिनोदिन बढ़ता गया। अन्त में उसने ऐसी शक्ति प्राप्त कर ली कि ऐसे मामलों में जनरल सर डि लेसी ईवन्स जैसे होशियार आदमी ने भी उससे प्रभावित होकर, १२ अगस्त की रात को, हर्षित-उल्लसित कॉमन्स सभा में यह ऐलान किया कि दिल्ली पर अधिकार कर लिये जाने की अफवाह की सचाई में उन्हें यकीन है। किन्तु इस उपहासास्पद प्रदर्शन के बाद बबूले का फूटना अनिवार्य था, और अगले ही दिन, यानी १३ अगस्त को भारत की डाक के आने से पहले ही, ट्रीस्ट और मार्सेल्स से एक के बाद एक ऐसे समाचार तार से आये जिन्होंने इस बात के सम्बंध में किसी सन्देह की गुंजाइश नहीं रहने दी कि २७ जून को दिल्ली ठीक वहीं खड़ी थी जहां वह पहले थी, और, जनरल बरनार्ड, जो अब भी बचाव की ही लड़ाई लड़ने के लिए मजबूर थे और जिन्हें घिरे हुए लोगों द्वारा लगातार किये जाने वाले

---

* [illegible] की ओर इशारा किया जा रहा है। [illegible] —सं.

प्रचंड धावों का सामना करना पड़ रहा था, इस बात से बहुत खुश थे कि उस समय तक वह वहां जमे रह सके थे।

हमारा खयाल है कि अगली डाक से यह खबरें आ सकती हैं कि अंग्रेजी फौज पीछे हट रही है, या, कम से कम, ऐसे वाकयात की खबरें तो आ ही सकती है जो इस तरह पीछे हटने की संभावना को व्यक्त करें। यह तय है कि दिल्ली की फसील की लम्बाई इस तरह की धारणा नही बनने दे सकती कि पूरी की पूरी फसील की हिफाजत अच्छी तरह की जा सकती है। इसके विपरीत, उसका विस्तार इस बात के लिए प्रेरित करता है कि मुख्य हमले को केन्द्रीभूत और अचानक बनाया जाय। किन्तु, युद्ध के उन निराले साहसपूर्ण तरीकों का सहारा लेने के बजाय, जिनके द्वारा सर चार्ल्स नेपियर एशियाई मस्तिष्कों को हक्का-बक्का कर दिया करते थे, जनरल बरनार्ड मोर्चेबन्द नगरों और घेरों और बमबारी, आदि के योरोपीय विचारों के सागर मे गोते लगाते हुए मालूम पड़ते हैं। उनके सैनिकों की संख्या बढ़कर लगभग १२,००० आदमियों तक जरूर पहुच गयी थी; इनमे ७,००० योरोपियन थे और ५,००० "वफादार देसी लोग।" लेकिन, दूसरी तरफ, इससे भी इनकार नही किया जा सकता कि विद्रोहियों के पास भी रोज नये सहायक सैनिक पहुच रहे थे। इससे सही तौर से यह मान लिया जा सकता है कि घेरा डालनेवालों और घिरे हुए लोगों की संख्या का अन्तर उतना ही बना रहा है। इसके अलावा, जिस जगह पर अचानक धावा बोलकर जनरल बरनार्ड निश्चित सफलता प्राप्त कर सकते हैं, वह मुगलों का महल है। यह महल ऐसी जगह पर स्थित है जहां से सब तरफ नजर रखी जा सकती है। किन्तु, वर्षा ऋतु की वजह से, जो शुरू हो गयी होगी, उसकी तरफ नदी की ओर से बढ़ना अव्यावहारिक हो गया होगा। और महल के ऊपर अगर कश्मीरी गेट और नदी के बीच से हमला किया जाता और यदि वह असफल हो जाता, तो इससे हमलावरों के लिए भयंकर सकट पैदा हो जाता। अन्त में, निश्चित है कि वर्षा ऋतु के शुरू हो जाने के बाद, जनरल की कार्रवाइयों का मुख्य लक्ष्य संचार के तथा पीछे हटने के अपने मार्गों की रक्षा करना हो गया होगा। एक शब्द में, इस बात को मानने का हमें कोई कारण दिखाई नही देता कि जिस काम को कही अधिक उपयुक्त मौसम मे करने से वह कतरा गया था, उसे वर्ष के इस सबसे अनुपयुक्त समय मे, अपनी उन फौजों की मदद से जो अब भी नाकाफी है, करने का वह साहस दिखायेगा। लंदन के अखबार जान-बूझकर जिस तरह आंखों पर पट्टी बांध कर अपने को बेवकूफ बनाये रखने की कोशिश करते है, उसके बावजूद, उच्चतम हल्कों तक मे इस तरह के हमले के सम्बंध मे गम्भीर सन्देह किया जा रहा है। इस बात को लॉर्ड पामर्सटन के मुखपत्र, **दी मॉर्निंग**

पोस्ट[11] में भी देखा जा सकता है। इस पत्र के जरखरीद लेखक हमें बताते हैं :

"इस बात मे हमें शक है कि इसके बाद, अगली डाक से भी दिल्ली पर कब्जा हो जाने की खबर हमें मिलेगी; लेकिन इस बात की जरूर हम आशा करते है कि, घेरा डालने वालों की सहायता के लिए रवाना हो गये सैनिक ज्यों ही काफी बड़ी संख्या में बड़ी तोपों को लेकर, जिनकी अब भी कमी मालूम हो रही है, वहां पहुंच जायंगे, त्यों ही विद्रोहियों के दुर्ग के पतन की खबर हमे अवश्य मिलेगी।"

स्पष्ट है कि अपनी कमजोरी, हिचकिचाहट और प्रत्यक्ष रूप से भयंकर भूलों की वजह से, ब्रिटिश जनरलों ने दिल्ली को भारतीय विद्रोह के राजनीतिक और सैनिक केन्द्र के प्रतिष्ठित पद पर पहुंचा दिया है। बहुत दिनों तक घेरा डाले रहने के बाद, या केवल अपने बचाव की कोशिश करते रहने के बाद, अंग्रेजी फौज अगर पीछे हटती है, तो इसे उसकी निश्चित हार माना जायगा; और यह चीज आम विद्रोह के लिए एक सिगनल जैसा काम करेगी। इसके अलावा, इससे बहुत भारी संख्या में ब्रिटिश सैनिकों के मरने का भी खतरा पैदा हो जायगा। अभी तक इस खतरे से वे उस जबर्दस्त हलचल के कारण बचे रहे हैं जो अचानक धावों, मुठभेड़ों आदि से युक्त घेरेबन्दी आदि की वजह से बनी रहती है। साथ ही इस बात की भी उन्हें आशा बनी रही है कि अपने दुश्मनों से जल्द ही वे भयानक बदला ले सकेंगे। जहां तक हिन्दुओं की उदासीनता की, अथवा ब्रिटिश शासन के साथ उनकी सहानुभूति की बात है, वह सब महज बकवास है। राजे-रजवाड़े, सच्चे एशियाइयों की तरह, मौके का इन्तजार कर रहे हैं। बंगाल की पूरी प्रेसीडेन्सी के लोग, जहां उनकी रोक-टोक करने के लिए मुट्ठी-भर भी योरोपियन नहीं हैं, अराजक कार्रवाइयों का आनन्द लूट रहे हैं; वहां ऐसा कोई है ही नहीं जिसके खिलाफ वे विद्रोह का झण्डा उठा सकें। यह उम्मीद करना कुछ अजूबा लगता है कि भारतीय विद्रोह भी एक योरोपीय क्रान्ति जैसा रूप धारण कर ले।

मद्रास और बम्बई की प्रेसीडेन्सियों में, जहां सेना ने अपना रुख अभी तक स्पष्ट नहीं किया है, जनता भी कुछ नहीं कर रही है। योरोपियन सैनिकों का मुख्य केन्द्रीय स्थान, अब भी, पंजाब ही बना हुआ है। वहां की देसी सेना से हथियार छीन लिये गये हैं। उसे उभाड़ने के लिए आवश्यक है कि पास-पड़ोस के अर्ध-स्वतंत्र राजे मैदान में कूद पड़ें। किन्तु, जितना विस्तृत षड्यंत्र बंगाल की सेना में देखा गया है, उसे देसी लोगों के गुप्त समर्थन तथा सहयोग के बिना इतने बड़े पैमाने पर नहीं चलाया जा सकता था। यह बात उतनी ही साफ

है जितनी यह कि सामानों तथा अवाजाही के साधनों को प्राप्त करने के मार्ग में अंग्रेजो को जिन जबर्दस्त कठिनाइयों का सामना करना पड रहा है, वे यह नही प्रकट करतीं कि किसान वर्ग उनकी तरफ अच्छी भावना रखता है। अंग्रेजो की सेनाएं जो इतने धीरे-धीरे एकत्रित हो पा रही है, उसका प्रमुख कारण भी यही है।

तार द्वारा इधर जो दूसरे समाचार प्राप्त हुए है, वे भी इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि उनसे हमें यह मालूम होता है कि एक तरफ तो, पंजाब के बिल्कुल दूसरे छोर पर, पेशावर में, विद्रोह उठ रहा है; और, दूसरी तरफ, झासी, सागर, इन्दौर, मऊ तथा अन्त में, औरंगाबाद से होता हुआ — जो उत्तर-पूर्व की दिशा में बम्बई से केवल १८० मील के फासले पर है — वह दिल्ली से बम्बई प्रेसीडेन्सी की ओर लम्बे-लम्बे डग भरता हुआ बढ़ रहा है। जहां तक बुन्देलखंड में स्थित झासी का सवाल है, तो हम कह सकते है कि वह *किलाबन्द है और इसलिए सशस्त्र विद्रोह का एक दूसरा केन्द्र बन जा सकता* है। दूसरी तरफ, बताया गया है कि, दिल्ली के सामने पडी हुई जनरल बरनार्ड की सेनाओ मे शामिल होने के लिए उत्तर-पश्चिम से जाते समय, मार्ग में सिरसा के पास जनरल वान कोर्टलैण्ड ने बागियों को हरा दिया है। पर दिल्ली से अब भी वह १७० मील के फासले पर है। उन्हे झांसी से गुजरना होगा जहां फिर विद्रोहियों से मुठभेड़ होगी। जहां तक गृह सरकार द्वारा की जाने वाली तैयारियों का सवाल है, तो लार्ड पामर्सटन कुछ इस विचार के मालूम होते है कि सबसे चक्करदार रास्ता ही सबसे छोटा रास्ता होता है और, इसलिए, मिस्र होकर भेजने के बजाय, अपनी फौजों को वे केप (अन्तरीप) का चक्कर लगवा कर भेजते है। चीन के लिए जो कुछ हजार सैनिक भेजे गये थे, उन्हे लंका में रोक लिया गया है और कलकत्ते रवाना कर दिया गया है। बन्दूकचियों की ५वीं सेना वास्तव में वहा २ जुलाई को पहुंच गयी थी। इस बात से लार्ड पामर्सटन को कॉमन्स सभा के अपने उन वफादार सदस्यों के साथ एक और भद्दा मजाक करने का मौका मिल गया है जो अब भी सन्देह प्रकट करते हुए उनसे यह कहने की हिम्मत करते थे कि उनके लिए चीनी युद्ध वैसे ही आ गया जैसे कि किसी "बिल्ली के भाग से छींका टूट जाय"!

कार्ल मार्क्स द्वारा १४ अगस्त, १८५७ को लिखा गया।

२९ अगस्त, १८५७ के "न्यू यौर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५१०४, मे प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

कार्ल मार्क्स

योरप की राजनीतिक स्थिति

कॉमन्स सभा की बैठक के खत्म होने से पहले, पिछली से पहले की एक बैठक का इस्तेमाल करते हुए, इंगलैंड की पब्लिक को उस मनोरंजक सामग्री की एक हलकी-सी झांकी लार्ड पामर्सटन ने दिखा दी थी जिसे कामन्स सभा की दो बैठकों के बीच के काल के लिए वह सुरक्षित रखे रहते हैं। उनके कार्यक्रम में पहली चीज फारस (ईरान) के साथ फिर से युद्ध शुरू कर देने की घोषणा है। कुछ ही महीने पहले उन्होंने कहा था कि ४ मार्च को की गयी एक शांति संधि के द्वारा इस युद्ध का निश्चित रूप से अन्त कर दिया गया था। उसके बाद जनरल सर डि लेसी ईवन्स ने यह आशा व्यक्त की थी कि कर्नल जैकब को फारस की खाडी की उनकी फौजों के साथ फिर भारत वापस भेज दिया जायगा, तो लार्ड पामर्सटन ने साफ-साफ कहा था कि फारस (ईरान) उन शर्तों को जब तक पूरा नहीं कर देता जो संधि द्वारा तय हुई हैं, तब तक कर्नल जैकब की फौजों को वहां से नहीं हटाया जा सकता। लेकिन हेरात अभी तक खाली नहीं किया गया है। उल्टे, अफवाहें फैली हुई हैं कि फारस (ईरान) ने हेरात में और भी फौजें भेजी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पैरिस स्थित फारस के राजदूत ने इस बात से इन्कार किया है; किन्तु, फारस की ईमानदारी के सम्बध में जो अत्यधिक सन्देह किया गया है, वह बिल्कुल सही है। और इसलिए, कर्नल जैकब के मातहत ब्रिटिश फौजें बुशायर के ऊपर अपने कब्जे को जारी रखेंगी। लार्ड पामर्सटन के वक्तव्य के अगले ही दिन तार से यह खबर आ गयी थी कि फारस की सरकार से मि. मरे ने साफ-साफ मांग की है कि हेरात को खाली कर दिया जाय। इस मांग को एक नये युद्ध की घोषणा की पेशबन्दी ही समझा जाना चाहिए। भारतीय विद्रोह का यह पहला अन्तरराष्ट्रीय प्रभाव है।

लार्ड पामर्सटन के कार्यक्रम की दूसरी मद के ब्यौरे की कमी को उन व्यापक सम्भावनाओं के चित्र से पूरा कर दिया गया है, जो वह प्रस्तुत करती है। पहली बार उनके यह ऐलान करने पर कि भारी सैनिक शक्ति को इंगलैंड से हटाकर भारत भेजा जायगा, उनके विरोधियों ने उन पर जब यह आरोप

लगाया था कि ग्रेट ब्रिटेन की सुरक्षात्मक शक्ति को वे वहां से हटाये दे रहे थे और, इस तरह, बाहरी देशों को निमंत्रित कर रहे थे कि ब्रिटेन की कमजोर स्थिति का वे फायदा उठा लें, तब उन्होंने जवाब दिया था कि,

> "ग्रेट ब्रिटेन के लोग इस तरह की किसी हरकत को कभी बर्दाश्त नहीं करेंगे और अगर ऐसी कोई स्थिति पैदा हो जायगी तो उसका सामना करने के लिए एकदम और तेजी से काफी भर्ती कर ली जायगी।"

अब, पालियामेंट के अधिवेशन के समाप्त होने से ठीक पहले, उन्होंने बिल्कुल ही दूसरे ढंग से बात की है। जनरल डि लेसी ईवन्स की इस सलाह के उत्तर में कि डाडों द्वारा चलाये जानेवाले युद्ध-पोतों से सैनिक भारत भेज दिये जायें, पहले की तरह उन्होंने यह नहीं कहा कि डांड़ों से चलने वाले जहाजों की तुलना में पालों से चलने वाले जहाज बेहतर होते हैं; बल्कि, इसके विपरीत, उन्होंने यह मान लिया कि पहली नजर में जनरल का प्रस्ताव अत्यन्त लाभदायक मालूम होता है। फिर भी, भवन को ध्यान रखना चाहिए कि,

> "देश के अन्दर काफी सैनिक और नौ-सैनिक शक्तियों को रखे रहने के औचित्य के सम्बंध में कुछ और चीजों का विचार रखना भी जरूरी होता है... कुछ परिस्थितियां ऐसी है जो जाहिर करती हैं कि एकदम आवश्यकता से अधिक नौ-सैनिक शक्ति का देश से बाहर भेजा जाना अनुचित होगा। इसमे सन्देह नही कि भाप से चलने वाले युद्ध-पोत यों ही पड़े हुए हैं और इस समय किसी खास काम मे नही आ रहे हैं; लेकिन, अगर वैसी कोई घटना घट पडी जैसी का जिक्र किया गया है, और अपनी नौ-सैनिक शक्तियों को हमें समुद्र में उतारना पड़ा, तब फिर, अपने युद्ध-पोतों को अगर हमने लोगों को भारत ले जाने के काम में लग जाने दिया, तो उस आने वाले खतरे का हम कैसे सामना कर सकेंगे? उस जहाजी बेड़े को — जिसे योरप में घटने वाली घटनाओं के कारण बहुत ही थोड़े समय के अन्दर स्वयं अपनी रक्षा के लिए हमें मैदान मे उतारने की जरूरत पड़ सकती है, —अगर हमने भारत भेज दिया तो हम अत्यन्त गम्भीर गलती के शिकार बन जायेंगे।"

इससे इन्कार नही किया जा सकता कि लार्ड पामर्सटन ने जौन बुल को अच्छी खासी दुविधा में डाल दिया है। भारतीय विद्रोह को अच्छी तरह से कुचल देने के लिए यदि वे आवश्यक साधनों का इस्तेमाल करते हैं, तो देश में उनकी आलोचना की जायगी; और, अगर, वे भारतीय विद्रोह को सुगठित हो जाने

देते हैं, तो, जैसा कि मि डिजरायली ने कहा था, उन्हें "भारत के राजे-रजवाड़ों के अलावा और भी ऐसे पात्रों का मुकावला करना पड़ेगा जो मैदान में आ जायेंगे।"

जिन "योरोपीय परिस्थितियों" की ओर रहस्यमय ढंग से इशारा किया गया है, उन पर नजर डालने से पहले अनुचित न होगा कि, कॉमन्स सभा की उसी बैठक के दर्म्यान, भारत में ब्रिटिश शक्तियों की वास्तविक स्थिति के सम्बंध मे जो चीजें मान ली गयी थी, उनको जरा देख लें। फिर, सबसे पहली चीज तो यह है कि दिल्ली पर एकदम कब्जा करने की जो बड़ी-बड़ी उम्मीदें दिलायी गयी थी उन्हे, जैसे आपस में तय करके, एकदम तिलांजलि दे दी गयी है; और पहले जो सब्जबाग दिखाये गये थे उनकी जगह अब अधिक अक्लमन्दी की यह बात कही गयी है कि नवम्बर तक — जब मदद के लिए देश से भेजे गये सैनिको का अभियान शुरू होगा — अंग्रेज भारत में अगर अपनी मौजूदा स्थिति को बनाये रख सके तो इसे हमे अपना सौभाग्य मानना होगा। दूसरी चीज यह है कि इसी दर्म्यान कानपुर के हाथ से निकल जाने के सम्बंध मे जो आशंका है वह प्रकट हो गयी। कानपुर वहा की सबसे महत्वपूर्ण फौजी चौकी है। उसकी किस्मत के ऊपर, जैसा कि मि. डिजरायली ने कहा था, सब कुछ निर्भर करता है और इसलिए उसकी रक्षा के लिए मदद भेजने के काम को वे दिल्ली पर कब्जा करने के काम से भी अधिक महत्वपूर्ण समझते है। कानपुर गंगा के तट पर अत्यन्त केन्द्रीय स्थान पर स्थित है, वहां से अवध, रुहेलखंड, ग्वालियर, और बुन्देलखंड तक को वह प्रभावित करता है तथा दिल्ली के मार्ग मे आगे बढ़े हुए दुर्ग का काम देता है। वर्तमान स्थिति मे, वास्तव मे, वह सबसे अधिक महत्व का स्थान है। आखिरी चीज यह है कि एक फौजी सदस्य, सर एफ. स्मिथ ने भवन का ध्यान इस बात की ओर दिलाया था कि भारत में उनकी फौज के साथ इंजीनियरों तथा सफरमैना की दरहकीकत कोई टुकड़ी नही रह गयी है, क्योकि वे सब के सब उसे छोड कर भाग गये है, और अन्देशा इस बात का है कि "वे दिल्ली को एक दूसरा सारगोसा" बना देंगे।" दूसरी तरफ, इंजीनियरों की टुकड़ी के अफसरों अथवा सैनिकों को इंगलैंड से वहा भेजने के काम की ओर लार्ड पामर्सटन ने उपेक्षा दिखाई है।

अब हम उन योरोपियन घटनाओं को ले लें जो, कहा जाता है कि, "सामने भविष्य में मडरा रही हैं।" लॉर्ड पामर्सटन के इशारो के सम्बंध में लदन टाइम्स ने जो टिप्पणी की है, उसने हमे एकदम आश्चर्य में डाल दिया है। वह कहता है कि सभव है कि फ्रांसीसी विधान खत्म कर दिया जाय, अथवा स्वयं नेपोलियन जीवन-पट पर से गायब हो जाय, और तब फ्रांस के

साथ किये गये उस गठबंधन का अन्त हो जायगा जिसके ऊपर सुरक्षा की वर्तमान व्यवस्था टिकी हुई है। दूसरे शब्दों मे, ब्रिटिश मंत्रि-मडल का महान मुखपत्र टाइम्स, यह बताते हुए कि फ्रांस में क्रान्ति का किसी भी दिन हो जाना असम्भव नही है, इस बात की भी घोषणा कर देता है कि वर्तमान मैत्री फ्रांसीसी जनता की सहानुभूति के ऊपर नही, वल्कि फ्रांसीसी लुटेरे की महज एक साजिश के ऊपर आधारित है। फ्रास की क्रान्ति के अलावा, डेन्यूब का झगडा" भी है। मोलदेविया के चुनावो को खत्म कर देने से यह झगड़ा दबा नही है, बल्कि एक नयी मजिल मे पहुच गया है। इस सबसे बढ़कर स्कैण्डीनेविया का वह उत्तरी भाग है जो, समय दूर नही है जब, निश्चित रूप से आन्दोलन का एक जबर्दस्त क्षेत्र बन जायगा। और, यह भी सम्भव है कि उसकी वजह से योरप मे एक अन्तरराष्ट्रीय सघर्ष छिड़ जाय। उत्तर में अब भी शान्ति बनी हुई है, क्योंकि दो चीजों की अत्यन्त उत्सुकता से प्रतीक्षा की जा रही है—स्वीडन के राजा* की मृत्यु की और डेनमार्क के वर्तमान राजा द्वारा राज्य-त्याग की। क्रिस्टियानिया मे हाल मे हुई वैज्ञानिकों की एक मीटिंग मे स्वीडन के मौरूसी राजकुमार† ने एक स्कैण्डीनेवियाई संघ के पक्ष मे जोर से अपना मत व्यक्त किया है। यह राजकुमार नवयुवक है तथा उसका स्वभाव दृढ और क्रियाशील है, इसलिए राज सिंहासन पर उसके बैठने के क्षण को स्कैण्डीनेवियाई पार्टी — जिसमे स्वीडन, नार्वे तथा डेनमार्क के जोशीले नौजवान भरे हुए है — सशस्त्र विद्रोह का श्रीगणेश करने के लिए सबसे उपयुक्त क्षण मानेगी। दूसरी तरफ, कहा जाता है कि डेनमार्क के दुर्बल और अल्प-मति राजा, फ्रेडरिक सप्तम को आखिरकार उसकी असमान रानी, काउन्टेस डैनर ने सार्वजनिक जीवन से हट जाने की इजाज़त दे दी है। अभी तक उसे इस बात की अनुमति देने से वह इन्कार करती आयी थी। काउन्टेस डैनर की ही वजह से राजा के चाचा और डेनमार्क के राज-सिंहासन के संभावित उत्तराधिकारी, राजकुमार फर्डीनेण्ड राज के काम-काज से अवकाश ग्रहण कर लेने के लिए राजी हो गये थे। बाद में, राज्य-परिवार के दूसरे सदस्यों के बीच हुए एक समझौते के आधार पर राजकीय काम-काज को फिर उन्होंने अपने हाथ मे ले लिया था। अब, इस क्षण, कहा जा रहा है कि काउन्टेस डैनर कोपेनहेगन की जगह पैरिस में जाकर रहने के लिए तैयार है। वह तो राजा को इस बात तक की सलाह देने के लिए तैयार हैं कि गद्दी को राजकुमार फर्डीनेण्ड को सौंप कर वह

---

* ऑस्कर प्रथम। —सं.

† चार्ल्स लुडविग यूजेन। —सं.

राजनीतिक जीवन के झंझावातों को नमस्कार कर लें। कोपेनहेगेन के राज-दरबार के साथ इस राजकुमार फर्डीनेण्ड का, जिसकी उम्र लगभग ६५ वर्ष है, हमेशा वही सम्बंध रहा है जो अर्टोइस के काउण्ट का—जो बाद मे चार्ल्स दशम् बन गये थे—त्यूलेरीज के राज-दरबार के साथ था। वह हठी, कट्टर और अपने दकियानूसी विचारों मे पक्का है — वैधानिक व्यवस्था के प्रति किसी भी प्रकार की वफादारी दिखाने के लिए वह कभी राजी नहीं हुआ। इसके बावजूद, राज-सिंहासन पर उसके बैठने की पहली शर्त यह होगी कि वह शपथ लेकर उस विधान को स्वीकार करे जिससे वह खुलेआम नफरत करता है। इसलिए अन्तरराष्ट्रीय उठा-पटक की संभावना है, और, स्वीडन और डेनमार्क दोनो में स्कैण्डीनेवियाई पार्टी ने पक्का संकल्प कर रखा है कि वह इस स्थिति का पूरा फायदा उठाने की कोशिश करेगी। दूसरी तरफ, डेनमार्क और होल्सटीन तथा श्लैशविग[४५] के जर्मन ड्यूकों की रियासतों के बीच झगड़ा होगा। इस झगड़े में प्रशा और आस्ट्रिया उनके दावों का समर्थन करेंगे। इससे मामला और उलझ जायगा और उत्तर के आन्दोलन में जर्मनी भी फंस जायगा। इसी के साथ, १८ २ की लंदन की उस संधि की वजह से, जिसमे राजकुमार फर्डीनेण्ड को डेनमार्क की गद्दी दिलाने की गारंटी की गयी थी, रूस, फ्रांस और इंगलैंड भी उस संघर्ष में उलझ जायेंगे।

कार्ल मार्क्स द्वारा २१ अगस्त, १८५७ को लिखा गया।

५ सितम्बर, १८५७ के "न्यू-यॉर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५११०, में एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

कार्ल मार्क्स

*भारत में किये गये अत्याचारों की जांच"

हमारे लंदन सम्वाददाता ने, जिसके पत्र को हमने कल प्रकाशित किया था, भारतीय विद्रोह के सम्बंध में पहले की कुछ उन घटनाओं का बहुत उचित ढंग से उल्लेख किया था जिन्होंने इस हिंसापूर्ण विस्फोट के लिए जमीन तैयार कर दी थी। हम चाहते हैं कि थोड़ी देर के लिए इन्हीं चीजों पर आज फिर विचार करें और यह बतला दें कि भारत के ब्रिटिश शासक भारतीय जनता के ऐसे कृपालु और निष्कलंक उपकारी नहीं हैं जैसा कि दुनिया के सामने अपने को वे जताना चाहते हैं। इस काम में ईस्ट इंडिया कम्पनी के अत्याचारों से सम्बंधित उन सरकारी नीली पुस्तकों" की सहायता हम लेंगे जिन्हें १८५६-५७ के अधिवेशनों के समय कॉमन्स सभा में पेश किया गया था। यह स्पष्ट हो जायगा कि शहादत ऐसी है जिससे इंकार नहीं किया जा सकता।

सबसे पहले हमारे सामने मद्रास" के अत्याचार कमीशन की रिपोर्ट है जिसमें "विश्वास प्रकट किया गया है कि मालगुजारी वसूलने के काम में आम तौर से अत्याचार किये जाते हैं"। यह रिपोर्ट कहती है कि इस बात में संदेह है कि आया,

> "मालगुजारी न देने के लिए हर साल जितने व्यक्तियों को हिंसा का शिकार बनाया जाता है, उतने के आस-पास की संख्या में ही लोगों को जुर्म करने के अपराधों में सजा दी जाती है।"

वह कहती है कि,

> "अत्याचार की मौजूदगी पर विश्वास होने से भी अधिक तकलीफ कमीशन को एक और चीज से हुई थी : वह यह कि दुखी लोगों के सामने राहत पाने का कोई उपाय नहीं है।"

इस कठिनाई के सम्बंध में कमिश्नरों ने जो कारण दिये हैं, वे हैं : १. जो लोग कलक्टर के सामने स्वयं शिकायत करना चाहते हैं, उन्हें उनके दफ्तर तक पहुंचने के लिए जितनी दूरी तय करनी होती है, उस पर बहुत खर्चा उठाना और समय बर्बाद करना होता है; २. यह डर बना रहता है कि अगर

चिट्ठी लिखकर अर्जियां दी जाये तो उन्हें "सिर्फ यह लिखकर कि तहसीलदार देख ले," जिले के पुलिस तथा मालगुजारी अफसर के पास—अर्थात्, उसी आदमी के पास "वापिस भेज दिया जायगा" जिसने या तो स्वयं, या अपने नीचे के छोटे पुलिस अधिकारियों के द्वारा उन्हें नुकसान पहुचाया है; ३. इन हरकतों का बाकायदा अभियोग लगाये जाने पर, अथवा उन्हें करने के जुर्म के साबित हो जाने पर भी, सरकारी अफसरों के विरुद्ध कोई खास कार्रवाई नहीं की जा सकती क्योंकि उन्हें सजा देने का जो कानून है, वह एकदम अपर्याप्त है। मालूम होता है कि इस तरह का अभियोग मजिस्ट्रेट के सामने साबित हो जाने पर भी अपराधी को वह सिर्फ पचास रुपये जुर्माने की या एक महीना कैद की सजा दे सकता है। दूसरा रास्ता यह है कि अभियुक्त को,

> "सजा देने के लिए फौजदारी के जज को" सौंप दिया जाय, "या सर्किट कोर्ट के सामने मुकदमे के लिये भेज दिया जाय।"

रिपोर्ट आगे कहती है कि,

> "यह कार्रवाई बहुत उकतानेवाली मालूम होती है; और वह भी केवल एक ही श्रेणी के अपराधों के सम्बंध में, अर्थात् पुलिस विभाग द्वारा सत्ता के दुरुपयोग किये जाने के सम्बंध में लागू होती है; और स्थिति की आवश्यकताओं की दृष्टि से वह एकदम अपर्याप्त है।"

पुलिस या माल-विभाग के किसी अफसर के ऊपर—और यह एक ही व्यक्ति होता है, क्योंकि मालगुजारी पुलिस द्वारा वसूल करायी जाती है—जब जबर्दस्ती रुपया ऐंठने का जुर्म लगाया जाता है, तो उसके मुकदमे की सुनवाई पहले सहायक कलक्टर की अदालत में होती है, फिर वह कलक्टर के यहां अपील कर सकता है; फिर माल विभाग के बोर्ड के यहां। यह बोर्ड मामले को सरकार के पास, या दीवानी अदालत में भेज दे सकता है।

> "कानूनी व्यवस्था की इस हालत में कोई भी गरीब-जदा रैयत माल विभाग के किसी धनी अफसर के खिलाफ नहीं लड़ सकता, और हमें ऐसी एक भी शिकायत की जानकारी नहीं है जिसे इन दो कानूनों (१८२२ और १८२८) के मातहत जनता ने दायर किया हो।"

इसके अलावा, रुपये की इस लूट-खसोट की बात सिर्फ सार्वजनिक धन को हड़पने, अथवा अपनी जेब भरने के लिए रैयतों से अफसरों द्वारा और अधिक रुपया जबर्दस्ती वसूल करने के ही सम्बंध में लागू होती है। इसलिए, मालगुजारी की वसूली के सिलसिले में शक्ति का प्रयोग करने के लिए सजा देने की कोई कानूनी व्यवस्था नहीं है।

जिस रिपोर्ट से ये उद्धरण लिये गये हैं, उसका केवल मद्रास प्रेसीडेन्सी से सम्बंध है, किन्तु, सितम्बर १८८५ मे, डायरेक्टरो* के नाम अपने पत्र में लॉर्ड डलहौजी स्वयं कहते हैं कि,

"इस बात के सम्बंध में बहुत दिनों से उन्हे कोई सन्देह नहीं है कि प्रत्येक ब्रिटिश प्रान्त मे लोगों को किसी न किसी रूप में निम्न अधिकारियों द्वारा यातनाएं दी जाती हैं।"

इस भांति, इस बात को सरकारी तौर पर भी मंजूर किया गया है कि यातना देना पूरे ब्रिटिश भारत में एक वित्तीय संस्था के रूप में सब जगह मौजूद है; लेकिन इस चीज को मंजूर इस तरह किया जाता है कि स्वयं ब्रिटिश सरकार पर कोई आच न आये। वास्तव मे, मद्रास का कमीशन जिस निष्कर्ष पर पहुंचा है, वह यह है कि यातना देने के काम की पूरी जिम्मेदारी नीचे के हिन्दू अफसरों पर है; सरकार के योरोपीय नौकरों ने तो उसे हमेशा, यद्यपि असफलता-पूर्वक, रोकने की ही भरसक कोशिश की है। इस दावे का खण्डन करते हुए मद्रास के देशी संघ (Native Association) ने जनवरी १८५६ में पार्लियामेंट को एक अर्जी भेजी थी। यातनाओं की जो जांच-पड़ताल की गयी थी, उसके खिलाफ इस अर्जी में निम्न आधारो पर शिकायत की गयी थी: १. कि वास्तव में जाच-पड़ताल कुछ की ही नही गयी थी। कमीशन सिर्फ मद्रास शहर मे और वह भी सिर्फ तीन महीने के लिए बैठा था। बहुत थोडे लोगों के अलावा शेष तमाम निवासी, जो शिकायतें करना चाहते थे, अपने घरों को छोडकर वहां आ नही सकते थे; २. कि कमिश्नरो ने बुराई की जड़ का पता लगाने की कोशिश नही की; अगर उन्होने ऐसा किया होता तो उन्हे मालूम हो जाता कि यह बुराई मालगुजारी वसूल करने की प्रणाली के अन्दर ही मौजूद है; ३. कि जिन देशी अफसरों के ऊपर अभियोग लगाया गया था, उनसे इस बात के सम्बंध में कोई पूछ-ताछ नही की गयी थी कि इस प्रथा से (यातना देकर जबरिया रुपया वसूलने की प्रथा से — अनु.) उनके उच्चाधिकारी किस हद तक परिचित थे।

प्रार्थी कहते है, "इस जोर-जबर्दस्ती की शुरुआत उन लोगों से नहीं होती जो शारीरिक तौर से उस पर अमल करते हैं; बल्कि वह ठीक ऊपर के अफसरो से शुरू होकर उनके पास आती है। फिर वसूली की अनुमानित रकम के लिए अपने से ऊचे योरोपियन अफसरों के सामने यही लोग

* ईस्ट इंडिया कम्पनी का डायरेक्टर-मंडल। —सं.

जवाब-देह होते हैं; और ये योरोपियन अफसर भी इसी मद के सम्बंध में सरकार की सर्वोच्च सत्ता के प्रति उत्तरदायी होते हैं।"

दरहकीकत, जिस शहादत पर मद्रास की यह रिपोर्ट आधारित बतायी जाती है, खुद उसके कुछ उद्धरण इस दावे का खंडन करने के लिए काफी होंगे कि "अंग्रेजों का कोई कसूर नही है।" उदाहरण के लिए, एक व्यापारी, मिस्टर डब्ल्यू. डी. कोहलहौफ कहते हैं :

"यंत्रणा के लिए इस्तेमाल किये जाने वाले तरीके विविध हैं और वे तहसीलदार या उसके नीचे के कर्मचारियों की मर्जी पर निर्भर करते हैं; किन्तु, ऊपर के अधिकारियों से (सन्तप्त लोगों को—अनु.) कोई राहत मिलती है या नहीं, इसके बारे में कुछ कहना मेरे लिए कठिन है, क्योंकि आम तौर से सारी शिकायतें जांच-पड़ताल और सूचना के लिए तहसीलदारों के पास ही भेज दी जाती हैं।"

देशी लोगों की शिकायतों मे हमें नीचे लिखी बात भी मिलती है :

"पिछले साल, बारिश की कमी के कारण, धान की हमारी फसल बर्बाद हो गयी, इसलिए हमेशा की तरह हम मालगुजारी नहीं दे सके। जब जमाबन्दी की गयी, तो मिस्टर ईडेन की कलक्टरी के जमाने में, १८३७ में, हमने जो समझौता किया था, उसकी शर्तों के अनुसार हमने मांग की कि नुकसान की वजह से मालगुजारी में हमें कुछ छूट दी जाय। जब छूट नहीं दी गयी, तो हमने अपने पट्टे लेने से इन्कार कर दिया। तब जबर्दस्ती मालगुजारी वसूल करने के लिए जून के महीने से अगस्त तक तहसीलदार ने हमें बहुत सख्ती के साथ दबाया। मुझे और दूसरे लोगों को ऐसे लोगों के हाथों में सौंप दिया गया जो हमें धूप मे ले जाते थे। वहां हमें झुकाया जाता था और हमारी पीठ पर पत्थर रख दिये जाते थे और हमें जलती हुई रेत में खड़ा रखा जाता था। ८ बजे के बाद हमें अपने चावल के पास जाने के लिए छोड़ दिया जाता था। इस तरह का दुर्व्यवहार तीन महीने तक जारी रखा गया था। इस दर्म्यान, कभी-कभी, अपनी अर्जियां लेकर हम कलक्टर के पास गये, जिन्होंने उन्हें लेने से इन्कार कर दिया। इन अर्जियों को लेकर हम सेशन अदालत मे गये और वहां अपील की। उसने उन्हें कलक्टर के पास भेज दिया। फिर भी हमें न्याय नही मिला। सितम्बर महीने में हमें एक नोटिस दी गयी, और पच्चीस दिन के बाद हमारी जायदाद कुर्क कर ली गयी और बाद में उसे बेच दिया गया। मैंने जो कुछ कहा है, उसके अलावा हमारी औरतों

के साथ भी दुर्व्यवहार किया गया था। उनकी छातियों पर चिल्लियां लगा दी गयी थीं।"

कमिश्नरों के सवालों के जवाब में एक देशी ईसाई ने बताया था :

"जब कोई योरोपियन अथवा देशी रेजीमेन्ट उधर से गुजरती है, तो तमाम रैयतों को खाने-पीने आदि का सामान मुफ्त देने के लिए मजबूर किया जाता है, और उनमें से कोई अगर अपने सामान की कीमत मांगता है, तो उसे सख्त सजा दी जाती है।"

फिर एक ब्राह्मण की कहानी बतायी गयी है। गांव और पड़ौस के गांवों के दूसरे लोगों के साथ-साथ उससे भी तहसीलदारों ने कहा था कि यदि वह कोलेरून पुल का काम करना चाहता है, तो तख्ते, कोयला, जलावन, आदि मुफ्त में ले आये। ऐसा करने से इन्कार करने पर बारह आदमियों ने उसे पकड़ लिया और तरह-तरह की यंत्रणाएं दीं। ब्राह्मण आगे बताता है :

"मैंने नायब कलक्टर, मि. डब्ल्यू. कंडेल के पास शिकायती दर्खास्त दी, किन्तु उन्होंने कोई जांच नहीं की और शिकायत की मेरी दरखास्त को फाड़ डाला। चूंकि वह चाहते हैं कि कोलेरून पुल के काम को गरीबों के मत्थे सस्ते से सस्ते में पूरा कराके सरकार से अच्छा नाम पा लें, इसलिए तहसीलदार चाहे जितना भी अत्याचार करे, उसकी तरफ वह कोई ध्यान नहीं देते।"

इस तरह की गैर-कानूनी कारंवाइयों की तरफ, जिन्हें लूट-खसोट और हिंसा की अंतिम सीमा तक पहुंचा दिया जाता था, सर्वोच्च अधिकारियों तक का रुख क्या होता था, इसका सर्वोत्तम उदाहरण १८५५ में पंजाब के लुधियाना जिले के कमिश्नर मिस्टर ब्रेरेटन के मामले में दिखाई देता है। पंजाब के चीफ कमिश्नर* की रिपोर्ट के अनुसार यह साबित हो गया था कि

"डिप्टी कमिश्नर, स्वयं मि. ब्रेरेटन की प्रत्यक्ष जानकारी में, अथवा उन्हीं के हुक्म से, धनी नागरिकों के मकानों की अकारण तलाशियां ली गयी थीं; और इन तलाशियों के समय जिस सम्पत्ति को कब्जे में लिया जाता था, उसे लम्बे-लम्बे अरसों तक रोक रखा जाता था; बिना यह बताये ही कि उनके खिलाफ क्या अभियोग है, अनेक व्यक्तियों को जेल में डाल दिया जाता था, और वहां उन्हें हफ्तों बन्द रखा जाता था; और यह कि सद्व्यवहार के लिए गुण्डों-लफंगों से मुचलके आदि लेने के जो कानून हैं, उनका बेहिसाब और अत्यंत सख्ती के साथ

---

* जॉन लारेन्स। —सं.

मनमाना उपयोग किया गया था। यह कि डिप्टी कमिश्नर जब एक जिले से दूसरे जिले में जाता था, तो कुछ पुलिस अधिकारी तथा खुफिया विभाग के आदमी उसके साथ-साथ जाया करते थे जिनका वह जहां-जहां जाता था, इस्तेमाल किया करता था। सबसे अधिक दुष्टता यही लोग करते थे।"

इस मामले से सम्बंधित अपनी टिप्पणी में लॉर्ड डलहौजी ने लिखा है:

"इस बात का हमारे पास अकाट्य प्रमाण है — वास्तव में, ऐसा प्रमाण जिससे मि. ब्रेरेटन स्वयं इनकार नहीं करते — कि अनियमित और गैर-कानूनी कार्रवाइयां करने का अभियोग लगाते हुए उनके विरुद्ध जुर्मों की जो भारी सूची चीफ कमिश्नर ने पेश की है, उनमें से प्रत्येक जुर्म के वह अपराधी हैं। इन कार्रवाइयों की वजह से ब्रिटिश प्रशासन का एक अंग कलंकित हुआ है और ब्रिटिश प्रजा के अनेक लोगों के साथ जबर्दस्त अत्याचार हुए हैं, मनमाने ढंग से उन्हें जेलों में डाला गया है और उन्हें क्रूर यातनाएं दी गयी हैं।"

लॉर्ड डलहौजी "एक जबर्दस्त सार्वजनिक आदर्श पेश करना" चाहते हैं, और, इसलिए, उनकी राय है कि,

"फिलहाल, मि. ब्रेरेटन को डिप्टी कमिश्नर के पद का भार नही सौंपा जा सकता; उस श्रेणी से हटाकर उन्हें प्रथम वर्ग के सहायक की श्रेणी मे रख दिया जाना चाहिए।"

नीली किताबो (सरकारी रिपोर्टों) से लिये गये इन उद्धरणों का अन्त मलाबार तट के कनारा ताल्लुक के निवासियों की दरखास्त से किया जा सकता है। इस दरखास्त में, यह बताने के बाद कि सरकार को कई अर्जियां देने के बाद भी उनकी कोई सुनवाई नही हुई, अपनी पहले की और वर्तमान स्थिति की तुलना करते हुए वे कहते हैं:

"रानी के राज में गीली और सूखी जमीनों, पहाड़ी इलाकों, निचले क्षेत्रों और जंगलों में हम खेती करते थे। हमारे ऊपर जो थोड़ी-सी मालगुजारी लगायी गयी थी, उसे हम दे दिया करते थे, और, इस प्रकार, शान्ति और सुख का जीवन बिता रहे थे। सरकार के तत्कालीन नौकरों, बहादुर और टीपू ने उस समय हमारे ऊपर और अधिक कर लगा दिया था, लेकिन उसे हमने कभी नही दिया। मालगुजारी की वसूली मे उस समय हमे तकलीफ नहीं दी जाती थी, हमे उत्पीड़ित नही किया जाता था, और न हमारे साथ दुर्व्यवहार किया जाता था। माननीय कम्पनी* के हाथों में

* ईस्ट इंडिया कम्पनी। —स.

तदबीरें उसने ईजाद कर लीं।' इस घृणित उद्देश्य को सामने रख कर ही कम्पनी के लोगों ने नियम ईजाद किये और कानून बनाये, और अपने कलक्टरों तथा दीवानी के जजों को उन पर अमल करने का आदेश दे दिया। किन्तु उस समय के कलक्टर और उनके नीचे के देशी अफसर कुछ समय तक हमारी शिकायतों की ओर उचित ध्यान देते रहे और हमारी इच्छाओं को देखते-समझते हुए ही काम करते रहे। इसके विपरीत, वर्तमान कलक्टर और उनके मातहत अफसर, जो किसी भी शर्त पर तरक्की हासिल करने के ख्वाहिशमन्द हैं, आम जनता के हितों तथा उसके कल्याण की ओर ध्यान नहीं देते। हमारी शिकायतों को सुनने से वे इन्कार करते हैं और हमें हर प्रकार की यातनाएं देते हैं।"

भारत में ब्रिटिश शासन के सच्चे इतिहास का केवल एक संक्षिप्त तथा सीधा-सादा अध्याय हमने यहां प्रस्तुत किया है। इन तथ्यों की पृष्ठभूमि में, ईमानदार और विचारशील लोग सम्भवतः यह पूछ सकते है कि ऐसे विदेशी विजेताओं को, जिन्होंने अपनी प्रजा के साथ इस तरह दुर्व्यवहार किया है, अपने देश से निकाल बाहर करने की कोशिश करना क्या जनता के लिए न्यायपूर्ण नहीं है ? और अंग्रेज ऐसी हरकतें अगर बिल्कुल ठण्डे दिल से कर सकते थे, तो विद्रोह और संघर्ष की तीव्र उत्तेजना में अगर विप्लवकारी हिन्दुओं (हिन्दुस्तानियों—अनु.) ने भी वे अपराध और क्रूरता-पूर्ण कार्य कर दिये हों जिनका उन पर अभियोग लगाया जाता है, तो क्या यह कोई आश्चर्य की बात है ?

कार्ल मार्क्स द्वारा २८ अगस्त, १८५७ को लिखा गया।

१७ सितम्बर, १८५७ के "न्यूयौर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५१२०, में एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

कार्ल मार्क्स

*भारत में विद्रोह

बाल्टिक से जो डाक आयी है, उसमें भारत की किन्ही नयी घटनाओं की रिपोर्ट नही है, किन्तु उसमे ब्यौरे की बहुत-सी अत्यंत मनोरंजक सामग्री है। अपने पाठकों के ज्ञानवर्द्धन के लिए हम उसे संक्षेप मे यहां दिये दे रहे हैं। पहली चीज जो ध्यान देने की है, वह यह है कि १५ जुलाई तक भी अंग्रेज दिल्ली के अन्दर प्रवेश नहीं कर सके थे। साथ ही साथ, उनके लश्कर में हैजा शुरू हो गया है, वर्षा जोरों से आरम्भ हो गयी है, और घेरे को उठा लेने तथा घेरा डालने वाले लश्कर को वहां से हटा लेने की बात केवल समय की ही बात मालूम होती है। ब्रिटेन के अखबार हमें यह विश्वास दिलाने की व्यर्थ कोशिश कर रहे हैं कि बीमारी जनरल सर एच. बरनार्ड को तो साफ कर गयी है लेकिन उनके कही अधिक भूखे और थके-मादे सैनिकों को उसने कुछ नहीं किया है। इसलिए, इस भयंकर महामारी ने घेरा डालने वाले लश्कर को कितनी क्षति पहुंचायी है, इसका अनुमान हमें उन स्पष्ट वक्तव्यों से नही मिल सकता जो पब्लिक के सामने रखे गये हैं। जाने-माने तथ्यों से निष्कर्ष निकाल कर ही हम उसका कुछ अनुमान कर सकते हैं। दिल्ली के सामने डाले हुए पड़ाव के एक अफसर ने १४ जुलाई को लिखा था :

"दिल्ली पर अधिकार करने के लिए हम कुछ नही कर रहे हैं, और दुश्मन के अचानक हमलों से केवल अपनी रक्षा के काम में हम लगे हुए हैं। कहने के लिए हमारे पास पांच योरोपियन रेजीमेन्टों के भाग मौजूद है, लेकिन किसी कारगर हमले के लिए हम सिर्फ २,००० योरोपियनों को ही जुटा सकते हैं। हर रेजीमेन्ट की बड़ी-बड़ी टुकड़ियां जालंधर, लुधियाना, सुबाथू, दुगशाला, कसौली, अम्बाला, मेरठ और फिल्लौर की हिफाजत के लिए छोड़ दी गयी हैं। वास्तव में, हर रेजीमेन्ट की केवल छोटी-छोटी टुकड़ियां ही हमारे पास आयी हैं। दुश्मन के पास हमसे कहीं अच्छा तोपखाना है।"

अब इससे यह साबित हो जाता है कि पंजाब से आने वाली फौजों को जालंधर से लेकर मेरठ तक का विशाल उत्तरी मार्ग विद्रोह की स्थिति मे

मिला था और, इसलिए, मुख्य अड्डों पर उन्हें सैनिक टुकड़ियां छोड़ने और अपनी संख्या को कम करने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा था। यही कारण है कि पंजाब से जितनी फौजों के आने की आशा थी, उतनी न आ सकी। किन्तु इससे इस बात का जवाब नहीं मिलता कि योरोपियन सैनिकों की शक्ति घट कर केवल २,००० सैनिकों की कैसे रह गयी। लंदन **टाइम्स** का बम्बई सम्वाददाता ३० जुलाई के अपने लेख में घेरा डालने वाले लोगों के निष्क्रिय रवैये की सफाई दूसरी तरह से देने की कोशिश करता है। वह कहता है :

"मदद के लिए सैनिक, निस्सन्देह, हमारे पड़ाव में आ गये है। उनमे ८वी (बादशाह की) सेना का एक भाग है तथा ६१वी सेना का एक भाग, पैदल तोपखाने की एक कम्पनी, एक देशी सेना की दो तोपें, १४वी अनियमित घुड़सवार रेजीमेन्ट (जो गोले-बारूद की एक बड़ी रेल को लेकर आयी है), पजाब की २री घुडसवार टुकड़ी, पंजाब की १ली पैदल सेना और ४थी सिख पैदल सेना है। परन्तु घेरा डालनेवाले लश्कर में सैनिकों का जो देशी भाग इस तरह जुड़ गया है, वह पूरे तौर पर और एक ही जैसा भरोसे का नहीं है, यद्यपि उसके सारे अफसर योरोपियन हैं। पंजाब की घुड़सवार रेजीमेन्टों में खास हिन्दुस्तानी इलाके तथा रुहेलखण्ड के अनेक मुसलमान और उच्च वर्ण हिन्दू हैं। बंगाल की अनियमित घुड़सवार सेना भी मुख्यतया ऐसे ही तत्वों की बनी हुई है। ये लोग आम तौर से एकदम राज-द्रोही हैं; लश्कर के अन्दर किसी भी संख्या में उनकी उपस्थिति से परेशानी होना अनिवार्य है—और वास्तव में यही हुआ भी है। पंजाब की २री घुड़सवार सेना में ७० हिन्दुस्तानियों को निरस्त्र करना पड़ा है और तीन को फासी दी गयी है। इनमे से एक उच्च देशी अफसर था।, उस ९वीं अनियमित सेना में से भी, जो काफी दिनो से हमारी फौजों के साथ रही है, अनेक सैनिक भाग गये हैं और, मेरा ख्याल है कि, ४थी अनियमित सेना ने ड्यूटी के समय अपने एडजुटेण्ट को मार दिया है।"

यहां एक और रहस्य का उद्‌घाटन हो जाता है। दिल्ली के सामने पड़ा हुआ पड़ाव आगरामांटे[*] के पड़ाव से कुछ-कुछ मिलता मालूम होता है। अंग्रेजों को न सिर्फ अपने सामने के दुश्मन का मुकाबला करना पड रहा है, बल्कि अपने अन्दर के दोस्तों से भी निपटना पड़ रहा है। इस सबके बावजूद, हमले की कार्रवाइयों के लिए वहां केवल २,००० योरोपियनो के रह जाने की बात समझ में नही आती। एक तीसरा लेखक, **द डेली न्यूज**[*] का बम्बई सम्वाददाता, बरनार्ड के उत्तराधिकारी जनरल रीड की मातहती में जमा फौजों का स्पष्ट हिसाब पेश करता है। यह हिसाब विश्वसनीय

मालूम पड़ता है क्योंकि यह लेखक एक-एक करके उन विभिन्न तत्वों को गिनाता है जिनके मेल से वे फौजें बनी हैं। उसके वक्तव्य के अनुसार, ब्रिगेडियर जनरल चैम्बरलेन के नेतृत्व मे लगभग १२०० योरोपियन, १६०० सिख तथा कुछ अनियमित घुड़सवार आदि, यानी कुल मिला कर लगभग ३,००० सैनिक, २३ जून और ३ जुलाई के बीच दिल्ली के सामने पड़ी हुई छावनी मे पंजाब से पहुंचे थे। दूसरी तरफ, उसका अनुमान है कि इस वक्त जनरल रीड की मातहती में जो पूरी फौज है, उसमें तोपखाने और घेरा डालने वाली गाडी के लोगों को मिला कर, ७,००० सैनिक हैं। इसका अर्थ हुआ कि पंजाब से आयी फौजी मदद के वहा पहुंचने से पहले दिल्ली की छावनी मे ४,००० से अधिक सैनिक नही हो सकते थे। १३ अगस्त के *टाइम्स* ने लिखा है कि सर एच. बरनार्ड ने ७,००० अंग्रेजों और ५,००० हिन्दुस्तानियों की फौज इकट्ठी कर ली थी। यद्यपि यह बहुत बढ़ी-चढ़ी तस्वीर थी, फिर भी इस चीज को मानने का पूरा कारण है कि उस वक्त की योरोपियन सेना में लगभग ४,००० सैनिक थे। उसके साथ कुछ कम हिन्दुस्तानी भी थे। तब फिर, जनरल बरनार्ड की मातहती मे आरम्भ में जो फौज थी, वह उतनी ही बडी थी जितनी कि जनरल रीड की मातहती मे इस समय वहां है। इसलिए, पंजाब से पहुंची मदद ने केवल उस कमी को पूरा कर दिया है जो अंशतः विद्रोहियों के निरन्तर अचानक हमलों के कारण और अंशतः हैजे से हुए भारी नुकसान के कारण हो गयी थी। इन चीजों की वजह से घेरा डालकर पडी फौजो को भारी नुकसान पहुंचा था और उनकी शक्ति लगभग आधी रह गयी थी। इस तरह यह समझ में आता है कि "किसी कारगर हमले के लिए" अंग्रेज केवल २,००० योरोपियनों की फौज को ही क्यों जुटा पाते हैं।

इतनी बात दिल्ली के सामने पड़ी हुई ब्रिटिश फौजों की शक्ति के सम्बंध में हुई। अब उनकी कार्रवाइयों को ले लें। ये कार्रवाइयां बहुत जोरदार नहीं थीं—यह नतीजा तो इस साधारण तथ्य से ही आसानी से निकाला जा सकता है कि ८ जून के बाद से, यानी उस दिन के बाद से जिस दिन जनरल बरनार्ड ने दिल्ली के सामने की ऊंचाई पर कब्जा कर लेने की रिपोर्ट दी थी, फौज के सदर दफ्तर से किसी भी तरह का कोई समाचार बुलेटिन नहीं निकला है। केवल एक अपवाद को छोड़कर, उन फौजो की सारी कार्रवाइयां बस यही तक सीमित है कि घिरे हुए लोग जब अचानक धावे करते हैं, तो घेरा डालने वाले उन हमलों को बेकार कर देते हैं। घेरा डालने वाले लश्कर पर हमले कभी सामने से होते हैं, तो कभी बाजुओं मे—लेकिन ज्यादातर वे पीछे से ही होते है। ये अचानक हमले २७ और ३० जून को हुए, और फिर ३री, ४थी, ९वीं और १४वीं जुलाई को। २७वी जून को लड़ाई केवल बाहरी

अड्डों के पास कुछ नोक-झोंक तक ही सीमित रही। यह लड़ाई कुछ घंटों तक चली, किन्तु तीसरे पहर के करीब इस ऋतु की प्रथम भारी वर्षा हुई और उसके कारण लड़ाई रुक गयी। ३० जून को घेरा डालकर पड़े हुए लश्कर के दाहिने तरफ के अहातो मे काफी सख्या मे विद्रोही घुस आये और उन्होने लश्कर के पहरेदारों और सहायकों को काफी तंग किया। ३ जुलाई को अंग्रेजों को गुमराह करने के लिए भोर में ही घिरे हुए लोगों ने उनके लश्कर के एकदम पिछाड़े मे हमला किया, और, फिर वे पिछाड़े की ही तरफ से करनाल की सड़क पर, अलीपुर तक कई मील — सामान और खजाना लेकर रक्षकों के साथ अंग्रेजों की छावनी की तरफ आती हुई एक ट्रेन को लूटने के लिए — आगे बढ़ गये। रास्ते में उन्हें पजाब की २री अनियमित घुड़सवार सेना की एक चौकी मिली, जिसने फौरन हथियार डाल दिया। ४ तारीख को जब ये विद्रोही शहर लौटे तो उनको रोकने के लिए अंग्रेजो के कैम्प से भेजे गये १,००० पैदल सैनिकों और घुड़सवारों के २ स्क्वाड्रनों ने उन पर हमला कर दिया। परन्तु नाममात्र के नुकसान, या बिना किसी नुकसान के ही, और अपनी तमाम तोपो को बचा कर, पीछे हट जाने मे वे सफल हो गये। ८ जुलाई को दिल्ली से लगभग ६ मील के फासले पर स्थित बुसी गांव के नहर के पुल को नष्ट करने के लिए अंग्रेजो के शिविर से एक सैनिक टुकडी भेजी गयी। पहले के अचानक हमलो के समय अंग्रेजों के पिछाड़े पर प्रहार करने तथा करनाल और मेरठ के साथ अंग्रेजों के संचार-सम्बंधो में बाधा डालने के काम में इस पुल ने विद्रोहियों की मदद की थी। इस पुल को नष्ट कर दिया गया। ९ जुलाई को विद्रोही फिर काफी ताकत से बाहर आये और अंग्रेजी लश्कर के एकदम पीछे के भाग में उन्होंने हमला कर दिया। उसी दिन तार द्वारा जो सरकारी रिपोर्ट लाहौर भेजी गयी थी, उसमें बताया गया था कि इस टक्कर में हमलावरों के लगभग एक हजार आदमी मारे गये थे। लेकिन यह रिपोर्ट बहुत बढ़ी-चढ़ी मालूम होती है, क्योंकि कैम्प से भेजे गये १३ जुलाई के एक पत्र में हमें यह पढ़ने को मिलता है :

> "हमारे सैनिको ने शत्रु के २५० लोगों को दफनाया और जलाया। काफी बड़ी संख्या में लोगो को शत्रु स्वयं शहर वापिस ले गये।"

यही पत्र द डेली न्यूज मे छपा है। यह पत्र झूठ मूठ यह दिखाने की कोशिश नहीं करता कि (हिन्दुस्तानी) सिपाहियों को अंग्रेजों ने पीछे ढकेल दिया था; बल्कि इसके विपरीत, वह कहता है कि "सिपाहियों ने हमारी तमाम सक्रिय टुकडियो को पीछे खदेड़ दिया था और फिर वापिस लौट गये थे।" घेरा डालनेवालो को काफी नुकसान हुआ था, क्योंकि उनके मृतकों और

घायलों की संख्या २१२ थी। १४ जुलाई को, एक दूसरे अचानक धावे के फल-स्वरूप, एक और भयानक लड़ाई हुई। इसका ब्यौरा अभी मिला नहीं है।

इसी बीच, घिरे हुए लोगों के पास शक्तिशाली सहायता पहुंच गयी थी। १ली जुलाई को बरेली, मुरादाबाद और शाहजहांपुर के रूहेलखण्डी विद्रोही — जिनमें, चार रेजीमेन्टें पैदल सेना की थीं, एक अनियमित घुड़सवार सेना की और एक बैटरी तोपखाने की — अन्दर घुसकर दिल्ली में अपने साथियों से जा मिले थे।

> लंदन टाइम्स का बम्बई सम्वाददाता कहता है, "आशा यह की जाती थी कि वे गंगा पार न कर सकेंगे, किन्तु नदी में अपेक्षित बाढ़ न आयी; गढ़मुक्तेश्वर में उसे पार कर लिया गया और उसके बाद, दोआब को पार करके, वे दिल्ली पहुंच गये। दो दिनों तक हमारी सेनाएं दुख-पूर्वक देखती रहीं कि नावों के पुल के ऊपर से आदमियों, तोपों, घोड़ों और सब प्रकार के लद्दू जानवरों का एक कारवा (क्योंकि विद्रोहियों के साथ लगभग ५०,००० पौण्ड का खजाना भी था) शहर में घुसता चला आ रहा है, पर वे न तो उसे रोक सकती थी, न किसी प्रकार तंग ही कर सकती थीं।"

रूहेलखण्ड के एक छोर से दूसरे छोर तक विद्रोहियों की यह सफल यात्रा सिद्ध करती है कि जमुना के पूरब रूहेलखण्ड की पहाड़ियों तक के सारे क्षेत्र में अंग्रेजी फौजों का प्रवेश निषिद्ध है; और नीमच से आगरा तक की विप्लवकारियों की कंटकहीन यात्रा को यदि इन्दौर और मऊ में हुए विद्रोहों के साथ जोड़ दिया जाय, तो उससे स्पष्ट हो जाता है कि जमुना के दक्षिण-पश्चिम में विन्ध्य पर्वत तक का फैला हुआ क्षेत्र भी अंग्रेजी फौजों के लिए वर्जित है। दिल्ली के सम्बंध में एकमात्र सफल — वास्तव में, एकमात्र — फौजी कार्रवाई जो अंग्रेजों ने की है, वह यह है कि दिल्ली के उत्तर और उत्तर-पश्चिम के इलाके मे जनरल वैन कोर्टलैण्ड के पंजाबी सिख सैनिकों ने शांति स्थापित कर दी है। लुधियाना और सिरसा के बीच, सारे जिले मे, जनरल वैन कोर्टलैण्ड को मुख्यतया निर्जन और बालू भरे रेगिस्तानी इलाके में दूर-दूर बिखरे हुए गावों में रहनेवाले लुटेरे कबीलों का ही सामना करना पड़ा था। कहा जाता है कि ११ जुलाई को सिरसा से उन्होंने फतहाबाद की तरफ कूच कर दिया था; उसके बाद वे हिसार की ओर बढ़ गये थे। इस तरह, घेरा डालनेवाली फौजों के पिछाड़े के इलाके को उन्होंने मुक्त कर लिया था।

उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में, दिल्ली के अलावा तीन और जगहे — आगरा, कानपुर और लखनऊ — हिन्दुस्तानियों और अंग्रेजों के बीच संघर्ष का केन्द्र बन गयी थी। आगरा कांड की विशिष्ट बात यह है कि वह बताता

है कि अंग्रेजों के एक दूर के फौजी अड्डे पर हमला करने का संकल्प करके विप्लवकारी पहली बार ३०० मील की लम्बी यात्रा पर निकल पड़े थे। आगरा से प्रकाशित होनेवाली एक पत्रिका "द मोफ़स्सिलाइट" के अनुसार, नजीराबाद और नीमच की रेजीमेन्टें जून के अन्त में आगरा के पास पहुंच गयी थीं; जुलाई के आरम्भ में, आगरा से लगभग बीस मील के फासले पर सुशिया ग्राम के पिछाड़े के एक मैदान में, उन्होंने डेरा डाल दिया था; और ४ जुलाई को वे नगर पर हमला करने की तैयारी करती मालूम होती थीं। इन रेजीमेन्टों में १०,००० सैनिक थे (यानी ७००० पैदल, १५०० घुड़सवार और ८ तोपें)। उनके हमले की तैयारी का समाचार पाकर, आगरा से पहले की छावनियों में रहनेवाले योरोपियनों ने वहां से भागकर किले के अन्दर शरण ले ली। आगरा के कमाडर* ने सबसे पहले घुड़सवारों, पैदलों तथा तोपखाने की कोटा स्थित टुकड़ी को दुश्मन का मुकाबला करने के लिए आगे भेजा। परन्तु, अपने निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचते ही, उन सैनिकों में से एक-एक भाग खड़ा हुआ और जाकर विद्रोहियों से मिल गया। ५ जुलाई को आगरा गैरीसन ने विद्रोहियों पर आक्रमण करने के लिए कूच किया। इस गैरीसन में योरोपियनों की ३री बंगाल सेना, तोपखाने की एक बैटरी और योरोपियन स्वयंसेवकों की एक टुकड़ी थी। कहा जाता है कि इस गैरीसन ने बागियों को गांव से खदेड़ कर पीछे के मैदान में भगा दिया। किन्तु, स्पष्ट है कि, बाद में स्वयं उसे भी पीछे हटने के लिए मजबूर होना पड़ा। लड़ाई में लगे ५०० आदमियों की उसकी कुल सेना में ४९ खेत रहे और ९२ घायल हो गये। इतना नुकसान उठाकर गैरीसन को पीछे हटना पड़ा। उसे दुश्मन के घुड़सवारों ने अपनी कार्रवाइयों से इस तरह हलाकान कर दिया था और उसके लिए ऐसा खतरा पैदा कर दिया था कि गैरीसन के सैनिक "उनके ऊपर एक गोली तक" न चला सके—जैसा कि **द मोफस्सिलाइट** बताता है। दूसरे शब्दो में, अंग्रेज वहां से एकदम भाग खड़े हुए थे। वहां से भागकर उन्होंने अपने को अपने किले में बन्द कर लिया था। इसी समय आगरा की ओर बढ़ते हुए छावनी के लगभग तमाम मकानों को हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने खत्म कर दिया। अगले दिन, ६ जुलाई को, ये सिपाही भरतपुर के रास्ते दिल्ली की ओर रवाना हो गये। इस कांड का महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला है कि आगरा और दिल्ली के बीच के अंग्रेजों के संचार-मार्ग को विद्रोहियो ने काट दिया है और, मुमकिन है कि, अब वे मुगलों के पुराने नगर के पास आकर प्रकट हो जायें।

---

* जान कॉलिन।—सं.

जैसा कि पिछली डाक से मालूम हो गया था, कानपुर में, जनरल ह्वीलर की कमान में लगभग २०० योरोपियनों की एक सैनिक टुकड़ी एक किलाबन्द जगह में फंस गयी थी और बिठूर के नाना साहब के नेतृत्व में विद्रोहियों की एक बहुत बड़ी संख्या ने उसे घेर लिया था। योरोपियनों की इस टुकड़ी के साथ ३२वीं पैदल सेना के सिपाहियों की औरतें और बच्चे भी थे। किले के ऊपर १७ जून को तथा २४ और २८ जून के बीच कई हमले हुए। अन्तिम हमले में जनरल ह्वीलर के पैर में गोली लगी और अपने घावों के कारण वह मर गये। २८ जून को नाना साहब ने अंग्रेजों से कहा कि अगर वे आत्मसमर्पण कर देंगे तो गंगा के रास्ते से नावों के जरिए उन्हें इलाहाबाद चला जाने दिया जायगा। ये शर्तें मान ली गयीं, लेकिन अंग्रेज धार के बीच पहुंचे ही थे कि गंगा के दाहिने तट से उनके ऊपर तोपें दगने लगीं। जिन लोगों ने नावों के जरिए दूसरे तट पर भागने की कोशिश की, उनको घुड़सवारों के एक दल ने पकड़ लिया और काट डाला। औरतों और बच्चों को बन्दी बना लिया गया। फौरन मदद की मांग करते हुए संदेश-वाहकों के कई बार कानपुर से इलाहाबाद भेजे जाने के बाद, १ जुलाई को, मद्रास के बन्दूकचियों और सिखों की एक टुकड़ी मेजर रिनौड के नेतृत्व में कानपुर की तरफ रवाना हुई। फतहपुर से चार मील पहले, १३ जुलाई की भोर में, ब्रिगेडियर जनरल हैवलॉक उसमें आकर मिल गये। ८४वीं और ६४वीं फौजों के १३,०० योरोपियन तथा १३वीं अनियमित घुड़सवार सेना तथा अवध की अनियमित सेना के अवशेषों को लेकर ३ जुलाई को वे बनारस से इलाहाबाद पहुंचे थे और फिर जबर्दस्ती कूच करते हुए मेजर रेनौड के पास पहुंच गये थे। जिस दिन वे रेनौड से मिले थे, ठीक उसी दिन, फतहपुर के सामने, नाना साहब के साथ लड़ाई करने के लिए उन्हें मजबूर हो जाना पड़ा था। नाना साहब अपनी देसी फौजों को वहां ले आये थे। एक जबर्दस्त टक्कर के बाद, दुश्मन के बाजू में प्रवेश करके, उन्हें फतहपुर से कानपुर की तरफ भगाने में जनरल हैवलॉक सफल हो गया। कानपुर में १५ और १६ जुलाई को उसे फिर उनका सामना करना पड़ा। १६ जुलाई को अंग्रेजों ने कानपुर पर फिर कब्जा कर लिया; नाना साहब बिठूर की तरफ पीछे हट गये। बिठूर कानपुर से १२ मील के फासले पर गंगा के किनारे स्थित है और, कहा जाता है कि, उसकी मजबूती से किलेबन्दी की गयी है। फतहपुर की ओर लड़ाई के लिए कूच करने से पहले नाना साहब ने समस्त बन्दी अंग्रेज औरतों और बच्चों को मार डाला था। कानपुर पर फिर से अधिकार करना अंग्रेजों के लिए सबसे अधिक महत्व की चीज थी, क्योंकि इससे गंगा के ऊपर का संचार मार्ग उनके लिए खुल गया था।

अवध की राजधानी लखनऊ में भी ब्रिटिश गैरीसन ने अपने को लगभग उसी मुसीबत में फंसा पाया जो उनके साथियों के लिए कानपुर में घातक सिद्ध हो चुकी थी। चारों तरफ भारी फौजों से घिरा हुआ यह ब्रिटिश गैरीसन एक किले के अन्दर बन्द था; खाने-पीने के सामान की कमी थी; और उसका लीडर उससे छिन गया था। गैरीसन का लीडर सर एच. लॉरेन्स ४ जुलाई को जहरबात से मर गया था। २ जुलाई को एक अचानक धावे के दौरान उसके पैर में घाव लग गया था और उसीसे जहरबात हो गया था। १८ और १९ जुलाई को भी लखनऊ का गढ़ खड़ा ही था। मदद की उसकी एकमात्र आशा यह है कि कानपुर से अपनी फौजें लेकर जनरल हैवलॉक वहां पहुंच जाय। परन्तु प्रश्न यह है कि अपने पिछाड़े में नाना साहब के रहते हुए, क्या जनरल हैवलॉक ऐसा करने की हिम्मत करेगा। लेकिन थोड़ी-सी भी देर लखनऊ के लिए घातक हो सकती है, क्योंकि लड़ाई की कार्रवाइयों को शीघ्र ही मौसमी बारिश असम्भव बना देगी।

कार्ल मार्क्स

*भारत में अंग्रेजों की आय

एशिया की वर्तमान अवस्था से प्रश्न उठता है कि — ब्रिटिश राष्ट्र और उसके निवासियों के लिए उनके भारतीय साम्राज्य का वास्तविक मूल्य क्या है ? प्रत्यक्ष रूप से, अर्थात् खराज (कर) के रूप में, अथवा भारतीय खर्चों को निकालकर बची हुई भारतीय आमदनी के रूप में ब्रिटेन के खजाने में कुछ भी नहीं पहुंचता । उल्टे, वहां से प्रति वर्ष जो रकम भारत जाती है, वह बहुत बड़ी है । जिस क्षण से ईस्ट इंडिया कम्पनी ने प्रदेशों को जीतने के व्यापक कार्य-क्रम में हाथ लगाया था — इसे अब लगभग १०० वर्ष हो रहे हैं — उसी क्षण से उसकी आर्थिक स्थिति खराब रही है । वह न सिर्फ जीते हुए प्रदेशों पर अपने कब्जे को बनाये रखने के लिए पार्लियामेंट से फौजी मदद की प्रार्थना करने, बल्कि, दीवालिया होने से बचने के लिए आर्थिक सहायता की मांग करने के लिए भी बार-बार मजबूर हुई है । और वर्तमान काल तक चीजें इसी तरह चलती आयी हैं । अब ब्रिटिश राष्ट्र से फौजों की इतनी बड़ी माग की गयी है । इसमें संदेह नहीं कि, इसके बाद ही, रुपये के लिए भी इतनी ही बड़ी मांगें की जायेंगी । प्रदेशों पर कब्जा करने की अपनी लड़ाइयों को चलाने के लिए तथा अपनी छावनियों की स्थापना के लिए, ईस्ट इंडिया कम्पनी ५,००,००,००० पौण्ड से ऊपर का कर्जा अभी तक ले चुकी है । इसके अलावा, पिछले वर्षों में, ईस्ट इंडिया कम्पनी की देशी और योरोपियन फौजों के अलावा ३०,००० आदमियों की एक सेना को भारत में बनाये रखने तथा उसे इधर-उधर लाने ले जाने का भी सारा खर्चा ब्रिटिश सरकार के ही मत्थे रहा है । ऐसी हालत में, स्पष्ट है कि, अपने भारतीय साम्राज्य से ग्रेट ब्रिटेन को जो लाभ होता है, वह उन मुनाफों और फायदों तक ही सीमित होगा जो व्यक्तिगत रूप से ब्रिटिश नागरिकों को होते हैं । मानना होगा कि ये मुनाफे और फायदे काफी बड़े हैं ।

सबसे पहले, ईस्ट इंडिया कम्पनी के स्टॉक-होल्डर (हिस्सेदार) हैं, जिनकी संख्या लगभग ३,००० है । हाल के पट्टे के अनुसार इन्हें, इनके द्वारा लगायी गयी ६०,००,००० पौण्ड की पूंजी के ऊपर, १०½ प्रतिशत के हिसाब से

वार्षिक मुनाफे (डिवीडेन्ट) की गारंटी कर दी गयी है। इस मुनाफे की मात्रा ६,३०,००० पौण्ड वार्षिक होती है। ईस्ट इंडिया कम्पनी की पूंजी चूंकि बेचे या बदले जा सकने वाले हिस्सों के रूप में है, इसलिए कोई भी आदमी, जिसके पास उन्हें खरीदने के लिए काफी रुपया है, कम्पनी का हिस्सेदार बन सकता है। मौजूदा पट्टे (सनद) के अन्तर्गत उसकी पूजी के ऊपर १२५ से लेकर १५० प्रतिशत तक मुनाफा मिलता है। जिस व्यक्ति के पास ५०० पौण्ड यानी लगभग ६,००० डालर की कीमत के हिस्से है, उसे कम्पनी के मालिकों की मीटिंगों में बोलने का अधिकार मिल जाता है, लेकिन वोट दे सकने के लिए उसके पास १,००० पौण्ड की कीमत के हिस्से होने चाहिए। जिन हिस्सेदारों के पास ३,००० पौण्ड के हिस्से हैं, उनके दो वोट हैं; ६,००० पौण्ड वालों के पास ३ वोट हैं; और १०,००० पौण्ड या इससे अधिक कीमत के हिस्सों के स्वामियों के पास चार वोट होते है। परन्तु डायरेक्टरों के बोर्ड के चुनाव को छोड़कर, और किसी चीज मे हिस्सों के स्वामियो की कोई आवाज नही है। बारह डायरेक्टरों को वे चुनते हैं, और छः को ताज द्वारा नियुक्त किया जाता है। किन्तु ताज द्वारा नियुक्त किये गये लोगो के लिए आवश्यक है कि वे दस या इससे अधिक वर्षों तक भारत मे रहे हों। एक-तिहाई डायरेक्टर हर साल अपने पद से हट जाते हैं, किन्तु वे फिर चुने जा सकते हैं, अथवा उनकी पुनः नियुक्ति की जा सकती है। डायरेक्टर बनने के लिए आदमी के पास २,००० पौण्ड के हिस्से होने चाहिए। डायरेक्टरों में से हरएक की तनख्वाह ५०० पौण्ड है और उनके अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को इसका दुगना मिलता है; किन्तु इस पद में मुख्य आकर्षण की वस्तु उसके साथ जुड़ा हुआ संरक्षण का एक बड़ा अधिकार है। भारत के लिए नियुक्त किये जाने वाले तमाम नागरिक और फौजी अफसरों की नियुक्ति में इस पद के अधिकारियों का हाथ होता है। लेकिन, संरक्षण-सम्बंधी इस अधिकार मे नियंत्रण बोर्ड (बोर्ड ऑफ कन्ट्रोल) का भी बहुत कुछ भाग होता है, और महत्वपूर्ण पदों पर लोगो की नियुक्तियों के सम्बंध में तो उसका प्रायः पूरा ही नियंत्रण होता है। इस बोर्ड में छः सदस्य होते हैं, जो सब प्रिवी कौंसिल के मेम्बर होते हैं। आम तौर से, उनमें से दो या तीन कैबिनेट मिनिस्टर (मंत्रि-मंडल के सदस्य) होते है। बोर्ड का अध्यक्ष तो हमेशा ही एक मिनिस्टर होता है, वास्तव में, भारत के मंत्री को ही उसका अध्यक्ष बनाया जाता है।

इसके बाद वे लोग आते हैं जिन्हें संरक्षण के इस अधिकार मे फायदा होता है। वे सेवाओं के पांच वर्गों में बंटे होते है — सिविल सर्विस, पादरी, [illegible] सैनिक और नौसैनिक। भारत में नौकरी करने के लिए, कम से कम [illegible] (मुल्की) विभाग मे नौकरी करने के लिए, वहां बोली जानेवाली [illegible]

का कुछ ज्ञान आवश्यक होता है। नौजवानों को सिविल सर्विस (नागरिक सेवा विभाग) के लिए तैयार करने के वास्ते हेलीबरी में ईस्ट इंडिया कम्पनी का एक कालेज है। सैनिक सेवा के लिए भी ऐसा ही एक कालेज है, जिसमें मुख्यतया सैनिक विज्ञान की प्रारम्भिक बातें ही सिखलायी जाती हैं। यह कालेज लंदन के पास एडिसकौम्बे में स्थापित किया गया है। पहले इन कालेजों में प्रवेश पाना कम्पनी के डायरेक्टरों की कृपा पर निर्भर करता था, परन्तु कम्पनी के पट्टे में एकदम हाल में जो परिवर्तन किये गये है, उनके अन्तर्गत उनका चुनाव अब खुली प्रतियोगिता के द्वारा उम्मीदवारों की एक सार्वजनिक परीक्षा के माध्यम से होने लगा है। भारत में पहले-पहल पहुंचने पर एक मुल्की हाकिम को १५० डालर प्रतिमास दिया जाता है। फिर, देश की एक या अधिक देशी भाषाओं का आवश्यक इम्तहान पास कर लेने के बाद (भारत पहुंचने के बारह महीनों के अन्दर यह इम्तहान उसे पास कर लेना चाहिए) उसे काम से लगा दिया जाता है। इसके बाद उसे २,५०० डालर से लेकर लगभग ५०,००० डालर सालाना तक को आमदनी होती है। ५०,००० डालर सालाना बंगाल कौंसिल के सदस्यों की तनख्वाह है। बम्बई और मद्रास कौंसिलों के सदस्यों को लगभग ३०,००० डालर सालाना मिलता है। कोई भी व्यक्ति जो कौंसिल का सदस्य नहीं है, लगभग २५,००० डालर प्रति वर्ष से अधिक नहीं पा सकता; और, २०,००० डालर या इससे अधिक की नौकरी पाने के लिए आवश्यक है कि वह व्यक्ति भारत में बारह वर्ष रहा हो। नौ साल की रिहायश के आधार पर १५,००० से २०,००० डालर तक की तनख्वाहें पायी जा सकती हैं, और तीन साल की रिहायश के आधार पर ७,००० से १५,००० डालर तक तनख्वाहें। सिविल सर्विस (नागरिक सेवा) में नियुक्तियां नाम के लिए तो वरिष्ठता और योग्यता के आधार पर होती हैं, किन्तु, वास्तव में, बहुत हद तक वे पक्षपात के ही आधार पर की जाती हैं। चूंकि इनमें सबसे ज्यादा तनख्वाह मिलती है, इसलिए उनको प्राप्त करने के लिए होड़ भी बहुत होती है। जब कभी सैनिक अफसरों को इन पदों को प्राप्त करने का मौका मिलता है, तो उन्हें पाने के लिए वे अपनी रेजीमेन्टों को छोड़ देते है। सिविल सर्विस में तमाम तनख्वाहों का औसत लगभग ८,००० डालर बताया जाता है, किन्तु इसमें अन्य सुविधाएं तथा वे अतिरिक्त भत्ते शामिल नहीं हैं जो अक्सर बहुत काफी होते हैं। इन मुल्की सेवकों (सिविल सर्वेन्ट्स) की नियुक्तियां गवर्नरों, कौंसिलरों, जजों, राजदूतों, मंत्रियों, मालगुजारी के कलक्टरों, आदि के रूप में की जाती है। उनकी पूरी संख्या आम तौर से लगभग ८०० होती है। भारत के गवर्नर जनरल की तनख्वाह १,२५,००० डालर वार्षिक है, किन्तु मिलने वाले अतिरिक्त भत्तों की रकम बहुधा इससे कहीं बड़ी होती है। गिरजों

की सेवा के विभाग में तीन विशप और लगभग एक सौ साठ चैपलेन होते है। कलकत्ते के विशप को २५,००० डालर सालाना मिलता है; मद्रास और बम्बई के बिशपों को इसका आधा; और चैपलेनों को फीसों के अलावा, २,५०० से ७,००० डालर तक दिये जाते है। डाक्टरी सेवा विभाग मे लगभग ८०० डाक्टर और सर्जन है जिनकी तनख्वाहें १,५०० से १०,००० डालर तक है।

भारत में नौकरी मे लगे हुए योरोपियन सैनिक अफसरों की संख्या लगभग ८,००० है। इस संख्या मे उन सैनिक टुकड़ियों के योरोपियन अफसर भी शामिल है जो पराधीन राजे-रजवाड़ों को कम्पनी की सेवा के लिए देनी पड़ती हैं। पैदल सेना में ध्वजाधारियों के लिए नियत वेतन १,०८० डालर है; लेफ्टीनेण्टों के लिए १,३४४ डालर; कैप्टनों के लिए २,२२६ डालर; मेजरों के लिए ३,८१० डालर; लेफ्टीनेण्ट कर्नलों के लिए ५,५२० डालर; कर्नलों के लिए, ७,६८० डालर। यह वेतन छावनी का है। लाम पर जाने पर वह और अधिक हो जाता है। घुड़सवार सेना, तोपखाने और इंजीनियरों के दस्तों मे कुछ अधिक वेतन दिया जाता है। अफसरों की जगहों को अथवा सिविल सर्विस (मुल्की सेवा) में नौकरियां प्राप्त करके अनेक अधिकारी अपने वेतन को दुगना कर लेते हैं।

इस तरह, ऐसे लगभग १०,००० ब्रिटिश नागरिक है जो भारत के अन्दर अच्छी आमदनी की जगहों पर जमे हुए हैं। वे इंडियन सर्विस से अपना वेतन प्राप्त कर रहे हैं। इनमें उन लोगों की तादाद भी जोड़ दी जानी चाहिए जो पेन्शनें लेकर इंगलैंड में अवकाश-प्राप्त जीवन बिता रहे हैं। कुछ वर्ष काम करने के बाद ये पेन्शनें तमाम सेवाओं के अन्तर्गत दी जाती हैं। मुनाफों तथा इंगलैंड के कर्जों के ऊपर सूद के साथ-साथ, ये पेन्शनें भारत का लगभग डेढ़ से दो करोड़ डालर सालाना तक आत्मसात कर जाती है। इस रकम को, वास्तव में, भारत की रियाया द्वारा अंग्रेज सरकार को अप्रत्यक्ष रूप मे दी जानेवाली खराज समझा जाना चाहिए। हर साल विभिन्न सेवाओं से जो लोग अवकाश प्राप्त करते है, वे अपनी तनख्वाहों से बचायी गयी काफी भारी रकमें साथ ले आते हैं; इस प्रकार भारत से प्रति वर्ष खिंचकर आनेवाले रुपयों में ये रकमे और जुड़ जाती हैं।

भारत मे सरकार की सेवा में लगे इन योरोपियनों के अलावा वहां ६,००० या इससे भी अधिक ऐसे दूसरे योरोपियन निवासी भी है, जो व्यापार में, अथवा व्यक्तिगत सट्टे के कारोबार में लगे हुए हैं। उनमे से कुछ ग्रामीण क्षेत्रों में नील, चीनी तथा कॉफी के बागानों के मालिक है: शेष मुख्यतया व्यापारी, दलाल (एजेन्ट) तथा ऐसे कारखानेदार है जो कलकत्ता, बम्बई और मद्रास के नगरों मे, अथवा उनके बिल्कुल करीब रहते हैं। भारत का विदेशी व्यापार,

जिसमें लगभग ५ करोड़ डालर का आयात और उतने का ही निर्यात शामिल है, लगभग पूर्णतया उन्ही के हाथों में है। निस्सन्देह, इससे उन्हें जो मुनाफा होता है, वह बहुत बड़ा है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारत के साथ अंग्रेजों के सम्बंध से बहुतेरे व्यक्तियों को भारी लाभ होता है और निर्विवाद रूप से, उनके लाभ से इंगलैंड की राष्ट्रीय सम्पदा की कुल मात्रा में वृद्धि होती है। परन्तु इस सब में से एक बहुत बड़ी रकम का मुजरा करना भी आवश्यक है। इंगलैंड की जनता की जेबों से जो सैनिक और नौ-सैनिक खर्च भारत की मद में किया जाता है, उसकी रकम भारतीय सल्तनत के विस्तार के साथ-साथ निरन्तर बढ़ती गयी है। बर्मी, अफगान, चीनी और फारस (ईरान) के युद्धों के ऊपर जो रुपया खर्च किया गया है, उसे भी इसी में जोड़ दिया जाना चाहिए। दरहकीकत, पिछले रूसी युद्ध के पूरे खर्चे को भी सही तौर से भारत के ही हिसाब में जोड़ा जा सकता है; क्योंकि रूस के प्रति जिस भय और आतंक ने उस युद्ध को जन्म दिया था, उसका सोलहो आना कारण भारत से सम्बंधित उसके इरादों के बारे में ईर्ष्या ही थी। इसी में उन तमाम अन्तहीन जीतों और निरन्तर आक्रमणों पर किये जानेवाले खर्चों को भी जोड़ दीजिए जिनमें भारत के स्वामी होने के नाते अंग्रेजों को हमेशा उलझे रहना पड़ता है। और तब, इस बात की सचमुच आशंका हो सकती है कि कुल मिला कर इस सल्तनत पर कहीं उतना ही खर्च तो नहीं होने जा रहा है जितने की आगे कभी उससे आमदनी की आशा की जा सकती है।

कार्ल मार्क्स द्वारा सितम्बर, १८५७ के आरम्भ में लिखा गया।

२१ सितम्बर, १८५७ के "न्यू यॉर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५१२३, में एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

कार्ल मार्क्स

भारतीय विद्रोह

लंदन, ४ सितम्बर, १८५७

विद्रोही सिपाहियों द्वारा भारत में किये गये अनाचार सचमुच भयानक, बीभत्स और अवर्णनीय है। ऐसे अनाचारों को आदमी केवल विप्लवकारी युद्धों में, जातियों, नस्लों और, सबसे अधिक, धर्म के युद्धों में देखने का खयाल मन में ला सकता है। एक शब्द में, ये वैसे ही अनाचार हैं जैसे वेन्दियनों ने "नीले सैनिकों" पर किये थे और जिनकी इंगलैंड के भद्र लोग उस वक्त तारीफ किया करते थे; वैसे ही जैसे कि स्पेन के छापेमारों ने अधर्मी फ्रांसीसियों पर, सर्बियनों ने जर्मन और हंगरी के अपने पड़ोसियों पर, क्रोट लोगों ने वियना के विद्रोहियों पर, कावेनाक के चलते-फिरते गार्डों अथवा बोनापार्ट के दिसम्बर-वादियों ने सर्वहारा फ्रांस के बेटे-बेटियों पर किये थे।" सिपाहियों का व्यवहार चाहे जितना भी कलंक-पूर्ण क्यों न रहा हो, पर एक तीव्र रूप में, वह उस व्यवहार का ही प्रतिफल है जो न केवल अपने पूर्वी साम्राज्य की नीव डालने के युग में, बल्कि अपने लम्बे जमे शासन के पिछले दस वर्षों के दौरान में भी इंगलैंड ने भारत में किया है। उस शासन की विशेषता बताने के लिए इतना ही कहना काफी है कि यंत्रणा उसकी वित्तीय नीति का एक आवश्यक अंग थी।* मानव इतिहास में प्रतिशोध नाम की भी कोई चीज होती है; और ऐतिहासिक प्रतिशोध का यह नियम है कि उसका अस्त्र त्रस्त होनेवाला नहीं, वरन् स्वयं त्रास देने वाला ही बनाता है।

फ्रांसीसी राजतंत्र पर पहला वार किसानों ने नहीं, अभिजात कुलों ने किया था। भारतीय विद्रोह का आरम्भ अंग्रेजों द्वारा पीड़ित, अपमानित तथा नंगी बना दी गयी रैयत ने नहीं किया, बल्कि उनके द्वारा खिलाये-पिलाये, वस्त्र पहनाये, दुलराये, मोटे किये और बिगाड़े गये सिपाहियों ने ही किया है। सिपाहियों के दुराचारों की तुलना के लिए हमें मध्य युगों की ओर जाने की

---

* इस संग्रह के पृष्ठ ६७-७२ देखिए। — सं.

जरूरत नहीं है, जैसा कि लंदन के कुछ अखबार झूठ-मूठ करने की कोशिश करते हैं; उसके लिए हमें वर्तमान इंगलैंड के इतिहास से भी दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। हमें केवल इस बात की जरूरत है कि प्रथम चीनी युद्ध" का, जो मानो कल की ही घटना है, अध्ययन कर लें। अंग्रेज सिपाहियों ने तब केवल मजे के लिए अत्यंत घिनौने काम किये थे, उनकी भावनाएं तब न तो धार्मिक पागलपन से प्रेरित हुई थी, न वे किसी अहंकारी और विजेता जाति के प्रति घृणा से भरकर उभर पड़ी थी, और न वे किसी वीर शत्रु के कठिन प्रतिरोध के कारण ही भड़क उठी थीं। स्त्रियों पर बलात्कार करना, बच्चों को शलाखें भोंक देना, पूरे-पूरे गांवों को भून देना—ये सब उनके खेल थे। इनका वर्णन मन्दारिनों (चीनी अधिकारियों) ने नहीं, बल्कि स्वयं ब्रिटिश अफसरों ने किया है।

इस दुःखद संकट-काल में भी यह सोच लेना भयानक भूल होगी कि सारी क्रूरता सिपाहियों की ही तरफ से हुई है और मानवीय दया-करुणा का सारा दूध अंग्रेजों की तरफ से बहा है। ब्रिटिश अफसरों के पत्र कपट-पूर्ण द्वेष से भरे हुए हैं। पेशावर से एक अफसर ने उस १०वीं अनियमित घुड़सवार सेना के निरस्त्रीकरण का वर्णन लिखा है, जिसने आज्ञा दिये जाने पर, ५५वीं भारतीय पैदल सेना पर आक्रमण नहीं किया था। यह इस बात पर बेहद खुशी प्रकट करता है कि न केवल वे निहत्थे कर दिये गये थे, बल्कि उनके कोट और बूट भी छीन लिये गये थे, और उनमें से हर आदमी को १२ पेन्स देकर पैदल नदी के किनारे ले जाया गया था, और वहां नावों में बैठाकर सिंधु नदी से उन्हें नीचे की तरफ भेज दिया गया था, जहां कि, आह्लाद से भरकर लेखक आशा करता है, उनमें से हर माई का लाल तेज भवरों में डूब जायगा। एक और लेखक हमें बताता है कि पेशावर के कुछ निवासियों ने एक शादी के अवसर पर पटाखे छुटा कर (जो एक राष्ट्रीय रिवाज है) रात में घबराहट पैदा कर दी थी; तो अगली सुबह उन लोगों को बांध दिया गया था और "इतने कोड़े लगाये गये थे कि आसानी से वे उन्हें नहीं भूलेंगे।" पिंडी में खबर मिली कि तीन देशी राजा साजिश कर रहे थे। सर जॉन लारेन्स ने एक सन्देश भेजा जिसमें आज्ञा दी गयी थी कि एक जासूस उस मंत्रणा की खोज-खबर लाये। जासूस की रिपोर्ट के आधार पर, सर जॉन ने एक दूसरा सन्देश भेजा, "उन्हें फांसी दे दो।" राजाओं को फांसी दे दी गयी। इलाहाबाद से सिविल सर्विस का एक अफसर लिखता है : "हमारे हाथ में जिन्दगी और मौत की ताकत है, और हम तुम्हें यकीन दिलाते हैं कि उसका इस्तेमाल करने में हम कोताही नहीं करते!" वहीं से एक दूसरा अफसर लिखता है "कोई दिन नहीं जाता जब हम उनमें से (न लड़नेवाले लोगों में से) १०-१५ को लटका न

देते हो !" एक बहुत प्रसन्न अफसर लिखता है : "होम्स, एक 'बढ़िया' आदमी की तरह, उनमें से २०-२० को एक साथ फांसी पर लटका रहा है।" एक दूसरा, बड़ी संख्या में हिन्दुस्तानियों को झटपट फांसी देने की बात का जिक्र करते हुए, कहता है : "तब हमारा मेल शुरू हुआ।" एक तीसरा : "घोड़ों पर बैठे-बैठे ही हम अपने फौजी फैसले सुना देते हैं, और जो भी काला आदमी हमें मिलता है, उसे या तो लटका देते हैं, या गोली मार देते हैं।" बनारस से हमें सूचना मिली है कि तीस जमींदारों को केवल इसलिए फांसी दे दी गयी है कि उन पर स्वयं अपने देशवासियों के साथ सहानुभूति रखने का सन्देह किया जाता था, और इसी सन्देह में पूरे गांव-के-गाव जला दिये गये हैं। बनारस से एक अफसर, जिसका पत्र लंदन टाइम्स में छपा है, लिखता है : "हिन्दुस्तानियों से सामना होने पर योरोपियन सैनिक शैतान की तरह पेश आते हैं।"

और यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अंग्रेजों की क्रूरताएं सैनिक पराक्रम के कार्यों के रूप में बयान की जाती हैं, उन्हें सीधे-सादे ढग से, तेजी से, उनके घृणित ब्योरों पर अधिक प्रकाश डाले बिना बताया जाता है; लेकिन हिन्दुस्तानियों के अनाचारों को, यद्यपि वे खुद सदमा पहुंचाने वाले हैं, जान-बूझ कर और भी बढा-चढा कर बयान किया जाता है। उदाहरण के लिए, दिल्ली और मेरठ में किये गये अनाचारों की परिस्थितियों के उस विस्तृत वर्णन को, जो सबसे पहले टाइम्स में छपा था और बाद में लंदन के दूसरे अखबारों में भी निकला था — किसने भेजा था ? बंगलौर, मैसूर में रहनेवाले एक कायर पादरी ने — जो एक सीध में देखा जाय तो घटना-स्थल से १,००० मील से भी अधिक दूर था। दिल्ली के वास्तविक विवरण बताते हैं कि एक अंग्रेज पादरी की कल्पना हिन्द के किसी बलवाई की कल्पना की उड़ानों से भी अधिक भयानक अत्याचारों को गढ़ सकती है। निस्संदेह, नाकों, छातियों, आदि का काटना, अर्थात, एक शब्द में, सिपाहियों द्वारा किये जानेवाले अंग-भंग के बीभत्स कार्य योरोपीय भावना को बहुत भीषण मालूम होते हैं। 'मैन्चेस्टर शान्ति समाज' के एक मन्त्री* द्वारा कैन्टन के घरों पर फेंके गये जलते गोलों, अथवा किसी फ्रांसीसी मार्शल द्वारा गुफा में बन्द अरबों के जिन्दा भून दिये जाने, या किसी क्रुद्ध-मग्ज फौजी अदालत द्वारा 'नौ दुम की बिल्ली' नाम के कोड़े से अंग्रेज सिपाहियों की जीते जी चमड़ी उधेड़ दिये जाने, या ब्रिटेन के जेल-सदृश उपनिवेशों में प्रयोग में लाये जानेवाले ऐसे ही किसी अन्य मनुष्य-उद्धारक यंत्र के इस्तेमाल की तुलना में भी सिपाहियों के

---

* बाउरिंग।—सं.

ये कार्य उन्हे कही अधिक भीषण लगते हैं। किसी भी अन्य वस्तु की तरह क्रूरता का भी अपना फैशन होता है, जो काल और देश के अनुसार बदलता रहता है। प्रवीण विद्वान सीज़र स्पष्ट बताता है कि किस प्रकार उसने सहस्रों गॉल सैनिकों[11] के दाहिने हाथ काट लेने की आज्ञा दी थी। इस कर्म में नेपोलियन को भी लज्जा आती। अपनी फ्रैंच रेजीमेन्टों को, जिन पर प्रजातंत्र-वादी होने का सन्देह किया जाता था, वह सान्टो डॉमिन्गो भेजना अधिक पसन्द करता था, जिससे कि वे प्लेग की चपेट मे और काली जातियों के हाथ मे पड़कर वहा मर जायं।

सिपाहियो द्वारा किये गये वीभत्स अंग-भंग हमे ईसाई बाईजैण्टियन साम्राज्य की करतूतों, सम्राट चार्ल्स पचम्[12] के फौजदारी कानून के फतवों, अथवा राजद्रोह के अपराध के लिए अंग्रेजों द्वारा दी जानेवाली उन सजाओं की याद दिलाते हैं, जिनका जज ब्लैकस्टोन[13] की लेखनी से किया गया वर्णन अब भी उपलब्ध है। हिन्दुओं को—जिन्हें उनके धर्म ने आत्म-यत्रणा की कला मे विशेष पटु बना दिया है—अपनी नस्ल और धर्म के शत्रुओ पर ढाये गये ये अत्याचार सर्वथा स्वाभाविक लगते हैं, और, उन अंग्रेजों को तो—जो कुछ ही वर्ष पहले तक जगन्नाथ के रथ उत्सव से कर उगाहते थे और क्रूरता के एक धर्म की रक्त-रंजित विधियों की सुरक्षा और सहायता करते थे—वे इससे भी अधिक स्वाभाविक मालूम होने चाहिएं।

"बेहूदा खबीस टाइम्स"—कौबेट इसे इसी नाम से पुकारा करता था—का बौखलाहट भरा प्रलाप, मोजार्ट के किसी गीति-नाट्य के एक क्रुद्ध पात्र जैसा उसका अभिनय और फिर प्रतिशोध के आक्रोश मे अपनी खोपडी के सारे बालों का नोच डालना—यह सब एकदम मूर्खतापूर्ण लगता यदि इस दुखान्त नाटक की करुणा के अन्दर से भी उसके प्रहसन की चालाकियां साफ-साफ न झलकती होतीं। मोजार्ट के गीति-नाट्य का क्रुद्ध पात्र इसी तरह पहले शत्रु को फांसी देने, फिर भूनने, फिर काटने, फिर कबाब बनाने, और फिर जीते जी उसकी खाल उधेड़ने[14] के विचार को अत्यन्त मधुर संगीत के द्वारा व्यक्त करता है। लदन टाइम्स अपना पार्ट अदा करने मे आवश्यकता से अधिक अतिरंजना से काम लेता है—और ऐसा वह केवल भय के कारण नही करता। प्रहसन के लिए वह एक ऐसा विषय बताता है जिसे मोलियर तक की नजरें न देख सकी थी—वह प्रतिशोध के तारतूफ की रचना करता है। वह जो चाहता है वह केवल यह है कि सरकार का खजाना बढ़ जाय और सरकार के चेहरे पर नकाब पड़ा रहे। दिल्ली चूंकि महज हवा के झोंकों के सामने भर-भरा कर उस तरह नही गिर पडी है जिस तरह जैरिको[15] की दीवारें गिर पड़ी

थी, इसलिए जान बुल के लिए जरूरी है कि उसके कानों में प्रतिशोध की कर्णभेदी आवाजें गूंजती रहें और, उनकी वजह से वह यह भूल जाय कि जो बुराई हुई है और उसने जो इतना विराट रूप ग्रहण कर लिया है, उसकी सारी ज़िम्मेदारी स्वयं उसकी अपनी सरकार पर ही है।

कार्ल मार्क्स द्वारा ४ सितम्बर, १८५७ को लिखा गया।

१६ सितम्बर, १८५७ के "न्यू यॉर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५११९, में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

कार्ल मार्क्स

*भारत में विद्रोह

भारत से आने वाले समाचार, जो हमें कल मिले थे, अंग्रेजों के लिए बहुत ही हानिकारक और खतरनाक मालूम होते हैं; यद्यपि, जैसा कि इसी अंक के दूसरे स्तंभ में देखा जा सकता है, लंदन के हमारे चतुर सम्वाददाता का विचार इससे भिन्न है।" दिल्ली से हमें २९ जुलाई तक का ब्यौरा प्राप्त हुआ है, और बाद की एक और रिपोर्ट भी। इनसे पता चलता है कि हैजे के विनाशकारी परिणामों के कारण घेरा डालने वाली फौजों को दिल्ली से हटने और आगरा जाकर पड़ाव डालने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा है। यह सही है कि इस रिपोर्ट को लंदन के किसी भी पत्र ने स्वीकार नहीं किया है, किन्तु, अधिक से अधिक, हम यही कह सकते है कि यह बात समय से कुछ पहले कही जा रही है। जैसा कि तमाम भारतीय पत्र-व्यवहार से हम जानते है, घेरा डालनेवाली सेना को १४, १८ और २३ जुलाई को उसके ऊपर अचानक किये गये हमलों के कारण बहुत नुकसान पहुचा था। इन हमलों के समय विद्रोही हमेशा से भी अधिक निर्द्वन्द प्रचण्डता के साथ, और, अपनी बेहतर तोपों की वजह से, अत्यधिक लाभदायक ढंग से लड़े थे।

> एक ब्रिटिश अफसर लिखता है, "हम लोग १८ पॉउड और ८ इंच वाली छोटी तोपें दाग रहे है और विद्रोही २४ पांउड और ३२ इंच वाली तोपों से जवाब दे रहे हैं।" एक दूसरा पत्र बताता है, "१८ धावों में, जिनका हमे सामना करना पड़ा है, मृतकों और घायलो के रूप मे हमारी एक तिहाई सख्या खत्म हो गयी है।"

सहायता के लिए नई कुमक पाने की जिसकी अधिक से अधिक आशा की जा सकती है, वह जनरल वान कोर्टलैण्ड के मातहत सिखों की एक टुकड़ी है। कई सफल लड़ाइयां लड़ने के बाद, जनरल हैवलॉक इस बात के लिए मजबूर हो गये कि लखनऊ की सहायता करने के विचार को फिलहाल तिलाजलि देकर फिर कानपुर लौट जायं। साथ ही साथ "दिल्ली में भारी बारिश शुरु हो गयी है", जिससे कि अनिवार्य रूप से हैजे की भीषणता भी

बढ़ गयी है। इसलिए वह समाचार, जिसमें आगरा वापस लौटने की और कम-से-कम फिलहाल, महान मुगल की राजधानी पर अधिकार करने की कोशिशों को छोड़ देने की बात की घोषणा है, अगर अभी तक सच नहीं साबित हुआ है, तो जल्दी ही सच साबित हो जायगा।

गंगा के किनारे मुख्य रूप से ध्यान देने की चीज जनरल हैवलाक की फौजी कार्रवाइयां हैं। फतहपुर, कानपुर और बिठूर में उनकी सफलताओं को लंदन के हमारे सहयोगियों ने बहुत बढ़ी-चढ़ी तारीफ के साथ पेश किया है। जैसा कि हम ऊपर बता चुके है, कानपुर से पच्चीस मील आगे बढ़ने के बाद वह इस बात के लिए मजबूर हो गये थे कि न केवल अपने बीमारों को पीछे छोड़ने की गरज से, बल्कि और सहायता के आने का इन्तजार करने की गरज से भी, वह फिर उसी स्थान पर लौट जायें। यह चीज बहुत खेद की है, क्योंकि इससे जाहिर होता है कि लखनऊ को सहायता पहुंचाने का प्रयत्न गड़बड़ हो गया है। वहां के ब्रिटिश गैरीसन की एकमात्र आशा अब ३,००० गोरखों की वह सेना ही रह गयी है जिसे उसकी सहायता के लिए नेपाल से जंग बहादुर ने भेजा है। अगर घेरे को तोड़ने मे वह भी असफल हुई, तो लखनऊ में भी कानपुर के पाशविक हत्याकांड की पुनरावृत्ति होगी। बात इतनी ही नहीं होगी। विद्रोही अगर लखनऊ के किले पर कब्जा कर लेते हैं और फिर, इसके परिणामस्वरूप, अवध मे अपनी सत्ता को यदि वे सुदृढ़ बना लेते है, तो इससे दिल्ली के खिलाफ की जानेवाली अंग्रेजों की समस्त सैनिक कार्रवाइयों के लिए बाजू से खतरा पैदा हो जायगा और बनारस, तथा बिहार के पूरे जिले में जूझती हुई शक्तियों का सन्तुलन निर्णायक रूप से बदल जायगा। कानपुर का आधा महत्व खतम हो जायगा और एक तरफ दिल्ली के साथ, और, दूसरी तरफ—लखनऊ के किले पर कब्जा किये हुए विद्रोहियों की वजह से बनारस के साथ उसका सचार-मार्ग खतरे में पड़ जायगा। इस संकटपूर्ण अनिश्चितता के कारण, उस स्थान से आनेवाले समाचारों के प्रति हमारी दुःखदायी चिन्ता और बढ़ जाती है। १६ जून को वहां के गैरीसन ने अनुमान लगाया था कि अकाल-कालीन राशन के आधार पर वह छै हफ्ते तक टिका रह सकेगा। जिस आखरी दिन का समाचार आया है, उस दिन तक पांच हफ्ते बीत चुके थे। वहां सब कुछ अब उस सैनिक सहायता पर निर्भर करता है जिसके नेपाल से आने की रिपोर्ट है, किन्तु जिसका आना अभी तक अनिश्चित है।

अगर कानपुर से बनारस और बिहार के जिले की तरफ, गंगा के साथ-साथ नीचे की तरफ हम चलें, तो अंग्रेजों की स्थिति और भी अंधकारपूर्ण दिखलाई देती है। बंगाल गजट[11] में छपे हुए बनारस के ३ अगस्त के एक पत्र में कहा गया है,

कि दानापुर के बागियों ने, सोन को पार करके, आरा पर धावा बोल दिया। अपनी सुरक्षा के सम्बंध में सही तौर से घबड़ा कर, वहां के यौरोपियन निवासियों ने सैनिक सहायता के लिए दानापुर लिखा। इसके मुताबिक मलिका के ५वें, १०वें और ३७वें सैनिक दस्तों को भरकर दो स्टीमर (अग्नि-बोट) वहा भेज दिये गये। आधी रात में एक अग्नि-बोट (स्टीमर) कीचड़ मे पहुंच गयी और उसमे बुरी तरह फंस गयी। सैनिकों को जल्दी-जल्दी उतार लिया गया और पैदल ही रवाना कर दिया गया। किन्तु ऐसा करते समय आवश्यक सावधानी नही बरती गयी। यकायक दोनों तरफ से, बहुत पास से, उनके ऊपर जबर्दस्त गोलीबार से हमला बोल दिया गया, और उनकी छोटी-सी सेना के १५० आदमियों को, जिनमें कई अफसर भी थे, बेकार बना दिया गया। अनुमान किया जाता है कि वहा के तमाम यौरोपियनों को, जो लगभग ४७ थे, कत्ल कर दिया गया है।"

बंगाल प्रेसीडेन्सी के अन्तर्गत, अंग्रेजों के जिले शाहाबाद मे, दानापुर से गाजीपुर के मार्ग पर स्थित—आरा एक कस्बा है। दानापुर से पश्चिम की ओर वह २५ मील है और गाजीपुर से पूर्व की ओर ७५ मील। बनारस स्वयं खतरे मे पड़ गया था। इस स्थान में यौरोपियन उसूलों के आधार पर बना एक किला है, और यदि वह विद्रोहियों के हाथ मे पड गया तो वह एक दूसरी दिल्ली बन जायगा। बनारस के दक्षिण में, और गंगा के दूसरे तट पर स्थित, मिर्जापुर में एक मुसलमान साजिश का पता लगा है, और, गंगा के तट पर ही स्थित बरहमपुर मे, जो कलकत्ते से लगभग १८ मील के फासले पर है, ६३वीं देशी पैदल सेना के हथियार छीन लिये गये हैं। एक शब्द में, सम्पूर्ण बंगाल प्रेसीडेन्सी में एक तरफ बगावत की भावना और दूसरी तरफ घबड़ाहट फैल रही है। ये चीजें कलकत्ते के द्वार तक पहुच गयी हैं जहा, मोहर्रम के लम्बे उपवास (रोजों) की वजह से, भयाकुल चिन्ता छायी हुई है। उपवास के इन दिनों में इस्लाम के अनुयाई, धार्मिक उन्माद से भर कर, तलवारें लेकर जरा से भी उकसाये पर लड़ पड़ने की तैयारी के साथ इधर-उधर घूमते हैं। सम्भावना है कि इसके परिणामस्वरूप वहा, जहां गवर्नर जनरल* को स्वयं अपने अंग-रक्षकों को निरस्त्र कर देने के लिए बाध्य होना पड़ा है, अंग्रेजों के ऊपर एक आम हमला शुरू हो जाय। पाठक फौरन समझ सकेगा कि अब इस बात का खतरा पैदा हो गया है कि अंग्रेजों के यातायात के मुख्य मार्ग, गंगा के मार्ग, को रोक दिया जाय, उसको अवरुद्ध कर दिया जाय और एकदम काट दिया जाय। इसका असर नवम्बर में आनेवाली सैनिक सहायता की प्रगति के

* चार्ल्स जॉन कैनिंग।—सं.

ऊपर पड़ेगा और उसकी वजह से जमुना के ऊपर से होनेवाली अंग्रेजों की फौजी कार्रवाइयां सबसे कट जायगी।

बम्बई प्रेसीडेन्सी में भी हालत बहुत गम्भीर रूप ले रही है। बम्बई की २७वी देशी पैदल सेना द्वारा कोल्हापुर में बगावत करने की बात एक वास्तविकता है, किन्तु ब्रिटिश फौजों द्वारा उसे हरा दिये जाने की बात महज एक अफवाह है। बम्बई की देशी सेना ने नागपुर, औरंगाबाद, हैदराबाद, और अन्त में, कोल्हापुर में, एक के बाद दूसरी जगह मे बगावत कर दी है। बम्बई की देशी सेना की वास्तविक शक्ति ४३,०४८ सैनिक है, जब कि उस पूरी प्रेसीडेन्सी में योरोपियनों की केवल दो ही रेजीमेन्टें हैं। देशी सेना से आशा की जाती थी कि वह न केवल बम्बई प्रेसीडेन्सी की सीमाओं के अन्दर व्यवस्था बनाये रखेगी, बल्कि पंजाब में सिन्ध तक सैनिक सहायता भी भेजेगी, और इस बात के लिए आवश्यक सैनिक टुकड़ियां तैयार करेगी कि मऊ और इन्दौर पर फिर से कब्जा करके उन्हें अपने अधिकार में रखा जाय, आगरा के साथ सम्पर्क स्थापित किया जाय तथा वहा के गैरीसन को मदद पहुचायी जाय। ब्रिगेडियर स्टीवर्ट की जिस सैनिक टुकड़ी को इस कार्य को पूरा करने का भार सौंपा गया था, उसमें ३०० सैनिक बम्बई की ३री योरोपियन रेजीमेन्ट के थे, २५० सैनिक बम्बई की ५वीं देशी पैदल सेना के थे, १,००० सैनिक बम्बई की २५वी देशी पैदल सेना के थे, २०० सैनिक बम्बई की १९वी देशी पैदल सेना के थे, और ८०० सैनिक हैदराबाद की फौज की ३री घुड़सवार रेजीमेन्ट के थे। इस फौज के साथ कुल मिला कर लगभग २,२५० देशी सिपाही और ७०० योरोपियन हैं जो सम्राज्ञी की ८६वीं पैदल सेना तथा सम्राज्ञी के १४वें हल्के ड्रैगून (घुड़सवार, मुख्यतया दल) से आये हैं। इसके अतिरिक्त, खानदेश और नागपुर के बागी क्षेत्रों को डरवाने के लिए तथा साथ ही साथ, मध्य भारत में काम करने वाले अपने उड़न दस्तों की मदद की तैयारी के लिए, औरंगाबाद में भी देशी फौज का एक दस्ता अंग्रेजों ने इकट्ठा कर लिया था।

हमे बताया जाता है कि भारत के उस भाग में "शान्ति स्थापित कर दी गयी है," किन्तु इस निष्कर्ष पर पूरे तौर से हम भरोसा नहीं कर सकते। वास्तव में, इस प्रश्न का हल मऊ के कब्जे से नहीं होता, बल्कि उसका फैसला इस बात से होगा कि वे दो मरहठा राजे—होल्कर और सिन्धिया के राजे—क्या करते हैं। जो समाचार हमें स्टीवर्ट के मऊ पहुंचने की सूचना देता है, वही आगे यह भी बताता है कि यद्यपि होल्कर अब भी वफादार है, किन्तु उसके सिपाही हाथ से बाहर निकले जा रहे हैं। जहां तक सिन्धिया की नीति का सम्बंध है उसके विषय में एक शब्द भी नहीं कहा गया है। वह नौजवान है, लोकप्रिय है, जोश से भरा हुआ है, और सम्पूर्ण मराठा राष्ट्र को संयुक्त करने

के लिए वह एक केन्द्र-बिन्दु और स्वाभाविक नेता का काम दे सकता है। उसके पास अपने १०,००० अच्छी तरह अनुशासित सैनिक हैं। वह अंग्रेजों का साथ छोड़ देगा तो उनके हाथ से न केवल मध्य भारत निकल जायगा, बल्कि क्रान्तिकारी योजना को जबर्दस्त शक्ति तथा दृढ़ता प्राप्त होगी। दिल्ली से ब्रिटिश फौजों के पीछे हट जाने तथा असन्तुष्ट लोगों द्वारा धमकाये तथा मनाये जाने के परिणामस्वरूप, हो सकता है कि, अन्त में, वह भी अपने देशवासियों की तरफ हो जाय। किन्तु, होल्कर और सिन्धिया, दोनों पर, मुख्य प्रभाव दक्षिण के मराठों के कार्यों का पड़ेगा; और विद्रोह ने, आखिरकार, जैसा कि हम पहले ही लिख चुके है,* वहां भी सिर उठा लिया है। मोहर्रम का त्योहार वहा भी बहुत खतरनाक होता है। तब फिर, बम्बई की सेना में आम विद्रोह शुरू हो जायगा—इसकी आशंका करने का भी कारण है। इस उदाहरण का अनुकरण करने में मद्रास की सेना भी बहुत पीछे नही रहेगी। उसमें हैदराबाद, नागपुर, मालवा जैसे सबसे धर्मान्ध मुस्लिम जिलो से भर्ती किये गये कुल मिलाकर ६०,५५९ देसी सैनिक है। तब फिर, अगर यह मान लिया जाय कि अगस्त और सितम्बर की वर्षा ऋतु ब्रिटिश फौजो की गति-विधि को पंगु बना देगी और उनके यातायात के साधनों को क्षत-विक्षत कर देगी, तो यह बात भी तर्क-पूर्ण लगती है। अंग्रेजों की सारी प्रकट शक्ति के बावजूद, योरप से भेजी गयी सैनिक सहायता, जो बहुत विलम्ब से और बूंद-बूंद करके आ रही है, उस कार्य को अंजाम देने मे असफल रहेगी जो उसे सौंपा गया है। आगे की जानेवाली सैनिक कार्रवाइयों के दौर में, एक तरह से फिर अनर्थों के उसी रिहर्सल (पुनरावृत्ति) की आशंका है जिसे हम अफगा-निस्तान मे देख चुके हैं।"

कार्ल मार्क्स द्वारा १८ सितम्बर, १८५७ को लिखा गया।

२ अक्तूबर, १८५७ के "न्यू-यौर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५१३४, में एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया।

* इस संग्रह का पृष्ठ ८१ देखिए।—सं.

कार्ल मार्क्स

*भारत में विद्रोह

एटलान्टिक के द्वारा भारत से कल आये समाचारों में दो मुख्य बातें हैं—लखनऊ की सहायता के लिए आगे बढ़ने में जनरल हैवलाक की असफलता, तथा दिल्ली में अंग्रेजों का अभी तक जमा रहना। इस दूसरी बात का एक दूसरा उदाहरण केवल ब्रिटिश इतिहास में ही मिलता है—वाल्चेरेन के नौसैनिक अभियान" में। अगस्त १८०९ के मध्य तक इस बात के निश्चित हो जाने पर भी कि उस अभियान की असफलता अनिवार्य है, लौटने के काम में अंग्रेजों ने नवम्बर तक की देरी कर दी थी। नेपोलियन को जब यह पता चला कि उस स्थान पर एक अंग्रेज सेना उतरी है, तो उसने आदेश दिया कि उस पर हमला न किया जाय। नेपोलियन ने कहा कि फ्रांसीसी उसे नष्ट करने के काम को बीमारियों के जिम्मे छोड़ दें—बीमारियां तोपों से भी अधिक काम कर देंगी और फ्रांस का एक सैंट (डबल) भी खर्च न होगा। वर्तमान महान मुगल, जो नेपोलियन से भी अच्छी स्थिति में है, बीमारियों की सहायता के लिए बीच-बीच में अचानक (अंग्रेजों के ऊपर—अनु.) हमले कर देता है और उसके इन हमलों की सहायता वे बीमारियां करती हैं।

कागलियारी से २७ सितम्बर को भेजा गया ब्रिटिश सरकार का एक सन्देश हमें बताता है कि,

"दिल्ली का सबसे बाद का समाचार १२ अगस्त तक का है, शहर तब तक भी विद्रोहियों के ही हाथ में था; लेकिन, काफी सैन्य सहायता के साथ जनरल निकल्सन वहां से एक दिन के कूच के ही फासले पर है, इसलिए आशा की जाती है कि शहर पर जल्द ही हमला किया जायगा।"

अगर विल्सन और निकल्सन के हमला करने तक वर्तमान सेनाओं की ही मदद से दिल्ली पर अधिकार नहीं कर लिया जाता, तो उसकी दीवालें तब तक खड़ी रहेंगी जब तक कि वे अपने-आप नहीं गिर जातीं। निकल्सन की सेना में कुल मिलाकर लगभग ४,००० सिख हैं। दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए यह सैन्य-सहायता हास्यास्पद रूप से कम है: किन्तु हां, उस शहर के सामने

के फौजी पड़ाव को खत्म न करने का एक नया आत्मघातक बहाना प्रदान करने के लिए वह काफी है।

जनरल हैविट ने मेरठ के विद्रोहियों को दिल्ली की तरफ निकल जाने देने की जो गलती की थी, और सैनिक दृष्टिकोण से आदमी यह भी कह सकता है कि जो जुर्म कर दिया था, और जो पहले दो हफ्ते बर्बाद कर दिये थे जिनमें अनियमित सिपाहियों ने उस शहर पर अचानक हमला भी कर दिया था—उसके बाद दिल्ली पर घेरा डालने की योजना बनाना एक ऐसी मूर्खता मालूम होती है कि समझ में नहीं आता कि उसे कोई कर कैसे सकता है। लंदन टाइम्स के सैनिक विशारदों की देव-वाणियों की अपेक्षा नेपोलियन की वाणी को हम अधिक आधिकारिक मानते हैं। नेपोलियन ने युद्ध के सम्बंध में दो नियम निर्धारित किये हैं। ये नियम एकदम सहज-बुद्धि पर आधारित मालूम होते हैं। एक तो यह कि "केवल उसी काम को हाथ में लिया जाना चाहिए जिसका निर्वाह किया जा सकता है, और जिसमें सफलता की सबसे अधिक संभावना दिखलाई देती है"; और, दूसरे यह कि "मुख्य शक्तियों को केवल उसी जगह लगाया जाना चाहिए जहां युद्ध के मुख्य लक्ष्य, यानी शत्रु के विध्वंस, को प्राप्त करना संभव दिखलाई देता हो।" दिल्ली को घेरने की योजना बनाते समय इन प्रारम्भिक नियमों का उल्लंघन किया गया है। इंगलैंड में अधिकारियों को इस बात का पता रहा होगा कि दिल्ली की किलेबन्दी की मरम्मत स्वयं भारत सरकार ने हाल ही में इस हद तक करवाई थी कि उसके बाद उस शहर पर केवल बाकायदा घेरा डालकर ही कब्जा किया जा सकता है। इसके लिए कम से कम १५,००० से २०,००० तक सैनिकों की शक्ति की जरूरत होगी; और सुरक्षा का काम यदि औसत ढंग से ही चलाया जायगा, तब और भी अधिक आदमियों की जरूरत होगी। फिर, इस काम के लिए जब १५,००० से २०,००० तक सैनिकों की जरूरत थी, तब ६,००० या ७,००० आदमियों को लेकर उसे पूरा करने की कोशिश करना पहले दर्जे की मूर्खता थी। अंग्रेजों को इस बात का भी पता था कि लम्बे काल तक चलनेवाले घेरे के कारण—जो उनकी कम संख्या को देखते हुए एक तरह से अनिवार्य था—उस स्थान, उस आबोहवा और उस मौसम में, उनकी फौजें एक अभेद्य तथा अदृश्य शत्रु के हमलों का शिकार बन जायेंगी, और उससे उनकी कतारों में विनाश के बीज पड़ जायेंगे। इसलिए सारी परिस्थितियां दिल्ली पर घेरा डाल कर सफलता पाने के विरुद्ध थीं।

जहां तक युद्ध के लक्ष्य का सवाल है, तो वह निस्सन्देह भारत में अंग्रेजी शासन को कायम रखना था। उक्त उद्देश्य को प्राप्त करने की दृष्टि से दिल्ली का कोई सैनिक महत्व नहीं था। सच तो यह है कि ऐतिहासिक परम्परा ने

हिन्दुस्तानियों की नजरों में दिल्ली को एक ऐसा मिथ्या महत्व प्रदान कर दिया है जो उसके वास्तविक प्रभाव के विपरीत है। और इस मिथ्या महत्व के ही कारण विद्रोही सिपाहियों ने उसे अपने संगम का आम स्थान निर्धारित किया था। किन्तु, अपनी फौजी योजनाओं को हिन्दुस्तानियों की मिथ्या धारणाओं के अनुसार बनाने के बजाय, अंग्रेज यदि दिल्ली को छोड़ देते और उसे चारों तरफ से काट देते, तो उन्होंने उसे उसके कल्पित महत्व से वंचित कर दिया होता। परन्तु, उसके सामने अपनी छावनी डालकर, अपना सिर उसकी दीवालों से बार-बार टकरा कर, और अपनी मुख्य शक्ति तथा संसार भर के ध्यान को उसी पर केन्द्रित करके, उन्होंने पीछे हटने के मौकों तक को स्वयं गंवा दिया है, अथवा, कहना चाहिए कि, पीछे हटने की बात को उन्होंने एक जबर्दस्त पराजय का पूरा रूप दे दिया है। इस प्रकार, वे सीधे-सीधे उन बागियों के हाथ मे खेल गये है जो दिल्ली को अपने अभियान का केन्द्र-बिन्दु बनाना चाहते थे। पर बात इतने से ही नहीं खत्म हो जाती। अंग्रेजों को यह समझने के लिए बहुत अक्ल की जरूरत नहीं थी कि उनके लिए सबसे जरूरी काम यह था कि वे एक ऐसी सक्रिय युद्ध-सेना तैयार करते जो विद्रोह की चिंगारियों को कुचल देती, उनके सैनिक केन्द्रों के बीच के यातायात के मार्गों को खुला रखती, दुश्मन को कुछ चुने हुए स्थानों में हाक देती और दिल्ली को चारों तरफ से काट देती। इस सीधी-सादी, स्वयं स्पष्ट योजना के अनुसार काम करने के बजाय, अपनी एकमात्र सक्रिय सेना को दिल्ली के सामने केन्द्रित करके उन्होंने उसे पंगु बना दिया है और बागियों के लिए मैदान खुला छोड़ दिया है। और स्वयं उनके अपने गैरीसन इधर-उधर बिखरी हुई ऐसी जगहों पर कब्जा किये बैठे हैं जिनके बीच कोई सम्बंध नहीं है, जो एक-दूसरे से लम्बे फासलों पर हैं, और जो चारों तरफ से असंख्य दुश्मन सैनिकों से घिरे हुए हैं। इन दुश्मन सैनिकों की रोक-थाम करनेवाला कोई नहीं है।

अपनी मुख्य चलती-फिरती सेना को दिल्ली के सामने केन्द्रीभूत करके अंग्रेजों ने विद्रोहियों को कैद नहीं किया है, बल्कि स्वयं अपने गैरीसनों को बेकार बना दिया है। किन्तु, दिल्ली में की गयी इस बुनियादी गलती के अलावा भी जिस मूर्खता के साथ इन गैरीसनों की सैनिक कार्रवाइयों का संचालन किया गया है, उसकी युद्ध के इतिहास में शायद ही कहीं दूसरी मिसाल मिले। ये सारे गैरीसन, बिना एक-दूसरे का कोई खयाल किये हुए, स्वतंत्र रूप से काम करते हैं; उनका कोई सर्वोच्च नेतृत्व नहीं है; और वे एक ही सेना के सदस्यों की तरह नहीं, बल्कि भिन्न और यहां तक कि विरोधी राष्ट्रों की सेनाओं की तरह काम करते हैं। उदाहरण के लिए, कानपुर और लखनऊ के कांड को ले लीजिए। ये दो बिल्कुल लगी हुई जगहें हैं, जिनके बीच केवल

८० मील का फासला है; किन्तु उनकी दो अलग-अलग सेनाएं थी, दोनो ही बहुत छोटी और आवश्यकता के बिल्कुल अनुपयुक्त सेनाएं थी; वे अलग कमानों के नीचे थी, और उनकी कार्रवाइयों में इतनी कम एकता थी कि मालूम होता था कि वे इतने पास-पास न होकर, दो विरोधी ध्रुवों पर स्थित थी। रण-नीति के साधारणतम नियमों के अनुसार भी, कानपुर के फौजी कमांडर सर ह्यू ग व्हीलर को इस बात का अधिकार होना चाहिए था कि अवध के चीफ कमिश्नर, सर एच. लॉरेन्स को उनकी सेनाओं के साथ कानपुर वापस बुला लेते और, इस तरह, कुछ समय के लिए लखनऊ को खाली करके वह स्वयं अपनी स्थिति को मजबूत कर लेते। इस कार्रवाई से दोनों ही गैरीसन बच जाते और बाद में, उनके साथ हैवलाक के सैनिकों के मिल जाने से, एक ऐसी छोटी-सी सेना तैयार हो जाती जो अवध की गति-विधि पर काबू किये रहती और आगरा को भी मदद पहुंचा सकती। ऐसा न होकर, दोनो जगहों की अलग-थलग कार्रवाइयो के कारण, कानपुर के गैरीसन के कटकर टुकड़े-टुकड़े हो गये है, और लखनऊ का, उनके किले के साथ पतन होना अनिवार्य हो गया है। हैवलाक की सारी जबर्दस्त कोशिशें भी बेकार हो गयी है। आठ दिनो के अन्दर अपने सैनिकों को उन्होने १२६ मील चलाया था; इस कूच में जितने दिन लगे थे, रास्ते में उन्हे उतनी ही लड़ाइयां लड़नी पड़ी थी—और यह सब भारत की गर्मी के सबसे कठिन मौसम में उन्होंने किया था। पर उनकी ये वीरतापूर्ण कोशिशें बेकार हो गयी है। लखनऊ की मदद की बेकार कोशिशो मे अपने थके हुए सैनिकों को उन्होने और भी थका दिया है। यह भी निश्चित है कि कानपुर से किये जानेवाले बारम्बार के फौजी अभियानो में उन्हे और भी व्यर्थ की कुर्बानिया चढ़ाने के लिए मजबूर होना पड़ेगा। इन अभियानो का क्षेत्र निरन्तर घटता ही जायगा। इसलिए इस बात की भी पूरी संभावना है कि अन्त मे, लगभग बिना किन्ही सैनिको के ही, उन्हे इलाहाबाद लौट जाना पड़ेगा। हैवलाक के सैनिकों की ये कार्रवाइया अन्य किसी भी चीज से अधिक अच्छी तरह यह बताती हैं कि भयानक बीमारी के उस कैम्प मे जिन्दा कैद कर दिये जाने के बजाय, उसे अगर मोर्चे पर भिड़ा दिया जाता तो दिल्ली के दरवाजे पर पड़ी वह छोटी-सी अंग्रेजी फौज भी क्या नहीं कर सकती थी। रण-नीति का मर्म केन्द्रीकरण है। भारत मे अंग्रेजो ने जो योजना बनायी है, वह विकेन्द्रीकरण की है। उन्हे जो करना चाहिए था वह यह था कि अपने गैरीसनों की तादाद को कम-से-कम कर देते, उनके साथ जो औरते और बच्चे थे उन्हे अलग कर देते, उन तमाम केन्द्रों को जो सैनिक महत्व के नहीं है खाली कर देते और, इस तरह, बड़ी से बड़ी सेना को मैदान मे इकट्ठा कर लेते। अब हालत यह है कि गंगा के मार्ग मे जो

थोड़ी बहुत सैनिक सहायता कलकत्ते से भेजी गयी है, उसे भी, अलग-थलग पड़े हुए अनेक गैरीसनों ने इस बुरी तरह से आत्म-सात कर लिया कि इलाहाबाद तक उसकी एक टुकड़ी भी नही पहुंच पायी।

जहां तक लखनऊ की बात है, तो हाल के दिनो में प्राप्त हुई डाक* से निराशा की जो घोरतम आशंका पैदा हुई थी, वह भी अब सच्ची सिद्ध हो गयी है। हैवलॉक को फिर कानपुर लौटने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा है, नेपाली मित्र सेनाओं से सहायता की कोई संभावना नही दिखाई देती। अब हमें यह सुनने के लिए भी तैयार हो जाना चाहिए कि वहा के बहादुर रक्षकों को, उनकी पत्नियो और बच्चो के साथ, भूखों मार कर उनका कत्लेआम कर दिया गया है और उस स्थान पर कब्जा कर लिया गया है।

कार्ल मार्क्स द्वारा २६ सितम्बर, १८५७ को लिखा गया।

१३ अक्तूबर, १८५७ के "न्यूयौर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५१४२, में एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

* इस संग्रह का पृष्ठ ६३ देखिए। —स.

कार्ल मार्क्स

*भारत में विद्रोह

भारतीय विद्रोह की स्थिति पर विचार करने में अंग्रेज अब भी उसी आशा-वादिता के शिकार हैं जिसे आरम्भ में ही वे संजोते आये हैं। हमें न सिर्फ यह बताया गया था कि दिल्ली पर एक सफल हमला होने वाला था, बल्कि यह भी कि वह २० अगस्त को होनेवाला था। निस्सन्देह, पहली जिस चीज की जांच की जानी चाहिए वह घेरा डालनेवाली फौजों की मौजूदा शक्ति है। दिल्ली के सामने पड़े हुए शिविर से १३ अगस्त के अपने पत्र में तोपखाने के एक अफसर ने, उस महीने की १० तारीख को, ब्रिटिश फौजों की जो वास्तविक स्थिति थी, उसके सम्बंध में निम्न ब्योरेवार तालिका दी है (पृष्ठ १०३ देखिए):

इस तरह, १० अगस्त को, दिल्ली के सामने के कैम्प में वास्तव में कारगर ब्रिटिश फौज की कुल शक्ति ठीक ५,६४१ सैनिकों की थी। इनमें से हमें उन १२० आदमियों को (११२ सिपाहियों और ८ अफसरों को) घटा देना चाहिए, जो अंग्रेजों की रिपोर्टों के अनुसार, १२ अगस्त को फसील के बाहर, अंग्रेजी सेना के बायें बाजू पर खोली गयी एक नई बैटरी (मोर्चे) पर हमले के दौरान विद्रोहियों के हाथ मारे गये थे। तब फिर ५,५२१ लड़ाकू सैनिक बाकी रह गये थे। तभी फीरोजपुर से दूसरे दर्जे की घेरा डालने वाली ट्रेन के साथ आकर ब्रिगेडियर निकल्सन उस सेना में मिल गये। उनकी फौज में निम्न टुकड़ियां थीं: ५२वीं हल्की पैदल सेना (लगभग ९०० आदमी), ६१वीं सेना का एक भाग (यानी ४ कम्पनियां, ३६० सैनिक), बोर्चियर की फील्ड बैटरी, ६ठी पंजाब रेजीमेन्ट का एक भाग (अर्थात् ५४० सैनिक), और कुछ मुल्तान के घुड़सवार और पैदल सैनिक। कुल मिलाकर वे २,००० सैनिक थे, जिनमें १२०० से कुछ अधिक योरोपियन थे। इनको अगर अब उन ५,५२१ युद्ध-रत सैनिकों के साथ हम जोड़ दें, जो निकल्सन की फौजों के आने से पहले कैम्प में थे, तो उनकी कुल तादाद ७,५२१ हो जाती है। कहा जाता है कि सहायता के लिए कुछ और सैनिक पंजाब के गवर्नर, सर जान लॉरेन्स ने भेजे हैं। उनमें ८वीं पैदल सेना का बाकी हिस्सा है; २४वीं सेना की तीन कम्पनियां हैं जिनके साथ पेशावर से आयी कैप्टन पैटन की सेना की तीन घोड़ों से खींची

	ब्रिटिश अफसर	ब्रिटिश सैनिक	देशी अफसर	देशी सैनिक	घोड़े
स्टॉफ	३०	...	...	...	...
तोपखाना	३९	५९८	...	...	...
इंजीनियर	२६	३९	...	...	...
घुडसवार सेना	१८	५७०	...	...	५२०
पहला ब्रिगेड					
सम्राज्ञी की ७५वी रेजीमेन्ट	१६	५०२	...	...	...
सम्मानित कम्पनी की २री बन्दूकची सेना	१७	४८७	...	...	...
कुमायू बटैलियन	४	...	१२	४३५	...
दूसरा ब्रिगेड					
सम्राज्ञी की ६०वी राइफिल सेना	१५	२५१	...	..	...
सम्मानित कम्पनी की २री बन्दूकची टुकडी	२०	४९३	...	...	...
सैमूर बटैलियन	४	...	९	३१९	...
तीसरा ब्रिगेड					
सम्राज्ञी की ८वी रेजीमेन्ट	१५	१५३	...	..	.
सम्राज्ञी की ६१वीं रेजीमेन्ट	१२	२४९	...	...	...
४थी सिख सेना	४	...	४	३६५	...
गाइड (पथ-दर्शक) कोर	४	...	४	१९६	..
कोक (कोयला) कोर	५	...	१६	७०९	...
कुल	२२९	३,२४२	४६	२,०२४	५२०

जानेवाली तोपें है; २री पंजाब पैदल सेना है; ४थी पजाब पैदल सेना है; और ६ठी पंजाब सेना का बाकी भाग है। इस सैनिक शक्ति की अधिक से अधिक संख्या ३,००० है। इनमें से अधिकाश सिख हैं। लेकिन ये सैनिक अभी तक वहा पहुंचे नहीं हैं। लगभग १ महीना पहले चैम्बरलेन के नेतृत्व में सहायता* के लिए पंजाब से आने वाले सैनिकों की बात को पाठक यदि याद कर सकें,

* इस संग्रह का पृष्ठ ७६ देखिए।—सं.

तो उनकी समझ में आ जायगा कि जिस तरह वे सिर्फ इतने थे कि जनरल रीड की फौजी शक्ति को सर एच. बरनार्ड की फौज की प्रारम्भिक संख्या के बराबर पहुंचा दे, उसी तरह यह नयी सैनिक सहायता भी बस इतनी ही है कि उससे ब्रिगेडियर विल्सन की फौजी शक्ति उतनी ही हो जायगी जितनी जनरल रीड की सेना की प्रारम्भिक शक्ति थी। अंग्रेजों के पक्ष में एकमात्र जो वास्तविक चीज हुई है, वह यह है कि घेरे की ट्रेन आखिरकार वहां पहुंच गयी है। लेकिन मान लीजिए कि वे अपेक्षित ३,००० सैनिक भी कैम्प में आ पहुंचे हैं और अंग्रेजी फौज के सैनिकों की संख्या १०,००० हो गयी है, इनमें से एक तिहाई की वफादारी संदेहजनक है। तब फिर वे क्या करेंगे? कहा जाता है कि दिल्ली को चारों तरफ से वे घेर लेंगे। परन्तु १०,००० सैनिकों की मदद से सात मील से भी अधिक दूर तक फैले हुए और मजबूती से किलेबंद एक शहर को चारों तरफ से घेर लेने के हास्यास्पद विचार को अगर नजरन्दाज कर दिया जाय, तब भी दिल्ली को चारों तरफ से घेरने की बात सोचने से पहले अंग्रेजों के लिए आवश्यक होगा कि वे पहले जमुना की धार को बदल दें। अंग्रेज दिल्ली के अन्दर अगर सुबह प्रवेश करते हैं तो, उसी शाम को, जमुना को पार करके रुहेलखण्ड और अवध की दिशा में, अथवा जमुना के मार्ग में मथुरा और आगरा की ओर, विद्रोही उसमें बाहर निकल जा सकते हैं। बहरहाल, और चाहे जो कुछ हो, परन्तु एक ऐसे चतुष्कोण को चारों तरफ से घेरने की समस्या अभी तक हल नहीं की जा सकी है, जिसकी एक भुजा तो घेरा डालनेवाली फौजों की पहुंच से बाहर है किन्तु घिरे हुए लोगों के लिए यातायात और पीछे हटने का मार्ग प्रस्तुत करती है।

> जिस अफसर के पत्र से ऊपर की तालिका हमने ली है, वह कहता है कि, "इस बात के सम्बंध में सब लोग एकमत हैं कि हमला करके दिल्ली पर कब्जा करने का कोई सवाल नहीं उठता।"

साथ ही साथ, वह हमें सूचित करता है कि कैम्प के अन्दर वास्तव में जिस चीज की आशा की जाती है, वह यह है कि "कई दिनों तक शहर के ऊपर गोलाबारी की जाए और फिर उसके अन्दर जाने के लिए एक अच्छा-सा रास्ता निकाल लिया जाय।" यह अफसर स्वयं आगे कहता है कि,

> "मामूली हिसाब से भी दुश्मन के पास अच्छी तरह चलनेवाली असंख्य तोपों के अलावा, इस वक्त लगभग ४०,००० सैनिक हैं; उनकी पैदल सेना भी लड़ाई की अच्छी हालत में है।"

जिस दुस्साहसिक दृढ़ता के साथ मुसलमान फसील के पीछे लड़ने के आदी

है, यदि उसका ध्यान रखा जाये, तो यह सचमुच एक बहुत बड़ा सवाल बन जाता है कि "एक अच्छे रास्ते" के द्वारा अन्दर घुस जाने के बाद उस छोटी-सी ब्रिटिश सेना को शहर से बाहर निकल जाने की भी इजाज़त दे दी जायगी या नही।

वास्तव में, मौजूदा ब्रिटिश सैनिक शक्ति दिल्ली पर केवल एक ही हालत मे सफल हमला कर सकती है: वह यह है कि विद्रोहियों मे आपस में फूट हो जाय, उनका गोला-बारूद खत्म हो जाय, उनके सैनिक पस्त-हिम्मत हो जाय, और आत्म-निर्भरता की उनकी भावना जवाब दे दे। केवल तभी ब्रिटिश सैनिक सफलता प्राप्त कर सकते हैं। लेकिन हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि विद्रोही सैनिक ३१ जुलाई से १२ अगस्त तक बिना रुके लगातार जिस तरह लड़ते रहे हैं, उससे इस तरह की किसी कल्पना के लिए मुश्किल से ही कोई गुंजाइश दिखलाई देती है। साथ ही साथ, कलकत्ता का एक पत्र हमें काफी साफ-साफ बता देता है कि तमाम रणनीति सम्बंधी नियमों के विरुद्ध जाकर भी अंग्रेज जनरलों ने दिल्ली के सामने जमे रहने का संकल्प क्यों किया था।

> वह बताता है, "कुछ हफ्ते पहले जब यह सवाल सामने आया था कि, चूंकि हमारे सैनिक रोजमर्रा की लड़ाई से इतने ज्यादा हलाकान हो चुके थे कि उस जबर्दस्त थकान को और अधिक दिनों तक वे बर्दाश्त नही कर सकेंगे, इसलिए क्या दिल्ली से उन्हें पीछे हट जाना चाहिए—तब सर जॉन् लॉरेन्स ने इस विचार का तीव्रता से विरोध किया था; जनरलों को उन्होंने साफ-साफ बता दिया था कि उनका पीछे हटना उनके आस-पास की आबादियों के लिए विद्रोह के एक सिगनल (संकेत) का काम करेगा, जिससे वे फौरी खतरे में पड़ जायेंगे। उनकी यह सलाह मान ली गयी थी और सर जॉन् लरेन्स ने वादा किया था कि जितनी भी मदद वे इकट्ठी कर सकेंगे, उनके पास भेजेंगे।"

पंजाब अब सर जॉन् लरेन्स की फौजो से खाली हो गया है, इसलिए वह स्वयं विद्रोह में उठ खड़ा हो सकता है; और, दूसरी तरफ, दिल्ली के सामने की छावनियों में पड़ी हुई फौजों के लिए यह खतरा है कि, वर्षा ऋतु के अन्त में, जमीन से उठने वाले बीमारी के कीटाणुओं की वजह से वे बीमार पड़ जाये और नष्ट हो जायें। जनरल वॉन कोर्टलैण्ट की उन फौजों के बारे में, जिनके बारे में ४ हफ्ते पहले रिपोर्ट दी गयी थी कि वे हिसार* पहुंच गयी हैं और दिल्ली की ओर बढ़ रही हैं, आगे कुछ नहीं सुनाई दिया। तब फिर या

* इस संग्रह का पृष्ठ ७८ देखिए।—सं.

तो उन्हें रास्ते में संगीन बाधाओं का सामना करना पड़ा होगा, या वे तितर-बितर हो गयी होंगी।

गंगा के ऊपरी भाग में अंग्रेजों की स्थिति सचमुच विपदा-ग्रस्त है। अवध के विद्रोहियों की कारवाइयों की वजह से जनरल हैवलॉक के लिए खतरा पैदा हो गया है। लखनऊ से, बिठूर के रास्ते कानपुर के दक्षिण में फतहपुर पहुंच कर विद्रोही जनरल हैवलॉक के पीछे हटने के मार्ग को काटने की कोशिश कर रहे हैं। इसी के साथ-साथ, ग्वालियर का सैन्य-दल जमुना के दाहिने तट पर स्थित एक शहर, कालपी से होता हुआ कानपुर पर हमला करने के लिए बढ़ रहा है। चारों तरफ से घेर लेने के इस अभियान का निर्देशन सम्भवतः नाना साहिब कर रहे हैं, जिन्हें लखनऊ का सर्वोच्च कमांडर बताया जाता है। एक तरफ तो यह अभियान पहली बार यह बताता है कि विद्रोहियों को भी रण-नीति की कुछ समझ है। दूसरी तरफ, अंग्रेज चारों तरफ बिखरी हुई लड़ाई के अपने मूर्खतापूर्ण तरीके की ही बढ़ा-चढ़ा कर तारीफें करने के लिए बेताब दिखलाई देते हैं। उदाहरण के लिए, हमें बताया गया है कि जनरल हैवलॉक की मदद के लिए कलकत्ता से भेजी गयी ९०वीं पैदल सेना और ५वीं बन्दूकची सेना को सर जेम्स आउट्रम ने दानापुर में रोक लिया है। उनकी खोपड़ी में आ गया है कि उनका नेतृत्व करके वे उन्हें फैजाबाद के मार्ग से लखनऊ ले जायेंगे। सैनिक कार्रवाई की इस योजना की तारीफ करते हुए लंदन के मार्निंग एडवर्टाइजर" ने उसे महान मस्तिष्क की सूझ की संज्ञा दी है। वह कहता है कि इस चाल से लखनऊ दोनों तरफ से घिर जायगा—दाहिने बाजू से कानपुर की तरफ से और बायें बाजू से फैजाबाद की तरफ से उसके लिए खतरा पैदा हो जायगा। एक ऐसी सेना ने जो अत्यंत कमजोर है, अपने बिखरे हुए सैनिकों को एक जगह केन्द्रीभूत करने के बजाय अपने को दो हिस्सों में बांट दिया है और इन हिस्सों के बीच चारों तरफ शत्रु सेना फैली हुई है। इस तरह युद्ध के साधारण नियमों के अनुसार, दुश्मन उसे खत्म करने की तकलीफ से भी मुक्त हो गया है। जनरल हैवलॉक के सामने वास्तव में सवाल अब लखनऊ को बचाने का नहीं है, बल्कि यह है कि अपनी और जनरल नील की छोटी-सी सेना के बचे-खुचे भाग को वह किस तरह बचाये। बहुत सम्भव है कि उन्हें इलाहाबाद वापस जाना पड़े। इलाहाबाद सचमुच एक निर्णायक महत्व का केन्द्र है, क्योंकि एक तो वहां पर गंगा और जमुना का संगम है, और, दूसरे, दोनों नदियों के बीच स्थित होने की वजह से द्वाब की भी कुंजी उसी के पास है।

नक्शे पर नजर डालते ही यह बात स्पष्ट हो जायगी कि उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों पर पुनः अधिकार करने की कोशिश करने वाली अंग्रेज सेना का प्रधान

मार्ग गंगा के नीचे की तरफ के भाग की घाटी को स्पर्श करता हुआ जाता है। इसलिए खास बंगाल प्रान्त के तमाम छोटे और सैनिक दृष्टि से महत्वहीन केन्द्रों से गैरीसनों को वापस लाकर दानापुर, बनारस, मिर्जापुर, और, इन सबसे अधिक इलाहाबाद की स्थिति को —जहा से वास्तविक फौजी कार्रवाइयां शुरू होनी चाहिए—मजबूत करना होगा। इस समय सैनिक कार्रवाइयों का यह मुख्य मार्ग ही गम्भीर खतरे में है। इसे लंदन डेली न्यूज के नाम बम्बई से भेजे गये एक पत्र के निम्न उद्धरण से समझा जा सकता है :

"दानापुर मे हाल में तीन रेजीमेन्टो ने जो बगावत की है, उसने इलाहाबाद और कलकत्ते के बीच के आवागमन को (केवल नदी के ऊपर से अग्नि-बोटो के द्वारा होनेवाले आवागमन को छोटकर) खत्म कर दिया है। हाल मे जो घटनाएं घटी है उनमें दानापुर की बगावत सबसे सगीन है, क्योकि उसकी वजह से, कलकत्ते से २०० मील के फासले के अन्दर बिहार के पूरे जिले में, अब आग लग गयी है। आज खबर आयी है कि संथाल फिर उठ खड़े हुए हैं। १,५०,००० ऐसे जंगली लोगो द्वारा बंगाल पर कब्जा कर लिये जाने के बाद, जो खूरेजी, लूट-खसोट और बलात्कार करने में ही आनन्द मानते है, बंगाल की हालत सचमुच भयंकर हो उठेगी।"

जब तक आगरा अविजित रहता है, तब तक फौजी कार्रवाइयों के लिए जो छोटे-मोटे रास्ते बने हुए है वे निम्न है बम्बई की सेना के लिए—इन्दौर और ग्वालियर होते हुए आगरा तक: और मद्रास की सेना के लिए सागर और ग्वालियर होते हुए आगरा तक। यह आवश्यक है कि पंजाब की सेना तथा इलाहाबाद में जमी सैनिक टुकड़ी के आगरा के साथ सचार मार्गों को फिर से कायम किया जाय। परन्तु, मध्य भारत के डावाडोल राजे यदि इस वक्त अंग्रेजों के विरुद्ध विद्रोह का खुला ऐलान कर दे और बम्बई की फौज की बगावत गंभीर रूप धारण कर ले, तो फिलहाल सारी फौजी योजनाए चकनाचूर हो जायेंगी, और कश्मीर से लेकर कन्या कुमारी अन्तरीप तक एक भयानक हत्याकाड के अलावा और कोई चीज निश्चित नही रह जायगी। अच्छी से अच्छी स्थिति में भी अधिक से अधिक, जो किया जा सकता है, वह यह है कि नवम्बर में योरोपियन सैनिकों के आने तक निर्णायक टक्करो से बचा जाय। यह भी सम्भव हो सकेगा या नही, यह सर कॉलिन कैम्पबेल की बुद्धिमानी पर निर्भर करेगा। सर कॉलिन कैम्पबेल के बारे मे, उनकी व्यक्तिगत बहादुरी के अलावा, अभी तक और कुछ नहीं मालूम है। अगर वह समझदार हैं, तो किसी भी कीमत पर, चाहे दिल्ली का पतन हो या न हो,

वह एक ऐसी सैन्य-शक्ति—वह चाहे जितनी होती हो—तैयार करेंगे, जिसे लेकर वह मैदान में उतर सकें। फिर भी, हम यही कहेंगे कि अन्तिम फैसला बम्बई की फौज के हाथ में है।

कार्ल मार्क्स द्वारा ६ अक्तूबर, १८५७ को लिखा गया।

२३ अक्तूबर, १८५७ के "न्यूयौर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५१५१, में एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

कार्ल मार्क्स

*भारत में विद्रोह

अरेबिया से आयी डाक दिल्ली के पतन की महत्वपूर्ण खबर हमारे पास लायी है। जो थोड़ा सा ब्यौरा प्राप्त हुआ है, उसके आधार पर, जहां तक हम समझ सकते हैं, ऐसा लगता है कि यह घटना इसलिए घटी है कि विद्रोहियों के बीच तीव्र मतभेद पैदा हो गये थे, युद्धरत सेनाओं की संख्या के अनुपात में परिवर्तन हो गया था तथा ५ सितम्बर को घेरा डालनेवाली वह गाड़ी भी वहां पहुंच गयी थी जिसकी बहुत दिन पहले, ८ जून को ही वहां इन्तजारी की जा रही थी।

निकल्सन की सहायक सेनाओं के आ जाने के बाद, हमने अनुमान लगाया था कि दिल्ली के सामने पड़ी सेना में कुल मिलाकर ७,५२१ आदमी* होंगे। उसके बाद से यह अनुमान पूर्णतया सही साबित हो गया है। फ्रेण्ड ऑफ इण्डिया[67] (भारत-मित्र) ने बताया है कि राजा रणवीर सिंह द्वारा अंग्रेजों को दिये गये ३,००० काश्मीरी सैनिकों के बाद, ब्रिटिश फौजों में कुल मिलाकर लगभग ११,००० सैनिक थे। दूसरी ओर, लंदन का मिलिटरी स्पेक्टेटर[68] बताता है कि विद्रोही सैनिकों की संख्या घटकर लगभग १७,००० रह गयी थी, जिनमें से ५,००० घुड़सवार थे। फ्रेण्ड ऑफ इण्डिया का अन्दाजा है कि १००० अनियमित घुड़सवारों को लेकर विद्रोही सैनिकों की कुल संख्या लगभग १३,००० थी। किलेबन्दी में दरार पड़ जाने के बाद तथा शहर के अन्दर लड़ाई शुरू हो जाने के बाद चूंकि घोड़े बिल्कुल बेकार हो गये थे, इसलिए अंग्रेजों के अन्दर घुसते ही घुड़सवार वहां से भाग गये, और फिर, चाहे हम मिलिटरी स्पेक्टेटर के हिसाब को मानें, चाहे फ्रेण्ड ऑफ इण्डिया के—सिपाहियों की कुल शक्ति ११,००० या १२,००० आदमियों से अधिक नहीं हो सकती थी। इसलिए, अंग्रेज सैनिकों की संख्या—अपनी संख्या में इतनी वृद्धि के कारण नहीं जितनी कि अपने विरोधियों की संख्या में कमी हो जाने के कारण—लगभग विद्रोहियों की संख्या के बराबर हो गयी थी। संख्या की दृष्टि से उनकी

---

* इस संग्रह का पृष्ठ १०२ देखिए —सं.

जो थोड़ी-सी कमी थी, उसकी सफल बमबारी के फलस्वरूप उत्पन्न नैतिक प्रभाव और हमले की सुविधाओं के कारण आशा से अधिक पूर्ति हो गयी थी। इनकी वजह से वे उन स्थानों को चुन सकते थे जहां उन्हे अपनी मुख्य शक्ति लगानी थी, जब कि किले के रक्षक अपनी अपर्याप्त फौजी शक्ति को किले के सकट-ग्रस्त परकोटे के तमाम बिन्दुओ पर फैलाकर रखने के लिए मजबूर थे।

विद्रोहियों की शक्ति में जो कमी हुई थी, उसकी वजह वह भारी नुकसान इतना नही था जो लगभग दस दिनो के दौर में लगातार किये गये अपने धावो में उन्हें उठाना पडा था, जितनी यह कि आपसी झगड़ो की वजह से पूरे के पूरे सैन्यदल उन्हे छोडकर चले गये थे। सिपाहियो ने दिल्ली के व्यापारियों की कमाई का एक-एक रुपया लूट लिया था। इसकी वजह से सिपाहियों के शासन के खिलाफ जितने ये व्यापारी थे, उतनी ही खिलाफ मुगल सम्राट की स्वय वह छाया हो गयी थी जो दिल्ली के सिहासन पर बैठी हुई थी। दूसरी तरफ, हिन्दू और मुसलमान सिपाहियों के बीच धार्मिक कलह शुरू हो गये थे और पुराने गैरीसिनो तथा नयी सैनिक टुकड़ियो मे टक्करें होने लगी थी। ये चीजें उनके सतही संगठन को तोड़ देने तथा उनके पतन को निश्चित बना देने के लिए काफी थी। अंग्रेज जिस सैनिक शक्ति से लड रहे थे, वह उनसे कुछ बडी जरूर थी, किन्तु उसके नेतृत्व मे कोई एकता नही थी, स्वयं अपनी कतारो के अन्दर के झगडो की वजह से वह कमजोर और पस्त-हिम्मत हो चुकी थी। फिर भी इस फौज ने ८४ घंटे की बमबारी का मुकाबला किया और फिर, फसील के अन्दर, ६ दिनो तक वह तोपो के प्रहार सहती रही तथा सड़क-सड़क, गली-गली लड़ती रही। इसके बाद वह नावों के पुल से अपनी मुख्य फौजों के साथ चुपचाप जमुना के उस पार निकल गयी। कहना पड़ेगा कि उस बुरी स्थिति मे भी अच्छे से अच्छा काम किया जा सकता था, उसे विद्रोहियों ने सफलतापूर्वक कर दिखाया है।

फतह के वाकयात इस तरह मालूम होते हैं: ८ सितम्बर को अंग्रेजी तोपखाने की तोपो को अपनी पुरानी जगहों से काफी आगे ले जाकर चालू कर दिया गया। फसील से उनका फासला ७०० गज से भी कम था। ८ और ११ तारीख के बीच अंग्रेजो की भारी आर्डनेन्स तोपों और मॉर्टरों को फसील के बुर्जों के और नजदीक बढा ले आया गया। वहा एक मोर्चा कायम कर लिया गया और तोपें चढा दी गयी। इस बात का विचार करते हुए कि १० और ११ तारीख को दिल्ली के गैरीसन ने दो अचानक हमले किये थे, नई तोपें चलाने की बारम्बार कोशिशें की थीं और, परेशान करने के लिए, राइफलों की खोहों से निरन्तर वह गोलीबार करता रहा था—इस काम में अंग्रेजों का बहुत कम नुकसान हुआ था। १२ तारीख को अंग्रेजों की मृतकों

और घायलों के रूप में लगभग ५६ आदमियों का नुकसान उठाना पड़ा था। १३ तारीख की सुबह दुश्मन के रोजाना इस्तेमाल के बारूदखाने के एक बुर्ज के ऊपर आग लग गयी। उसकी उस हल्की तोप के डिब्बे में भी विस्फोट हो गया जिससे तलवारा के उप-नगर से अंग्रेजों की तोपों के रास्ते को रोका जा रहा था। ब्रिटिश तोपों ने कश्मीरी गेट के पास एक कामचलाऊ दरार बना लिया। १४ तारीख को नगर पर हमला बोल दिया गया। बिना किसी कठिन प्रतिरोध के अंग्रेजों की फौजें कश्मीरी गेट के पास की दरार से अन्दर प्रवेश कर गयीं; उसके पास-पड़ोस की बड़ी-बड़ी इमारतों पर उन्होंने कब्जा कर लिया और किले की दीवारों के साथ-साथ वे मोरी बुर्ज और काबुली गेट तक बढ़ गयी। वहां पर प्रतिरोध बहुत सख्त हो गया और इसलिए अंग्रेजी फौजों को नुकसान भी बहुत हुआ। तैयारियां की जा रही थीं कि जिन बुर्जों पर कब्जा कर लिया गया है, उनकी तोपों के मुह को शहर की तरफ घुमा दिया जाय और दूसरी तोपों तथा मोर्टरों को भी ऊंची जगहों पर लाकर लगा दिया जाय। मोरी गेट और काबुली गेट के बुर्जों पर जिन तोपों पर कब्जा किया गया था, उनसे १५ तारीख को बर्न और लाहौरी बुर्जो पर गोलाबार किया गया; साथ ही साथ शस्त्रागार मे भी सेंध लगा ली गयी और राजमहल के ऊपर गोले बरसाये जाने लगे। १६ सितम्बर को दिन में ही हमला करके शस्त्रागार पर कब्जा कर लिया गया और १७ तारीख को शस्त्रागार के अहाते से महल के ऊपर मोर्टरों की वर्षा की जाती रही।

बॉम्बे कूरियर" (बम्बई का सन्देशवाहक) बताता है कि, पंजाब और लाहौर की डाक के लूट लिये जाने की वजह से सिन्ध के सीमा प्रान्त पर इस तारीख के बाद हमले का कोई सरकारी विवरण नहीं मिलता। बम्बई के गवर्नर के नाम भेजे गये एक निजी पत्र मे कहा गया है कि पूरे शहर पर इतवार, २० तारीख को अधिकार कर लिया गया था। विद्रोहियों की मुख्य फौजें उसी दिन सुबह ३ बजे शहर छोड़ गयी थी और नावों के पुल के रास्ते से रुहेलखण्ड की दिशा में निकल भागी थीं। चूंकि अंग्रेजों के लिए उनका पीछा करना तब तक सम्भव नहीं हो सकता था जब तक कि नदी तट पर स्थित सलीमगढ़ के ऊपर वे कब्जा न कर लेते, इसलिए, स्पष्ट है कि, शहर के ध्रुव उत्तरी कोने से उसके दक्षिण-पूर्वी सिरे की तरफ लड़ाई करते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ने वाले विद्रोहियों ने उस स्थान पर, जो पीछे हटते समय उनके बचाव के लिए आवश्यक था, २० तारीख तक अपना अधिकार बनाये रखा था।

जहां तक दिल्ली के कब्जे के सम्भावित प्रभाव की बात है, तो फ्रेण्ड ऑफ इंडिया (भारत मित्र), जो असलियत को अच्छी तरह जानता है, लिखता है कि,

"इस समय अंग्रेजों का ध्यान जिस चीज की ओर जाना चाहिए वह बंगाल की स्थिति है, दिल्ली की स्थिति नहीं। इस नगर पर कब्जा करने में जो भारी देरी हो गयी है, उससे वास्तव में वह प्रतिष्ठा खत्म हो गयी है जो जल्दी सफलता प्राप्त कर लेने पर हमें मिल सकती थी, और जहां तक विद्रोहियों की ताकत और उनकी संख्या की बात है, तो वह घेरे को कायम रखने से भी उतने ही कारगर ढंग से कम हो सकती है जितनी कि शहर पर कब्जा कर लेने से होगी।'

इसी दरम्यान, कहा जा रहा है कि, विद्रोह कलकत्ता से उत्तर-पूर्व की ओर और वहां से मध्य भारत होता हुआ उत्तर-पश्चिम तक फैल रहा है, तथा आसाम के सीमान्त पर पूरबियों की दो मजबूत रेजीमेन्टों ने विद्रोह कर दिया है। वे खुलेआम मांग कर रही हैं कि भूतपूर्व राजा पुरन्दर सिंह को फिर सिंहासनारूढ़ कर दिया जाय। दानापुर और रंगपुर के बागी, कुंवर सिंह के नेतृत्व में, बांदा और नागौद के रास्ते से जबलपुर की ओर बढ़ रहे हैं और कुंवर सिंह ने स्वयं अपनी फौजों के जरिए, रीवा के राजा को अपने साथ शामिल होने के लिए मजबूर कर दिया है। स्वयं जबलपुर में बंगाल की ५२वीं देशी रेजीमेन्ट ने अपनी छावनियों को त्याग दिया है और, पीछे छूट गये अपने साथियों की रक्षा की गारंटी के लिए, अपने साथ एक ब्रिटिश अफसर को भी वह लेती गयी है। ग्वालियर के बागियों के सम्बंध में रिपोर्ट है कि उन्होंने चम्बल को पार कर लिया है और नदी तथा धौलपुर के बीच में पड़ाव डाले हुए हैं। सबसे गम्भीर खबरों की ओर ध्यान दिया ही नहीं गया है। लगता है कि जोधपुर के लीजन (सैन्य-दल) ने अलवर के विद्रोही राजा के यहां नौकरी कर ली है। यह जगह ब्यावर के दक्षिण-पश्चिम में ९० मील के फासले पर है। जोधपुर के राजा ने उनसे लड़ने के लिए जो काफी बड़ी फौज भेजी थी, उसे उन्होंने हरा दिया है। उसके जनरल और कैप्टन मॉंक मेसन को उन्होंने मार डाला है और उनकी तीन तोपों पर भी कब्जा कर लिया है। नसीराबाद की कुछ फौजों के साथ जनरल जी. सेन्ट. पी. लॉरेन्स ने उनके खिलाफ कुछ सफलता प्राप्त की थी और उन्हें एक शहर में लौट जाने के लिए मजबूर कर दिया था। लेकिन फिर उसके आगे उसकी और कोशिशें असफल रहीं। सिंध से योरोपियन फौजों के एकदम चले जाने की वजह से वहां एक व्यापक षड्यंत्र तैयार हो गया था; उसके बाद वहां कम-से-कम पांच अलग-अलग जगहों में — जिनमें हैदराबाद, करांची और शिकारपुर भी शामिल हैं — विप्लव करने की कोशिशें की गयीं। मुल्तान और लाहौर के दरम्यान आठ दिनों तक आना-जाना बन्द हो जाने की वजह से पंजाब में भी अशुभ आसार दिखाई दे रहे हैं।

अन्यत्र हमारे पाठक एक तालिका देखेंगे। १८ जून के बाद से इंगलैंड में जो फौजें भेजी गयी हैं, उनका उसमें विवरण दिया गया है। विभिन्न जहाजों के पहुंचने के दिनों की गणना हमने सरकारी वक्तव्यों के आधार पर की है और इसलिए वह ब्रिटिश सरकार के ही पक्ष में है। उक्त तालिका* से देखा जा सकेगा कि तोपखानों और इंजीनियरों के उन छोटे-छोटे दस्तों को छोड़ कर जो जर्मीन के रास्ते भेजे गये थे, शेष पूरी सेना के सैनिकों की कुल संख्या ३०,८९९ थी। इनमें २४,८८४ पैदल सेना के हैं, ३,८२६ घुड़सवार हैं, और २,३३४ का सम्बध तोपखाने से है। यह भी देखा जा सकेगा कि अक्तूबर के अन्त से पहले बड़ी सैनिक सहायता के वहां पहुंचने की आशा नहीं थी।

भारत के लिए सैनिक

१८ जून, १८५७ के बाद इंगलैंड से भारत भेजे गये सैनिकों की सूची :

पहुंचने की तारीख	कुल जोड़	कलकत्ता	लंका	बम्बई	कराची	मद्रास
२० सितम्बर	२१४	२१४	...	...	...	...
१ अक्तूबर	३००	३००	...	...	...	...
१५ अक्तूबर	१,९०६	१२४	१,७८२	...	...	...
१७ अक्तूबर	२८८	२८८	...	...	...	...
२० अक्तूबर	४,२३५	३,८४५	३९०	...	...	...
३० अक्तूबर	२,०२८	४७९	१,५४४	...	...	...
अक्तूबर का कुल जोड़	८,७५७	५,०३६	३,७२१	...	...	...
१ नवम्बर	३,४९५	१,२३४	१,६२९	...	६३२	...
५ नवम्बर	८७९	८७९	...	...	...	...
१० नवम्बर	२,७००	९०४	३४०	४००	१,०५६	...
१२ नवम्बर	१,६३३	१,६३३	...	...	...	...
१५ नवम्बर	२,६१०	२,१३२	४७८	...	...	...
१९ नवम्बर	२३४	...	...	...	२३४	...
२० नवम्बर	१,२१६	...	२७८	९३८	...	...
२४ नवम्बर	४०६	...	४०६	...	...	...
२५ नवम्बर	१,२७६	...	...	...	...	१,२७६
३० नवम्बर	६६६	...	४६२	२०४	...	...
नवम्बर का कुल जोड़	१५,११५	६,७८२	३,५९३	१,५४२	१,९२२	१,२७६

१ दिसम्बर	३४५	...	...	३५४	...	...
५ दिसम्बर	४५९	...	...	२०१	...	२५८
१० दिसम्बर	१,७५८	...	६०७	...	१,१५१	...
१४ दिसम्बर	१,०५७	...	...	१,०५७	...	...
१५ दिसम्बर	९४८	...	...	६४७	३०१	...
२० दिसम्बर	६९३	१,८५१	...	३००	२०८	...
२५ दिसम्बर	६२४	...	...	...	६२४	...
दिसम्बर का कुल जोड	५,८९३	१,८५१	६०७	२,३५९	२,२८४	२५८
१ जनवरी	३४०	...	...	३४०	...	...
५ जनवरी	२२०	...	...	...	...	२२०
१५ जनवरी	१४०	...	...	...	...	१४०
२० जनवरी	२२०	...	...	...	...	२२०
जनवरी का कुल जोड	९२०	...	...	३४०	...	५८०
सितम्बर से २० जन. तक	३०,८९९	१२,२१७	७,९२१	४,४३१	४,२०६	२,११४

जमीन के रास्ते से भेजे गये सैनिक

पहुंचने की तारीख	कुल जोड	कलकत्ता	लंका	बम्बई	कराची	मद्रास
२ अक्तूबर	२३५ (इंजीनियर)	११७	...	...	११८	...
१२ अक्तूबर	२२१ (तोपखाना)	२२१	...	...	...	...
१४ अक्तूबर	२२४ (इंजीनियर)	१२२	...	...	१२२	...
अक्तूबर का कुल जोड	७००	४६०	...	...	२४०	...

जोड़ ३१,५९९

केप के रास्ते आ रहे सैनिक, जिनमें से कुछ आ गये हैं ... ४,०००

पूरा योग ३५,५९९

कार्ल मार्क्स द्वारा ३० अक्तूबर, १८५७ को लिखा गया।

१४ नवम्बर, १८५७ के "न्यू-यॉर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५१७०, में एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

फ्रेडरिक एंगेल्स

*दिल्ली पर कब्जा

उस सम्मिलित शोर-गुल में हम नहीं शामिल होगे जिसके द्वारा उन सैनिकों की बहादुरी की तारीफ मे, जिन्होंने हमला करके दिल्ली पर कब्जा कर लिया है, इस समय ब्रिटेन में जमीन-आसमान एक किया जा रहा है। आत्म-प्रशसा के मामले में अंग्रेजों का मुकाबला कोई भी कौम नहीं कर सकती—यहां तक कि फ्रांसीसी कौम भी नही, खास तौर से जब सवाल बहादुरी का हो। परन्तु सौ में से निन्यान्वे बार, तथ्यों का विश्लेषण होते ही, उनके शौर्य की समस्त वैभवपूर्ण कहानी एक अत्यन्त साधारण घटना रह जाती है। हर समझदार व्यक्ति को उस ढंग से नफरत होगी जिससे ये अंग्रेज बुजुर्ग—जो आराम से अपने घरों में रहते है और ऐसी हर चीज से पल्ला छुड़ाकर जोरों से दूर भागते हैं जिसमें सैनिक गौरव प्राप्त करने की दूर की भी संभावना हो—दूसरों के शौर्य का व्यापार करते हैं। वे यह दिखलाने की कोशिश कर रहे हैं कि दिल्ली के आक्रमण के समय जो पराक्रम दिखलाया गया था, उसमें उनका भी हाथ था। दिल्ली में जो पराक्रम दिखलाया गया, वह बड़ा जरूर था—किन्तु किसी भी रूप में असाधारण नहीं था।

दिल्ली की तुलना अगर हम सेवास्तोपोल के साथ करें तो निस्सन्देह हम सहमत होंगे कि (हिन्दुस्तानी) सिपाही रूसियों की तरह के नही थे; ब्रिटिश छावनी के खिलाफ उनका एक भी हमला इंकरमैन[1] के हमलो की तरह का नही था; दिल्ली में टोटलेबेन जैसा कोई नही था; और, हिन्दुस्तानी सिपाही—जो व्यक्तिगत और कम्पनी दोनों ही दृष्टि से अधिकतर मामलों मे बहादुरी से लड़े थे—एकदम नेतृत्व-विहीन थे। न केवल उनके ब्रिगेडो और डिवीजनो का, बल्कि उनके बटेलियनों तक का कोई नेतृत्व नही था; इसलिए उनकी एकता कम्पनियो से आगे नहीं जाती थी। *उनमे उस वैज्ञानिक तत्व का एकदम अभाव* था जिसके बिना कोई भी फौज आजकल असहाय होती है और किसी शहर की रक्षा का काम सर्वथा निराशापूर्ण कार्य बन जाता है। फिर भी, संख्या तथा लड़ाई के उनके साधनो में जो अन्तर था, जलवायु का मुकाबला करने की योरोपियनो की अपेक्षा देशी सिपाहियों में जो अधिक क्षमता थी, दिल्ली

के सामने पड़ी (अंग्रेजी) फौजें कभी-कभी जिस अत्यन्त कमजोर स्थिति मे पहुंच जाती थी—इस सबकी वजह से दोनों घेरों का (सेवास्तोपोल और दिल्ली के घेरों का—अनु.) बहुत-सा अन्तर मिट जाता है और उनकी तुलना करना संभव हो जाता है। (इन कार्रवाइयों को घेरे कहना कैसा विचित्र लगता है!) हमला करके दिल्ली पर कब्जा करने के काम को हम असाधारण, अथवा अनोखे पराक्रम का काम नही मानते—यद्यपि यह सही है कि हर लड़ाई की भांति यहा भी व्यक्तिगत पराक्रम के कार्य निस्सन्देह दोनों ही तरफ देखने को मिले थे। परन्तु इस बात को हम मानते है कि अंग्रेजी फौजों की सेवास्तोपोल और बलकलावा[२] के दरम्यान की अग्नि-परीक्षा की तुलना में, दिल्ली के सामने की एंग्लो-इंडियन फौजों ने कही अधिक लगन, चारित्रिक शक्ति, विवेक तथा कौशल का परिचय दिया है। इंकरमैन की घटना के बाद, रूस गयी हुई अंग्रेजी सेनाएं जहाजों पर बैठकर वापस लौटने के लिए तैयार और राजी थी और बीच में अगर फ्रांसीसी न आ गये होते, तो निस्सन्देह वे लौट आयी होती। लेकिन, भारत में मौसम, उससे उत्पन्न होनेवाली भयानक बीमारियां, संचार के साधनों की गड़बड़ियां, कही से जल्दी सैनिक सहायता आने की तमाम संभावनाओं का अभाव, सम्पूर्ण उत्तर भारत की हालत—ये सारी चीजें उनसे कहती थीं कि 'वापस चले जाओ!' और अंग्रेजी फौजों ने इस कदम की उपादेयता पर विचार तो किया, किन्तु, इन तमाम कठिनाइयों के बावजूद, अपने मोर्चे पर वे डटी रहीं।

विप्लव जब अपने शिखर पर था, तब सबसे पहले जिस चीज की जरूरत थी, वह यह थी कि उत्तर भारत में एक द्रुतगामी सेना हो। केवल दो ही फौजें थी, जिनका इस तरह से इस्तेमाल किया जा सकता था: हैवलॉक की छोटी-सी फौज, जो जल्दी ही नाकाफी साबित हो गयी थी, और वह फौज जो दिल्ली के सामने पड़ी हुई थी। ऐसी हालतों में यह निर्विवाद है कि दिल्ली के सामने पड़ा रहना और एक अभेद्य शत्रु के साथ व्यर्थ की लड़ाइयां करके अपनी शक्ति गंवाना एक सैनिक गलती थी। एक जगह पड़ी रहने की जगह अगर वह फौज चलती-फिरती रहती, तो वह चार गुना अधिक उपयोगी होती। अगर वह गतिशील रहती तो दिल्ली को छोड़कर, उत्तर भारत को साफ कर लिया जा सकता, संचार मार्गों की फिर स्थापना हो जाती, अपनी शक्तियों को एक जगह इकट्ठा करने की विद्रोहियों की प्रत्येक कोशिश को असफल बना दिया गया होता, और, इस सबकी वजह से, एक स्वाभाविक तथा सरल परिणाम के रूप मे, फिर दिल्ली का भी पतन हो जाता। यह सब निर्विवाद है। किन्तु राजनीतिक कारणों की मांग थी कि दिल्ली के सामने जो फौजी पड़ाव डाला गया था उसे न उठाया जाय। शेष हेडक्वार्टर (सदर दफ्तर) के उन लाल

बुझक्कड़ों को दिया जाना चाहिए, जिन्होंने फौज को दिल्ली भेजा था, न कि सेना की उस दृढता को जो एक बार वहां पहुंच जाने के बाद उसने दिखलाई थी। साथ ही साथ, हमें यह बताना भी नही भूलना चाहिए कि वर्षा ऋतु का इस फौज पर जितना असर पड़ने की आशंका थी, उससे कहीं कम असर उसे पर पड़ा था। ऐसे मौसम में, सक्रिय सैनिक कार्रवाइयों के परिणामस्वरूप, आम तौर से जैसी बीमारियां फैलती हैं, अगर उनके आस-पास की मात्रा में भी वहां वे फैली होती तो उस फौज का वापस हट आना, अथवा एकदम भंग हो जाना अपरिहार्य बन जाता। फौज की यह खतरनाक स्थिति अगस्त के अन्त तक चलती रही थी। फिर इधर सैनिक सहायता आने लगी, और उधर विद्रोहियों के शिविर के आपसी झगडे उन्हें कमजोर करते रहे। सितम्बर के आरम्भ मे घेरेवाली गाडी आ गयी और सुरक्षात्मक स्थिति आक्रमण की स्थिति में बदल गयी। ७ सितम्बर को पहली बैटरी (तोपखाने) ने गोलाबारी शुरू की और १३ तारीख की शाम को, काम में आने लायक दो दरारें (परकोटे में) पैदा हो गयीं। अब हम देखें कि इस दरम्यान क्या हुआ था।

इस सम्बंध में अगर हम जनरल विल्सन द्वारा भेजी गयी सरकारी रिपोर्ट पर भरोसा करेंगे, तो सचमुच भारी गलती के शिकार हो जायेंगे। यह रिपोर्ट लगभग उसी तरह से भ्रमात्मक है जिस तरह क्राइमिया के अंग्रेजों के सदर दफ्तर से जारी की जानेवाली दस्तावेजें सदा ही भ्रमात्मक हुआ करती थीं। उस रिपोर्ट से कोई भी इन्सान यह नही जान सकता कि वे दोनों दरारें कहां हैं, न कोई यही जान सकता है कि हमला करने वाली सेनाओं की क्या सापेक्ष स्थिति है और (मोर्चे पर) वे किस क्रम से लगायी गयी है। जहां तक लोगों की निजी रिपोर्टों की बात है, तो निस्सन्देह वे और भी अधिक भ्रमात्मक है। परन्तु, सौभाग्य से, इंजीनियरो और तोपखाने की बगाल टुकडी के एक सदस्य ने जो कुछ हुआ था, उसकी एक रिपोर्ट बम्बई गजट" मे दी है। यह रिपोर्ट उतनी ही स्पष्ट और कामकाजी है जितनी वह सीधी-सादी तथा अहंकार-रहित है। यह अफसर भी उन कुशल वैज्ञानिक अधिकारियो में से एक है जिन्हें सफलता का प्रायः सम्पूर्ण श्रेय दिया जाना चाहिए। क्राइमिया के पूरे युद्ध काल में एक भी ऐसा अंग्रेज अफसर नही मिल सका था जो इतनी समझदारी की रिपोर्ट लिख सकता जितनी यह है। दुर्भाग्य से यह अफसर हमले के पहले ही दिन घायल हो गया और फिर उसका पत्र वही खत्म हो गया। इसलिए, उसके बाद की घटनाओं के सम्बध में हम अब भी बिल्कुल अंधकार में हैं।

अंग्रेजों ने दिल्ली की सुरक्षा की इतनी मजबूत व्यवस्था कर ली थी कि कोई भी एशियाई सेना घेरा डालती, तो. वे उसका मुकाबला कर लेते। हमारी आधुनिक धारणाओं के अनुसार, दिल्ली को मुश्किल से ही किला कहा जा

सकता है, उसे बस एक ऐसी जगह कहा जा सकता है जो किसी फील्ड सेना (सफरी सेना) के हमले का मुकाबला कर सकती है। उसकी पक्की दीवाल (फसील) १६ फुट ऊंची और १२ फुट चौड़ी है, उसके ऊपर ३ फुट मोटा और ८ फुट ऊंचा कमरकोटा है। कमरकोटे के अलावा, उसकी ६ फुट दीवाल खुली हुई है. उसके नीचे ढाल भी नही है जिससे उसकी रक्षा हो सके। उस पर सीधे-सीधे गोलाबारी की जा सकती है। इस पक्के प्राचीर के संकरेपन की वजह से उसके बुर्जों तथा मारटेलो लाठों (Martello Towers) के अलावा और कही तोपों का रख पाना भी असंभव है। ये बुर्ज तथा लाठें फसील का बचाव करती थी, लेकिन बहुत ही कम। इस ३ फुट मोटे पक्के कमरकोटे को घेरा डालनेवाली तोपों के जरिए आसानी से तोड़ डाला जा सकता है (फील्ड की तोपो से भी ऐसा किया जा सकता है)। इसलिए बचाव करनेवाली की तोपों को, और खास तौर से खाई के पार्श्वों पर लगी हुई तोपों को खामोश कर देना बहुत आसान था। फसील और खाई के बीच आगे निकला हुआ एक चौड़ा भाग अथवा समतल मार्ग है जिससे एक उपयोगी दरार पैदा करने में सुविधा हो सकती है। इन परिस्थितियों मे उसमे फंस जानेवाली किसी सेना के लिए मौत का घाट होने के बजाय, वह खाई उन सैनिक दस्तों के पुनर्गठित होने के लिए विश्राम-स्थल बन गयी थी जो ढलुए किनारे पर चढ़ते समय अस्त-व्यस्त हो जाया करते थे।

घेरे के नियमो के अनुसार एक ऐसे स्थान पर, जिसके चारों तरफ खन्दकें है, धावा करना उस वक्त भी पागलपन होता जिस वक्त कि उसकी पहली शर्त, यानी जगह को चारों तरफ से घेरने के लिए पास में आवश्यक फौजें होने की शर्त भी, पूरी हो गयी होती। रक्षात्मक तैयारियों की जो स्थिति थी, रक्षकों की जो असंगठित तथा पस्तहिम्मती से भरी अवस्था थी, उसको देखते हुए हमले का जो तरीका अपनाया गया, उसके अलावा किसी भी दूसरे तरीके का अपनाया जाना एक अक्षम्य अपराध होता। शक्तिपूर्ण हमले (attaque de vive force) के नाम से यह तरीका फौजी लोगों को अच्छी तरह ज्ञात है। रक्षात्मक मोर्चेबन्दी जब ऐसी हो कि भारी तोपों के बिना उस पर हमला करना असंभव हो जाय, तब तोपखाने की मदद से उसमें तुरत-फरत निपट लिया जाता है; किले के अन्दरूनी भाग पर गोलाबारी निरन्तर जारी रखी जाती है, और ज्यों ही दरारे इस लायक हो जाती है कि उनका इस्तेमाल किया जा सके, त्यो ही हमले के लिए फौजें आगे बढ़ जाती है।

जिस मोर्चे पर हमला किया जा रहा था, वह उत्तर की तरफ था, यानी अंग्रेजों के शिविर के एकदम सामने था। इस मोर्चे पर दो कोटे और तीन

बुर्ज हैं। मध्य के (कश्मीरी गेट के) बुर्ज से वे थोड़े तिरछे कोण पर पड़ते हैं। उसका पूर्वी भाग, कश्मीरी गेट के बुर्ज से पानी के बुर्ज तक का भाग, अपेक्षाकृत छोटा है, और, कश्मीरी गेट और मोरी गेट के बुर्जों के बीच, पश्चिमी भाग के सामने, थोड़ा-सा आगे बढ़ा हुआ है। कश्मीरी गेट के बुर्ज और पानी के बुर्ज के सामने का मैदान हल्के जंगल, बाग-बगीचों, मकानो, आदि से घिरा हुआ है। सिपाहियो ने इसे साफ नहीं किया था। इस कराण हमलावरो को उससे मदद मिलती थी। (इसी चीज से इस बात का जवाब मिल जाता है कि वहा की तोपों के बिल्कुल सामने भी अंग्रेज अक्सर देशी सिपाहियों का पीछा करते हुए कैसे उतनी दूर चले जाते थे। उस समय इस कार्य को बहुत बहादुरी का समझा जाता था, किन्तु, वास्तव में, जब तक उनको यह आड प्राप्त थी, तब तक उसके करने में मुश्किल से ही कोई खतरा था।) इसके अलावा, इस मोर्चे से लगभग ४०० या ५०० गज की दूरी पर, फसील के ही आमने-सामने एक गहरा नाला था। सामने से हमला करने मे इससे स्वाभाविक रूप से सहायता मिलती थी। नदी से अंग्रेजों के बायें बाजू को जबर्दस्त सहारा तो मिलता ही था, लेकिन, इसके अतिरिक्त, कश्मीरी गेट और पानी के बुर्जों के बीच के हल्के-से उस उभार का आक्रमण के मुख्य लक्ष्य के रूप में चुनाव किया जाना भी बहुत सही था। साथ ही साथ, पश्चिम की फसील तथा बुर्जों के ऊपर एक बनावटी हमला भी किया गया। यह चाल इतनी कामयाब रही कि सिपाहियों की मुख्य शक्ति उसी दिशा में लग गयी। काबुली गेट के बाहर के उप-नगरों में, अंग्रेजों के दाहिने पार्श्व पर हमला करने के लिए उन्होंने एक मजबूत सेना इकट्ठी कर ली। मोरी गेट और कश्मीरी गेट के बुर्जों के बीच की पश्चिमवाली फसील को अगर सबसे ज्यादा खतरा होता तब तो यह दाव एकदम सही तथा अत्यधिक कारगर हुआ होता। सक्रिय सुरक्षा के एक साधन के रूप में बाजू से घेरनेवाली सिपाहियो की यह चाल बहुत बढ़िया रही होती; वैसी हालत में, आगे बढ़कर, हमला करनेवाली प्रत्येक सैनिक टुकड़ी को पहले से ही यह सेना बाजू से दबा लेती। परन्तु, इस मोर्चे भी पहुंच पूर्व की ओर कश्मीरी गेट तथा पानी के बुर्जों के दरम्यान की फसील तक नहीं हो सकी; और, इस तरह, उस पर कब्जा होने से रक्षा करनेवाली फौजो का सबसे अच्छा भाग रणक्षेत्र के निर्णायक स्थान से दूर हट गया।

तोपों को लगाने के अड्डों के चुनाव, उनके निर्माण तथा हथियारो से उनको लैस करने का काम जिस तरह से किया गया था, और जिस तरह से उनका इस्तेमाल किया गया था, उसकी अधिक से अधिक प्रशंसा की जानी चाहिए। अंग्रेजों के पास लगभग ५० तोपें और मॉर्टर थे जो अच्छी ठोस रक्षात्मक दीवालों के पीछे शक्तिशाली बैटरियो मे केन्द्रित थे। सरकारी वक्तव्यों के

सकता है, उसे बस एक ऐसी जगह कहा जा सकता है जो किसी फील्ड सेना (सफरी सेना) के हमले का मुकाबला कर सकती है। उसकी पक्की दीवाल (फसील) १६ फुट ऊंची और १२ फुट चौड़ी है, उसके ऊपर ३ फुट मोटा और ८ फुट ऊंचा कमरकोटा है। कमरकोटे के अलावा, उसकी ६ फुट दीवाल खुली हुई है. उसके नीचे ढाल भी नही है जिससे उसकी रक्षा हो सके। उस पर सीधे-सीधे गोलाबारी की जा सकती है। इस पक्के प्राचीर के संकरेपन की वजह से उसके बुर्जों तथा मारटेलो लाठों (Martello Towers) के अलावा और कहीं तोपों का रख पाना भी असंभव है। ये बुर्ज तथा लाठें फसील का बचाव करती थी, लेकिन बहुत ही कम। इस ३ फुट मोटे पक्के कमरकोटे को घेरा डालनेवाली तोपो के जरिए आसानी से तोड़ डाला जा सकता है (फील्ड की तोपों से भी ऐसा किया जा सकता है)। इसलिए बचाव करनेवालों की तोपों को, और खास तौर से खाई के पार्श्वों पर लगी हुई तोपों को खामोश कर देना बहुत आसान था। फसील और खाई के बीच आगे निकला हुआ एक चौड़ा भाग अथवा समतल मार्ग है जिससे एक उपयोगी दरार पैदा करने मे सुविधा हो सकती है। इन परिस्थितियों मे उसमे फंस जानेवाली किसी सेना के लिए मौत का घाट होने के बजाय, वह खाई उन सैनिक दस्तो के पुनर्गठित होने के लिए विश्राम-स्थल बन गयी थी जो ढलुए किनारे पर चढ़ते समय अस्त-व्यस्त हो जाया करते थे।

घेरे के नियमो के अनुसार एक ऐसे स्थान पर, जिसके चारों तरफ खन्दकें हैं, धावा करना उस वक्त भी पागलपन होता जिस वक्त कि उसकी पहली शर्त, यानी जगह को चारों तरफ से घेरने के लिए पास मे आवश्यक फौजें होने की शर्त भी, पूरी हो गयी होती। रक्षात्मक तैयारियों की जो स्थिति थी, रक्षको की जो असगठित तथा पस्तहिम्मती से भरी अवस्था थी, उसको देखते हुए हमले का जो तरीका अपनाया गया, उसके अलावा किसी भी दूसरे तरीके का अपनाया जाना एक अक्षम्य अपराध होता। शक्तिपूर्ण हमले (attaque de vive force) के नाम से यह तरीका फौजी लोगों को अच्छी तरह ज्ञात है। रक्षात्मक मोर्चेबन्दी जब ऐसी हो कि भारी तोपो के बिना उस पर हमला करना असंभव हो जाय, तब तोपखाने की मदद से उससे तुरत-फुरत निपट लिया जाता है; किले के अन्दरूनी भाग पर गोलाबारी निरन्तर जारी रखी जाती है, और ज्यों ही दरारें इस लायक हो जाती है कि उनका इस्तेमाल किया जा सके, त्यो ही हमले के लिए फौजें आगे बढ़ जाती है।

जिस मोर्चे पर हमला किया जा रहा था, वह उत्तर की तरफ था, यानी अंग्रेजो के शिविर के एकदम सामने था। इस मोर्चे पर दो कोटे और तीन

बुर्ज हैं। मध्य के (कश्मीरी गेट के) बुर्ज से वे थोडे तिरछे कोण पर पडते हैं। उसका पूर्वी भाग, कश्मीरी गेट के बुर्ज से पानी के बुर्ज तक का भाग, अपेक्षाकृत छोटा है, और, कश्मीरी गेट और मोरी गेट के बुर्जों के बीच, पश्चिमी भाग के सामने, थोडा-सा आगे बढ़ा हुआ है। कश्मीरी गेट के बुर्ज और पानी के बुर्ज के सामने का मैदान हल्के जंगल, बाग-बगीचों, मकानों, आदि से घिरा हुआ है। सिपाहियों ने इसे साफ नहीं किया था। इस कराण हमलावरो को उससे मदद मिलती थी। (इसी चीज से इस बात का जवाब मिल जाता है कि वहा की तोपों के बिल्कुल सामने भी अंग्रेज अक्सर देशी सिपाहियों का पीछा करते हुए कैसे उतनी दूर चले जाते थे। उस समय इस कार्य को बहुत बहादुरी का समझा जाता था, किन्तु, वास्तव में, जब तक उनको यह आड प्राप्त थी, तब तक उसके करने में मुश्किल से ही कोई खतरा था।) इसके अलावा, इस मोर्चे से लगभग ४०० या ५०० गज की दूरी पर, फसील के ही आमने-सामने एक गहरा नाला था। सामने से हमला करने में इससे स्वाभाविक रूप से सहायता मिलती थी। नदी से अंग्रेजों के बायें बाजू को जबर्दस्त सहारा तो मिलता ही था, लेकिन, इसके अतिरिक्त, कश्मीरी गेट और पानी के बुर्जों के बीच के हल्के-से उस उभार का आक्रमण के मुख्य लक्ष्य के रूप में चुनाव किया जाना भी बहुत सही था। साथ ही साथ, पश्चिम की फसील तथा बुर्जों के ऊपर एक बनावटी हमला भी किया गया। यह चाल इतनी कामयाब रही कि सिपाहियों की मुख्य शक्ति उसी दिशा में लग गयी। काबुली गेट के बाहर के उप-नगरों मे, अंग्रेजो के दाहिने पार्श्व पर हमला करने के लिए उन्होंने एक मजबूत सेना इकट्ठी कर ली। मोरी गेट और कश्मीरी गेट के बुर्जों के बीच की पश्चिमवाली फसील को अगर सबसे ज्यादा खतरा होता तब तो यह दाव एकदम सही तथा अत्यधिक कारगर हुआ होता। सक्रिय सुरक्षा के एक साधन के रूप में बाजू से घेरनेवाली सिपाहियो की यह चाल बहुत-बढ़िया रही होती; वैसी हालत मे, आगे बढ़कर, हमला करनेवाली प्रत्येक सैनिक टुकड़ी को पहले से ही यह सेना बाजू से दबा लेती। परन्तु, इस मोर्चे की पहुच पूर्व की ओर कश्मीरी गेट तथा पानी के बुर्जों के दरम्यान की फसील तक नही हो सकी; और, इस तरह, उस पर कब्जा होने से रक्षा करनेवाली फौजों का सबसे अच्छा भाग रणक्षेत्र के निर्णायक स्थान से दूर हट गया।

तोपों को लगाने के अड्डों के चुनाव, उनके निर्माण तथा हथियारों से उनको लैस करने का काम जिस तरह से किया गया था, और जिस तरह से उनका इस्तेमाल किया गया था, उसकी अधिक से अधिक प्रशंसा की जानी चाहिए। अंग्रेजों के पास लगभग ५० तोपें और मॉर्टर थे जो अच्छी ठोस रक्षात्मक दीवालों के पीछे शक्तिशाली बैटरियों में केन्द्रित थे। सरकारी वक्तव्यो के

अनुमार, जिस मोर्चे पर हमला किया जा रहा था, उस पर सिपाहियों के पास ५५ तोपें थी, किन्तु वे छोटे-छोटे बुर्जों तथा मार्टेलो लाठों पर इधर-उधर बिखरी हुई थीं। वे मिलकर केन्द्रित रूप से काम नही कर सकती थीं, और तीन फुट का जो रद्दी-सा कमरकोटा था, उससे उनका मुश्किल से ही कोई बचाव होता था। इसमें कोई शक नही कि रक्षा करनेवालों की तोपों को खामोश करने के लिए कुछ ही घंटे काफी हुए होंगे और उसके बाद करने के लिए फिर बहुत ही कम रह गया था।

८ तारीख को, फसील मे ७०० गज की दूरी मे, बैटरी (तोपखाना) नं. १ की १० तोपों ने गोलाबारी शुरू की। जब रात आयी, तो जिस नाले का पहले जिक्र किया गया है, उसे एक प्रकार की खदक में बदल दिया गया। ९ तारीख को, बिना किसी प्रतिरोध के, इस नाले के सामने के टूटे-फूटे मैदान और मकानों पर कब्जा कर लिया गया; और १० तारीख को बैटरी नं. २ की ८ तोपो के मुह खोल दिये गये। यह बैटरी फसील से ५०० या ६०० गज के फासले पर थी। ११ तारीख को बैटरी नं. ३ ने—जिसे किसी टूटी हुई जगह में, पानी के बुर्ज से २०० गज की दूरी पर, बहुत हिम्मत और होशियारी के साथ खडा किया गया था—अपनी ६ तोपों से गोले बरसाने शुरू किये और १० भारी मार्टरों ने शहर पर गोलाबारी आरम्भ कर दी। १३ तारीख की शाम को रिपोर्ट मिली कि दरारें पैदा हो गयी हैं— एक कश्मीरी बुर्ज के दाहिने बाजू की फसील मे और दूसरी, पानी के बुर्ज के बायें बाजू मे, सामने की तरफ। सीढियां लगा कर इन दरारो से ऊपर चढा जा सकता है। फौरन हमले का हुक्म दे दिया गया। ११ तारीख को संकट-ग्रस्त दोनों बुर्जों के बीच के ढाल पर सिपाहियों ने जवाबी हमला करने की कोशिश की और, अंग्रेजो की बैटरियो के सामने ही, लगभग ३५० गज पर, लडाई के लिए एक खन्दक तैयार कर ली। इसी अड्डे मे, काबुली गेट के बाहर, बाजुओ से आक्रमण के लिए भी वे आगे बढे। किन्तु सक्रिय रक्षा के ये प्रयत्न बिना किसी एकता, योजना या उत्साह के किये गये थे। उनका कोई फल नही निकला।

१४ तारीख की सुबह अंग्रेजों की ५ सैनिक टुकडिया हमले के लिए आगे बढी। एक, दाहिनी तरफ, काबुली गेट के अड्डे पर कब्जा करने के लिए और, इसमें सफलता मिलने पर, लाहौरी गेट पर हमला करने के लिए। एक-एक टुकडी हर दरार की तरफ गयी, एक कश्मीरी गेट की तरफ बढी जिसको उसे उडा देना था, और एक बतौर रिजर्व काम करने के लिए गयी। पहली को छोड कर, ये सारी सैनिक टुकडिया सफल हुईं। दरारों की तो नाममात्र को ही रक्षा की जा रही थी, लेकिन फसील के पास के मकानों मे किया जाने वाला प्रतिरोध बहुत जबर्दस्त था। इंजीनियरों की टुकडी के एक अफसर और तीन

सार्जेन्टों की वहादुरी के कारण (क्योंकि यहां वास्तव मे वहादुरी दिखाई गयी थी) कश्मीरी गेट को सफलतापूर्वक खोल दिया गया और, इस तरह, यह सैनिक टुकडी भी अन्दर घुसने में समर्थ हुई। शाम तक पूरा उत्तरी मोर्चा अंग्रेजों के कब्जे मे आ गया था। लेकिन जनरल विल्सन यही पर रुक गये। जो धुआंधार हमला किया जा रहा था, उसे वन्द कर दिया गया, तोपों को आगे लाया गया और शहर के हर मजबूत मुकाम के खिलाफ उन्हे लगा दिया गया। शस्त्रागार पर हमला करके कब्जा करने की बात छोड दी जाय तो वास्तव मे बहुत ही कम लड़ाई हुई मालूम होती है। विद्रोहियों की हिम्मत पस्त हो गयी थी और वे भारी संख्या में शहर छोड़ कर चले गये। विल्सन शहर में सावधानी से घुसे, १७ तारीख के बाद उन्हे मुश्किल से ही किसी से लड़ना पडा। २० तारीख को उस पर उन्होंने पूरा कब्जा कर लिया।

आक्रमण के सचालन के सम्बंध मे हमारी राय जाहिर की जा चुकी है। जहां तक बचाव का सवाल है, तो जवाबी हमले करने की कोशिशों, काबुली गेट के पास बाजू से घेरने के प्रयत्न, जवाबी घातें, राइफिल चलाने की खन्दकें, —ये सब चीजें वतलाती हैं कि युद्ध सचालन की कुछ वैज्ञानिक धारणाएं सिपाहियों के अन्दर भी प्रवेश कर गयी थीं; परन्तु उन पर किसी प्रभावशाली ढंग से अमल न किया जा सका, क्योंकि या तो सिपाहियों को वे पर्याप्त रूप से स्पष्ट नहीं थी, अथवा उन पर अमल करने लायक काफी शक्ति वे नहीं रखते थे। इन वैज्ञानिक धारणाओं की कल्पना स्वयं भारतीयो ने की थी, अथवा उन कुछ योरोपियनों ने जो उनके साथ हैं—इस बात का निर्णय करना निस्सन्देह कठिन है। किन्तु एक चीज निश्चित है: ये कोशिशें, यद्यपि उन पर अमल ठिकाने से नहीं किया गया था, अपनी योजना और तैयारी में सेवास्तोपोल की सक्रिय सुरक्षा की योजना और तैयारी से बहुत मिलती-जुलती है, और, जिस तरह से उनको कार्यान्वित किया गया था, उससे मालूम होता है मानो किसी योरोपियन अफसर ने सिपाहियों के लिए एक सही योजना तैयार कर दी थी, लेकिन सिपाही या तो उसे अच्छी तरह समझ नही पाये, या फिर संगठन और नेतृत्व के अभाव के कारण ये अमली योजनाएं उनके हाथों मे महज कमजोर और बेजान कोशिशें बन कर रह गयी।

फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा १६ नवम्बर, १८५७ को लिखा गया।

५ दिसम्बर, १८५७ के "न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५१८८, में एक सम्पादकीय लेख के रूप मे प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

कार्ल मार्क्स

प्रस्तावित भारतीय ऋण

लंदन, २२ जनवरी, १८५८

साधारण उत्पादन के कामों में लगी हुई पूंजी की विशाल मात्रा के वहां से निकाल लिये जाने तथा उसके बाद ऋण के बाजार में डाल दिये जाने के कारण, लदन के रुपया बाजार में जो उल्लास-मय तेजी आयी थी, वह ८० लाख या १ करोड़ पौण्ड स्टर्लिंग के जल्दी ही उठाये जाने वाले भारतीय ऋण की संभावनाओं के कारण पिछले पखवारे मे कुछ कम हो गयी है। यह ऋण इंगलैंड में उठाया जायगा और फरवरी में पार्लियामेन्ट के खुलते ही उसकी मंजूरी ले ली जायगी। इस ऋण की आवश्यकता इसलिए पैदा हुई है ताकि ईस्ट इंडिया कम्पनी ब्रिटेन के अपने कर्जदारों को उनकी रकमें चुका दे और भारतीय विद्रोह की वजह से युद्ध सामग्री, अन्य सामानों, फौजों के लाने-ले-जाने, आदि पर जो अतिरिक्त खर्च हुआ है, उसे पूरा कर ले। अगस्त, १८५७ में, पार्लियामेन्ट के भंग होने से पहले, कामन्स सभा मे ब्रिटिश सरकार ने बहुत गंभीरता से यह ऐलान किया था कि ऐसा कोई ऋण उठाने का उसका इरादा नही है, क्योंकि कम्पनी के आर्थिक साधन संकट का सामना करने के लिए काफी से भी अधिक हैं। किन्तु, यह सम्मोहक भ्रम, जिसमें जौन बुल को डाल दिया गया था, जल्दी ही उस समय टूट गया जब यह बात खुल गयी कि ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अत्यन्त अनुचित ढंग से लगभग ३५ लाख पौण्ड स्टर्लिंग की उस रकम को हड़प लिया है जिसे विभिन्न कम्पनियों ने भारतीय रेलों के निर्माण-कार्य के लिए उसे दिया था। इसके अलावा, उसने १० लाख पौण्ड स्टर्लिंग बैंक आफ इंगलैण्ड से और १० लाख पौण्ड लंदन की अन्य ज्वाइन्ट स्टॉक बैंकों से गुपचुप उधार ले लिये थे। इस भांति, पब्लिक जब अशुभ से अशुभ बात सुनने के लिए तैयार हो गयी, तब अपने नकाब को उतार फेंकने मे तथा अर्द्ध-सरकारी लेखों के द्वारा टाइम्स, ग्लोब", व अन्य सरकारी पत्रों में ऋण की आवश्यकता को बताने के लिए कोशिशें करने में सरकार को कोई हिचकिचाहट नहीं मालूम हुई।

पूछा जा सकता है कि इस तरह का ऋण उठाने के लिए व्यवस्थापिका सभा में एक विशेष कानून बनाने की क्यों जरूरत है; और, ऐसी हालत में जब कि पूंजी लगाने के हर लाभदायी मार्ग की तलाश में ब्रिटिश पूंजी हाथ-पैर पटक रही है, तब ऐसी किसी चीज से थोड़ी मात्रा में भी भय क्यों पैदा होना चाहिए। इसके विपरीत, उसे तो इस ऋण का आकाश-वृष्टि की तरह स्वागत करना चाहिए तथा पूंजी के तीव्रता से होते हुए मूल्य-ह्रास पर उसे एक अत्यन्त लाभप्रद प्रतिबंध मानना चाहिए।

यह बात लोगों को आम तौर से मालूम है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापारिक अस्तित्व को १८३४[cs] में उस समय समाप्त कर दिया गया था जिस समय व्यापारिक मुनाफों के उसके अन्तिम मुख्य साधन का, चीन के व्यापार के एकाधिकार का, खात्मा हो गया था। अस्तु, चूंकि ईस्ट इंडिया कम्पनी के हिस्सों के स्वामियों ने, कम-से-कम नाम के लिए, अपने मुनाफे (डिवीडेण्ड) कम्पनी के व्यापारिक मुनाफों में से हासिल किये थे, इसलिए यह आवश्यक हो गया था कि उनके लिए अब कोई और आर्थिक इन्तजाम किया जाय। डिवीडेण्डों का भुगतान जो उस वक्त तक कम्पनी की व्यापारिक आमदनी से किया जाता था, अब उसकी राजनीतिक आमदनी के जिम्मे डाल दिया गया। तै हुआ कि ईस्ट इंडिया कम्पनी के हिस्सों के मालिकों का भुगतान अब उस आमदनी से किया जायगा जो ईस्ट इंडिया कम्पनी को एक सरकार की हैसियत से होती थी। और पार्लियामेन्ट के एक एक्ट (कानून) के द्वारा, भारत के ६० लाख पौण्ड स्टर्लिंग के उस स्टॉक को, जिस पर १० प्रतिशत सूद की गारंटी थी, एक ऐसी पूंजी में परिवर्तित कर दिया गया है जिसका परिसमापन हिस्से के प्रत्येक १०० पौण्ड की जगह २०० पौण्ड चुकाये बिना नहीं किया जा सकता। दूसरे शब्दों मे, ईस्ट इंडिया कम्पनी के ६० लाख पौण्ड के पुराने स्टॉक को १ करोड़ २० लाख पौण्ड स्टर्लिंग की ऐसी पूंजी में बदल दिया गया जिस पर ५ प्रतिशत सूद मिलने की गारंटी थी। इस पूंजी और सूद को चुकाने की जिम्मेदारी भारतीय जनता के ऊपर लगाये गये करों से प्राप्त होने वाली आमदनी पर रखी गयी थी। इस प्रकार, पार्लियामेन्ट के हाथ की सफाई की एक चाल से ईस्ट इंडिया कम्पनी के ऋण को भारतीय जनता के ऋण में बदल दिया गया। इसके अलावा भी, ५ करोड़ पौण्ड स्टर्लिंग से अधिक का एक और ऋण है जिसे ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत में लिया है। इसको भी चुकाने की पूरी जिम्मेदारी उस देश की राजकीय आय पर है। स्वयं भारत के अन्दर कम्पनी द्वारा लिये गये इस तरह के ऋणों को पार्लियामेन्ट की कानून बनाने की शक्ति से हमेशा बाहर माना गया है; उन्हें उसी प्रकार के कर्जों के रूप में देखा गया है जिस

प्रकार के कर्ज, उदाहरण के लिए, कनाडा अथवा आस्ट्रेलिया की औपनिवेशिक सरकारें लेती हैं।

दूसरी तरफ, ईस्ट इंडिया कम्पनी पर, पार्लियामेन्ट की विशेष अनुमति के बिना, स्वयं ग्रेट-ब्रिटेन में सूद पर ऋण लेने की रोक लगा दी गयी है। कुछ वर्ष पहले जब कम्पनी ने भारत में रेलें बिछाना तथा बिजली के तार लगाना शुरू किया था, तब उसने लंदन के बाजार मे भारतीय बांड जारी करने की मंजूरी मागी थी। उस वक्त ४ प्रतिशत सूद पर ७० लाख पौण्ड स्टर्लिंग तक के बांड जारी करने की अनुमति उसे दे दी गयी थी। इन बांडों को चुकाने की जिम्मेदारी भी भारत की राजकीय आय पर डाली गयी थी। भारत मे विद्रोह शुरू होने के समय इस बांड-ऋण की मात्रा ३८,९४,४०० पौण्ड स्टर्लिंग थी; ईस्ट इंडिया कम्पनी को उसके लिए पार्लियामेन्ट के सामने फिर अर्जी देनी पड़ी थी। यह बात बतलाती है कि भारतीय विद्रोह के दौर में देश मे और कर्जा लेने की अपनी कानूनी शक्ति को उसने पूरे तौर से खत्म कर लिया था।

अब यह बात भी छिपी नहीं है कि इस कदम को उठाने से पहले, ईस्ट इंडिया कम्पनी ने कलकत्ता में ऋण लेने की कोशिश की थी, किन्तु इस प्रयास में वह पूर्णतया असफल रही थी। यह बात साबित करती है कि, एक तरफ तो, भारत में अंग्रेजों के प्रभुत्व के भविष्य को भारत के पूंजीपति उस आशावादिता के साथ कतई नही देखते जिससे लंदन के अखबार उसे देखते हैं; और दूसरी तरफ, इस घटना से जॉन बुल की भावना को अत्यधिक चोट पहुंची है, क्योंकि उसे उस जबर्दस्त पूंजी का पता है जो पिछले सात वर्षों में भारत मे संचित की गयी है। हैगर्ड एण्ड पिक्सले कम्पनी द्वारा हाल में प्रकाशित किये गये एक वक्तव्य के अनुसार, १८५६ और १८५७ में, केवल लंदन के बन्दरगाह से वहा २ करोड़ १० लाख पौण्ड की कीमत का सोना जहाजों से भेजा गया था। लंदन टाइम्स ने अपने पाठकों को बहुत फुसलाते-समझाते हुए बतलाया है कि,

> "देशियों (हिन्दुस्तानी) की वफादारी को हासिल करने के लिए जितने भी प्रलोभन दिये जा सकते हैं, उनमे उन्हे अपना ऋणदाता (लेनदार) बनाने (की सफलता—अनु.) के सम्बंध मे सबसे कम सन्देह किया जा सकता है; दूसरी तरफ, एक शीघ्र उद्वेजित हो उठने वाली, षड्यंत्रकारी तथा लालची कौम के लिए असन्तोष जाहिर करने अथवा गद्दारी करने के लिए इस विचार से अधिक भड़काने वाली चीज दूसरी नही हो सकती है कि हर वर्ष उसके ऊपर इसलिए टैक्स लगाया जाता है जिससे कि दूसरे देशो के धनी दावेदारों को मुनाफे भेजे जा सकें।"

परन्तु, लगता है कि भारतवासी एक ऐसी योजना के सौन्दर्य को देख पाने में असमर्थ हैं जिससे न सिर्फ भारतीय पूंजी के बल पर अंग्रेजों का प्रभुत्व वहां फिर से स्थापित हो जायगा, बल्कि साथ ही साथ देशी लोगों की संचित तिजोरियों के द्वार भी घुमा-फिरा कर अंग्रेजों के व्यापार की मदद के लिए खुल जायेंगे। अगर भारतीय पूंजीपति वास्तव में ब्रिटिश शासन के वैसे ही प्रेमी होते जैसा कि उन्हें बताना हर सच्चा अंग्रेज अपना धर्म समझता है, तो अपनी वफादारी को जाहिर करने का तथा अपनी चांदी से मुक्ति पाने का इससे बेहतर मौका उनको नहीं प्राप्त हो सकता था। लेकिन भारतीय पूंजीपतियों ने अपने संचयों को चूंकि छिपा रखा है, इसलिए जॉन बुल को यह मानने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है कि, कम-से-कम आरम्भ में, भारतीय विद्रोह के खर्च को देशी लोगों की बिना किसी सहायता के उसे स्वयं पूरा करना पड़ेगा। इसके अलावा, प्रस्तावित ऋण केवल इस चीज का श्रीगणेश मालूम होता है, मालूम होता है कि एंग्लो-इंडियन घरेलू ऋण नामक पुस्तक का वह पहला ही पृष्ठ है। यह कोई छिपी हुई बात नहीं है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी को जरूरत ८० लाख या एक करोड़ पौण्ड की नहीं, बल्कि ढाई से तीन करोड़ पौण्ड तक की है, और यह भी केवल पहली किश्त के रूप में; खर्चों को पूरा करने के लिए नहीं, बल्कि उन कर्जों को चुकाने के लिए जिन्हें वापिस देने का समय आ गया है। पिछले तीन वर्षों में जो अपूर्ण आमदनी मालगुजारी से हुई है, उसकी मात्रा ५० लाख पौण्ड है। भारतीय सरकार के एक पत्र, "फीनिक्स" के वक्तव्य के अनुसार, १५ अक्तूबर तक विद्रोहियों ने खजाने का जो रुपया लूटा था, उसकी मात्रा १ करोड़ पौण्ड है; विद्रोह के फलस्वरूप उत्तर-पूर्वी प्रान्तों की मालगुजारी में जो घाटा हुआ है, उसकी मात्रा ५० लाख पौण्ड है, और युद्ध के मद पर होनेवाले खर्चे की मात्रा कम से कम १ करोड़ पौण्ड है।

यह सही है कि लंदन के रुपये के बाजार में भारतीय कम्पनी द्वारा बार-बार ऋण लेने से रुपये का मूल्य बढ़ जायगा और पूंजी का बढ़ता हुआ मूल्य-ह्रास रुक जायगा, अर्थात्, सूद की दर में और कमी हो जायगी, किन्तु ब्रिटेन के उद्योग और व्यापार के पुनरुद्धार के लिए उसकी दर में ठीक ऐसी ही कमी होने की आवश्यकता है। बट्टे (डिस्काउंट) की दर के गिरने पर किसी प्रकार की कृत्रिम रोक लगाने का मतलब उत्पादन के खर्च को तथा उधार की शर्तों को बढ़ाना होगा। वर्तमान कमजोर स्थिति में अंग्रेजी व्यापार इस भार को उठाने में अपने को असमर्थ पाता है। भारतीय ऋण की घोषणा के कारण मुसीबत का जो आम शोर हो रहा है, उसका यही सबब है। पार्लियामेन्ट की अनुमति मिल जाने से कम्पनी के ऋण को यद्यपि किसी प्रकार की शाही

प्रकार के कर्ज, उदाहरण के लिए, कनाडा अथवा आस्ट्रेलिया की औपनिवेशिक सरकारें लेती है।

दूसरी तरफ, ईस्ट इंडिया कम्पनी पर, पार्लियामेन्ट की विशेष अनुमति के बिना, स्वयं ग्रेट-ब्रिटेन में सूद पर ऋण लेने की रोक लगा दी गयी है। कुछ वर्ष पहले जब कम्पनी ने भारत में रेलें बिछाना तथा बिजली के तार लगाना शुरू किया था, तब उसने लदन के बाजार में भारतीय बांड जारी करने की मंजूरी मागी थी। उस वक्त ४ प्रतिशत सूद पर ७० लाख पौण्ड स्टर्लिंग तक के बांड जारी करने की अनुमति उसे दे दी गयी थी। इन बांडों को चुकाने की जिम्मेदारी भी भारत की राजकीय आय पर डाली गयी थी। भारत में विद्रोह शुरू होने के समय इस बांड-ऋण की मात्रा ३८,९४,४०० पौण्ड स्टर्लिंग थी; ईस्ट इंडिया कम्पनी को उसके लिए पार्लियामेन्ट के सामने फिर अर्जी देनी पड़ी थी। यह बात बतलाती है कि भारतीय विद्रोह के दौर में देश में और कर्जा लेने की अपनी कानूनी शक्ति को उसने पूरे तौर से खत्म कर लिया था।

अब यह बात भी छिपी नही है कि इस कदम को उठाने से पहले, ईस्ट इंडिया कम्पनी ने कलकत्ता में ऋण लेने की कोशिश की थी, किन्तु इस प्रयास में वह पूर्णतया असफल रही थी। यह बात साबित करती है कि, एक तरफ तो, भारत में अंग्रेजों के प्रभुत्व के भविष्य को भारत के पूंजीपति उस आशावादिता के साथ कतई नही देखते जिससे लंदन के अखबार उसे देखते हैं; और दूसरी तरफ, इस घटना से जॉन बुल की भावना को अत्यधिक चोट पहुची है, क्योंकि उसे उस जबर्दस्त पूंजी का पता है जो पिछले सात वर्षों में भारत मे सचित की गयी है। हैगर्ड एण्ड पिक्सले कम्पनी द्वारा हाल में प्रकाशित किये गये एक वक्तव्य के अनुसार, १८५६ और १८५७ मे, केवल लदन के बन्दरगाह से वहां २ करोड १० लाख पौण्ड की कीमत का सोना जहाजों से भेजा गया था। लदन टाइम्स ने अपने पाठको को बहुत फुसलाते-समझाते हुए बतलाया है कि,

> "देशियों (हिन्दुस्तानी) की वफादारी को हासिल करने के लिए जितने भी प्रलोभन दिये जा सकते हैं, उनमे उन्हें अपना ऋणदाता (लेनदार) बनाने (की सफलता—अनु.) के सम्बंध मे सबसे कम सन्देह किया जा सकता है; दूसरी तरफ, एक शीघ्र उद्वेलित हो उठने वाली, षड्यंत्रकारी तथा लालची कौम के लिए असन्तोष जाहिर करने अथवा गद्दारी करने के लिए इस विचार से अधिक भड़काने वाली चीज दूसरी नही हो सकती है कि हर वर्ष उनके ऊपर इसलिए टैक्स लगाया जाता है जिससे कि दूसरे देशों के धनी दावेदारों को मुनाफे भेजे जा सकें।"

परन्तु, लगता है कि भारतवासी एक ऐसी योजना के सौन्दर्य को देख पाने में असमर्थ हैं जिससे न सिर्फ भारतीय पूंजी के बल पर अंग्रेजों का प्रभुत्व वहां फिर से स्थापित हो जायगा, बल्कि साथ ही साथ देशी लोगों की संचित तिजोरियों के द्वार भी घुमा-फिरा कर अंग्रेजों के व्यापार की मदद के लिए खुल जायेंगे। अगर भारतीय पूंजीपति वास्तव में ब्रिटिश शासन के वैसे ही प्रेमी होते जैसा कि उन्हें बताना हर सच्चा अंग्रेज अपना धर्म समझता है, तो अपनी वफादारी को जाहिर करने का तथा अपनी चांदी से मुक्ति पाने का इससे बेहतर मौका उनको नहीं प्राप्त हो सकता था। लेकिन भारतीय पूंजीपतियों ने अपने संचयों को चूंकि छिपा रखा है, इसलिए जॉन बुल को यह मानने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है कि, कम-से-कम आरम्भ में, भारतीय विद्रोह के खर्च को देशी लोगों की बिना किसी सहायता के उसे स्वयं पूरा करना पड़ेगा। इसके अलावा, प्रस्तावित ऋण केवल इस चीज का श्रीगणेश मालूम होता है, मालूम होता है कि एंग्लो-इंडियन घरेलू ऋण नामक पुस्तक का वह पहला ही पृष्ठ है। यह कोई छिपी हुई बात नहीं है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी को जरूरत ८० लाख या एक करोड़ पौण्ड की नहीं, बल्कि ढाई से तीन करोड़ पौण्ड तक की है, और यह भी केवल पहली किस्त के रूप में; खर्चों को पूरा करने के लिए नहीं, बल्कि उन कर्जों को चुकाने के लिए जिन्हें वापिस देने का समय आ गया है। पिछले तीन वर्षों में जो अपूर्ण आमदनी मालगुजारी से हुई है, उसकी मात्रा ५० लाख पौण्ड है। भारतीय सरकार के एक पत्र, फोनिक्स" के वक्तव्य के अनुसार, १५ अक्तूबर तक विद्रोहियों ने खजाने का जो रुपया लूटा था, उसकी मात्रा १ करोड़ पौण्ड है; विद्रोह के फलस्वरूप उत्तर-पूर्वी प्रान्तों की मालगुजारी में जो घाटा हुआ है, उसकी मात्रा ५० लाख पौण्ड है, और युद्ध के मद पर होनेवाले खर्च की मात्रा कम से कम १ करोड़ पौण्ड है।

यह सही है कि लंदन के रुपये के बाजार में भारतीय कम्पनी द्वारा बार-बार ऋण लेने से रुपये का मूल्य बढ़ जायगा और पूंजी का बढ़ता हुआ मूल्य-ह्रास रुक जायगा, अर्थात्, सूद की दर में और कमी हो जायगी; किन्तु ब्रिटेन के उद्योग और व्यापार के पुनरुद्धार के लिए उसकी दर में ठीक ऐसी ही कमी होने की आवश्यकता है। बट्टे (डिस्काउंट) की दर के गिरने पर किसी प्रकार की कृत्रिम रोक लगाने का मतलब उत्पादन के खर्च को तथा उधार की शर्तों को बढ़ाना होगा। वर्तमान कमजोर स्थिति में अंग्रेजी व्यापार इस भार को उठाने में अपने को असमर्थ पाता है। भारतीय ऋण की घोषणा के कारण मुसीबत का जो आम शोर हो रहा है, उसका यही सबब है। पार्लियामेन्ट की अनुमति मिल जाने से कम्पनी के ऋण को यद्यपि किसी प्रकार की शाही

प्रकार के कर्जे, उदाहरण के लिए, कनाडा अथवा आस्ट्रेलिया की औपनिवेशिक सरकारें लेती हैं।

दूसरी तरफ, ईस्ट इंडिया कम्पनी पर, पार्लियामेन्ट की विशेष अनुमति के बिना, स्वयं ग्रेट-ब्रिटेन मे सूद पर ऋण लेने की रोक लगा दी गयी है। कुछ वर्ष पहले जब कम्पनी ने भारत में रेलें बिछाना तथा बिजली के तार लगाना शुरू किया था, तब उसने लदन के बाजार में भारतीय बांड जारी करने की मंजूरी मांगी थी। उस वक्त ४ प्रतिशत सूद पर ७० लाख पौण्ड स्टर्लिंग तक के बांड जारी करने की अनुमति उसे दे दी गयी थी। इन बांडों को चुकाने की जिम्मेदारी भी भारत की राजकीय आय पर डाली गयी थी। भारत में विद्रोह शुरू होने के समय इस बांड-ऋण की मात्रा ३८,९४,४०० पौण्ड स्टर्लिंग थी; *ईस्ट इंडिया कम्पनी को उसके लिए पार्लियामेन्ट के सामने* फिर अर्जी देनी पड़ी थी। यह बात बतलाती है कि भारतीय विद्रोह के दौर में देश मे और कर्जा लेने की अपनी कानूनी शक्ति को उसने पूरे तौर से खत्म कर लिया था।

अब यह बात भी छिपी नही है कि इस कदम को उठाने से पहले, ईस्ट इंडिया कम्पनी ने कलकत्ता मे ऋण लेने की कोशिश की थी, किन्तु इस प्रयास में वह पूर्णतया असफल रही थी। यह बात साबित करती है कि, एक तरफ तो, भारत मे अंग्रेजों के प्रभुत्व के भविष्य को भारत के पूंजीपति उस आशावादिता के साथ कतई नही देखते जिससे लंदन के अखबार उसे देखते हैं; और दूसरी तरफ, इस घटना से जॉन बुल की भावना को अत्यधिक चोट पहुंची है, क्योंकि उसे उस जबर्दस्त पूंजी का पता है जो पिछले सात वर्षों में भारत मे सचित की गयी है। हैगर्ड एण्ड पिक्सले कम्पनी द्वारा हाल में प्रकाशित किये गये एक वक्तव्य के अनुसार, १८५६ और १८५७ में, केवल लदन के बन्दरगाह से वहां २ करोड १० लाख पौण्ड की कीमत का सोना जहाजो से भेजा गया था। लदन टाइम्स ने अपने पाठकों को बहुत फुसलाते-समझाते हुए बतलाया है कि,

"देशियों (हिन्दुस्तानी) की वफादारी को हासिल करने के लिए जितने भी प्रलोभन दिये जा सकते हैं, उनमे उन्हे अपना ऋणदाता (लेनदार) बनाने (की सफलता—अनु.) के सम्बंध मे सबसे कम सन्देह किया जा सकता है, दूसरी तरफ, एक शीघ्र उद्वेलित हो उठने वाली, षडयन्त्रकारी तथा लालची कौम के लिए असन्तोष जाहिर करने अथवा गद्दारी करने के लिए इस विचार से अधिक भडकाने वाली चीज दूसरी नही हो सकती है कि हर वर्ष उसके ऊपर इसलिए टैक्स लगाया जाता है जिससे कि दूसरे देशों के धनी दावेदारों को मुनाफे भेजे जा सकें।"

परन्तु, लगता है कि भारतवासी एक ऐसी योजना के सौन्दर्य को देख पाने में असमर्थ हैं जिससे न सिर्फ भारतीय पूंजी के बल पर अंग्रेजों का प्रभुत्व वहां फिर से स्थापित हो जायगा, बल्कि साथ ही साथ देशी लोगो की संचित तिजोरियों के द्वार भी घुमा-फिरा कर अंग्रेजो के व्यापार की मदद के लिए खुल जायेंगे। अगर भारतीय पूंजीपति वास्तव में ब्रिटिश शासन के वैसे ही प्रेमी होते जैसा कि उन्हें बताना हर सच्चा अंग्रेज अपना धर्म समझता है, तो अपनी वफादारी को जाहिर करने का तथा अपनी चांदी से मुक्ति पाने का इससे बेहतर मौका उनको नहीं प्राप्त हो सकता था। लेकिन भारतीय पूंजीपतियो ने अपने मंसूबों को चूंकि छिपा रखा है, इसलिए जॉन बुल को यह मानने के लिए मजबूर होना पड़ रहा है कि, कम-से-कम आरम्भ में, भारतीय विद्रोह के खर्च को देशी लोगों की बिना किसी सहायता के उसे स्वयं पूरा करना पड़ेगा। इसके अलावा, प्रस्तावित ऋण केवल इस चीज का श्रीगणेश मालूम होता है, मालूम होता है कि एंग्लो-इंडियन घरेलू ऋण नामक पुस्तक का वह पहला ही पृष्ठ है। यह कोई छिपी हुई बात नहीं है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी को जरूरत ८० लाख या एक करोड़ पौण्ड की नहीं, बल्कि ढाई से तीन करोड़ पौण्ड तक की है, और यह भी केवल पहली किश्त के रूप में; खर्चों को पूरा करने के लिए नहीं, बल्कि उन कर्जों को चुकाने के लिए जिन्हें वापिस देने का समय आ गया है। पिछले तीन वर्षों में जो अपूर्ण आमदनी मालगुजारी से हुई है, उसकी मात्रा ५० लाख पौण्ड है। भारतीय सरकार के एक पत्र, फोनिक्स" के वक्तव्य के अनुसार, १५ अक्तूबर तक विद्रोहियों ने खजाने का जो रुपया लूटा था, उसकी मात्रा १ करोड़ पौण्ड है; विद्रोह के फलस्वरूप उत्तर-पूर्वी प्रान्तो की मालगुजारी में जो घाटा हुआ है, उसकी मात्रा ५० लाख पौण्ड है, और युद्ध के मद पर होनेवाले खर्चे की मात्रा कम से कम १ करोड़ पौण्ड है।

यह सही है कि लंदन के रुपये के बाजार में भारतीय कम्पनी द्वारा बार-बार ऋण लेने से रुपये का मूल्य बढ जायगा और पूंजी का बढ़ता हुआ मूल्य-ह्रास रुक जायगा, अर्थात्, सूद की दर में और कमी हो जायगी; किन्तु ब्रिटेन के उद्योग और व्यापार के पुनरुद्धार के लिए उसकी दर में ठीक ऐसी ही कमी होने की आवश्यकता है। बट्टे (डिस्काउंट) की दर के गिरने पर किसी प्रकार की कृत्रिम रोक लगाने का मतलब उत्पादन के खर्च को तथा उधार की शर्तों को बढ़ाना होगा। वर्तमान कमजोर स्थिति में अंग्रेजी व्यापार इस भार को उठाने में अपने को असमर्थ पाता है। भारतीय ऋण की घोषणा के कारण मुसीबत का जो आम शोर हो रहा है, उसका यही सबब है। पार्लियामेन्ट की अनुमति मिल जाने से कम्पनी के ऋण को यद्यपि किसी प्रकार की शाही

गारंटी नहीं प्राप्त हो जाती, तब भी, रुपया अगर और किन्हीं शर्तों पर नहीं प्राप्त हो पाये, तो इस गारंटी का दिया जाना भी आवश्यक है। इन, तमाम बढ़िया बारीकियों के बावजूद, ईस्ट इंडिया कम्पनी का स्थान ज्यों ही ब्रिटिश सरकार ले लेगी, त्यों ही उसका कर्ज भी ब्रिटिश कर्ज के साथ मिला दिया जायगा। इसलिए, मालूम होता है कि विशाल राष्ट्रीय ऋण में और भी बढ़ती होना भारतीय विद्रोह का पहला आर्थिक परिणाम है।

कार्ल मार्क्स द्वारा २२ जनवरी, १८५८ को लिखा गया।

९ फरवरी, १८५८ के "न्यू-यौर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५२४३, में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

फ्रेडरिक एंगेल्स

विंढम की पराजय[71]

क्राइमिया युद्ध के समय, जब सारा इंगलैंड एक ऐसे आदमी की गुहार मचा रहा था जो उसकी सेनाओं को संगठित और उनका नेतृत्व कर सके, और जब जिम्मेदारी की बागडोर रागलान, सिम्पसन और फॉर्डरिंटन जैसे अयोग्य लोगों के हाथों में सौंप दी गयी थी, तो उस समय क्राइमिया मे ही एक ऐसा सिपाही मौजूद था जिसमें वे सब गुण मौजूद थे जिनकी एक जनरल मे जरूरत होती है। हमारा संकेत सर कॉलिन कैम्पबेल की तरफ है जो आजकल भारत में रोजाना यह दिखला रहे हैं कि अपने पेशे को वह एक निष्णात व्यक्ति की तरह समझते हैं। क्राइमिया में अल्मा[72] में उन्हे अपने ब्रिगेड का नेतृत्व करने की इजाजत दी गयी थी, लेकिन ब्रिटिश सेना की जड़ कार्य-नीति के चलते वहां अपना जौहर दिखाने का उन्हे कोई अवसर नहीं मिला। उसके बाद उन्हें बलकलावा में डाल दिया गया था और फिर सैनिक कार्रवाइयो में भाग लेने की उन्हे एक बार भी इजाजत नही दी गयी। और ऐसा तब किया गया था जब कि उनकी सैनिक प्रतिभा को बहुत पहले ही भारत में एक ऐसे अधिकारी व्यक्ति ने स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया था जो मार्लबौरो के बाद इगलैंड का सबसे बड़ा जनरल है—यानी सर चार्ल्स जेम्स नेपियर ने। लेकिन नेपियर ऐसे स्वतंत्र प्रवृत्ति के व्यक्ति थे जो अपने स्वाभिमान के कारण शासक गुट के सामने घुटने नही टेक सकते थे। अतः उनकी सिफारिश कैम्पबेल को सन्देहजनक और अविश्वसनीय बना देने के लिए काफी थी।

परन्तु उस युद्ध में दूसरे लोगो ने गौरव और सम्मान प्राप्त किया था। कार्स के सर विलियम फेनविक विलियम्स इन्ही मे से थे। बेहयाई और आत्म-प्रशस्ति के जरिए और जनरल केम्टी की सु-अर्जित प्रसिद्धि को छलपूर्वक छीनकर उन्होने जो सफलता प्राप्त की थी, उसके बूते पर इस समय मजे उड़ाना ही उन्हे सुगम प्रतीत होता है। बैरन का खिताब, हजार पौण्ड की सालाना आमदनी, वुलविच मे एक आरामदेह जगह और पार्लियामेन्ट की एक सीट—ये चीजें इस बात के लिए बहुत काफी थी कि भारत जाकर अपनी

प्रतिष्ठा को खतरे में डालने से उन्हें रोक दें। उनके विपरीत, "रेडान के योद्धा,"** जनरल विढम हैं जो (विद्रोही) सिपाहियों के खिलाफ एक डिवीजन की कमान हाथ में लेकर निकल पड़े हैं। उनकी पहली ही कारगुजारी ने उनकी किस्मत का हमेशा के लिए फैसला कर दिया है। अच्छे पारिवारिक सम्बंधों वाला यह अज्ञात कर्नल वही विढम है जिन्होंने रेडान के हमले के समय एक ब्रिगेड का नेतृत्व किया था। उस सैनिक कार्रवाई के समय उन्होंने बहुत ही ढीले-ढाले ढंग से काम किया था, और, आखिर में, जब और सहायता उनके पास नहीं पहुंची, तब अपने सैनिकों को खुद अपना रास्ता तलाश करने के लिए उनकी किस्मत पर छोड़ कर वह खुद सहायता के सम्बंध में पता लगाने का बहाना करके दो बार नौ-दो ग्यारह हो गये थे। यदि वह कहीं दूसरी जगह काम करते होते, तो एक कोर्ट-मार्शल (फौजी अदालत) द्वारा उनकी इस अनुचित हरकत की जांच करायी जाती। पर यहां तो इसी हरकत की वजह से उन्हें तुरन्त एक जनरल बना दिया गया और कुछ ही दिनों बाद वह प्रधान सेनापति के पद पर नियुक्त कर दिये गये।

कॉलिन कैम्पबेल ने जब लखनऊ की ओर अभियान शुरू किया था, तब पुरानी मोर्चे-बन्दी को और कानपुर की छावनी तथा नगर को, तथा इनके साथ-साथ, गंगा के पुल को, वह जनरल विढम के हवाले कर गये थे। इनकी रक्षा के लिए आवश्यक काफी सैनिक भी वह उनके पास छोड़ गये थे। इस सेना में पैदल सिपाहियों की ५ पूरी अथवा आंशिक रेजिमेन्टें थीं, अनेक मोर्चों पर अड़ी भारी तोपें थीं, १० मैदानी तोपें थीं और दो नौ-सैनिक तोपें थीं। इसके अलावा, १०० घोड़े थे। पूरी सेना की शक्ति २,००० सैनिकों से अधिक थी। जिस समय कैम्पबेल लखनऊ में लड़ रहे थे, उसी समय विद्रोहियों की उन विभिन्न टुकड़ियों ने, जो द्वाब में इधर-उधर चक्कर लगा रही थीं, एक होकर कानपुर के ऊपर हमला बोल दिया था। विद्रोही जमींदारों द्वारा इकट्ठी कर ली गयी रमदुओं-फलुओं की पच-मेली भीड़ के अतिरिक्त, इस आक्रमण-कारी सेना में कवायद सीखे हुए सैनिकों के नाम पर (अनुशासित उन्हें कहा नहीं जा सकता) केवल दानापुर के सिपाहियों का शेष भाग तथा ग्वालियर की सेना का एक भाग था। विद्रोही सेनाओं में से केवल इन्हीं के बारे में यह कहा जा सकता था कि उनकी शक्ति कम्पनियों की शक्ति से अधिक थी, क्योंकि उनके प्रायः सभी अफसर देशी थे और अपने फील्ड अफसरों तथा कप्तानों के साथ उनका रंग-ढंग अब भी सगठित बटॅलियनों जैसा था। इसलिए अंग्रेज उनकी तरफ कुछ सम्मान से देखते थे। विढम को यह सख्त आदेश था कि वह केवल रक्षात्मक कार्रवाई ही करें, किन्तु, जब पत्रों के बीच में पकड़ लिये जाने की वजह से, कैम्पबेल के नाम भेजे अपने सन्देशों का उन्हें कोई

उत्तर नही मिला, तब उन्होंने स्वयं अपनी जिम्मेदारी पर काम करने का फैसला किया। २६ नवम्बर को १२०० पैदल सैनिको, १०० घोड़ों और ८ तोपो के साथ वह बढते आते विद्रोहियों का मुकाबला करने के लिए मैदान में उतर पड़े। विद्रोहियों के अगले दस्ते को आसानी से पराजित कर देने के बाद भी जब उन्होंने देखा कि उनकी मुख्य सेना बढ़ती ही चली आ रही है, तब वह कानपुर के पास वापस लौट गये। यहां उन्होने शहर के सामने मोर्चा लगा दिया। उनकी बायीं तरफ ३४वीं रेजीमेन्ट थी और दाहिनी तरफ राइफिल सेना (उसकी ५ कम्पनियां) तथा ८२वीं सेना की दो कम्पनियां। वापस लौटने का मार्ग शहर से गुजरता था। बायें बाजू के पिछवाड़े में ईंटों के भट्ठे थे। मोर्चे के ४०० गज के अन्दर, और दूसरे बिन्दुओं पर बाजुओं के और भी समीप, घने पेड और जगल थे जिनसे आगे बढ़ते हुए दुश्मन को अच्छा संरक्षण मिलता था। वास्तव में, इससे बुरी जगह नही छांटी जा सकती थी। अंग्रेज खुले मैदान मे एकदम संरक्षण-हीन थे और भारतीय आड़ लेते हुए ३-४ सौ गज के फासले तक बड़ी आसानी से बढते आ सकते थे। विंढम का "पराक्रम" इस बात से और अधिक जाहिर हो जाता है कि पास ही एक बहुत अच्छी जगह थी जिसके आगे-पीछे दोनों तरफ खुला मैदान था तथा मोर्चे के आगे रास्ता रोकने के लिए एक नहर थी। लेकिन, जैसा कि बताया जा चुका है, बदतर जगह को भी आग्रह करके चुना गया था। २७ नवम्बर को, अपनी तोपों को जंगल की ओट लेकर उसके बिल्कुल किनारे तक लाकर, दुश्मन ने गोलन्दाजी शुरू कर दी। विंढम, जो एक योद्धा की अन्तर्जात विनम्रता से इसे "बमबारी" बताता है, कहता है कि पांच घंटे तक उसके सैनिकों ने उसका सामना किया। लेकिन, इसके बाद ही, एक ऐसी चीज हुई जिसे बताने की न विंढम को, न वहां मौजूद किसी और आदमी को, न किसी भारतीय अथवा अंग्रेजी अखबार को अभी तक हिम्मत हुई है। गोलन्दाजी के बाद लड़ाई शुरू होते ही सूचना के हमारे तमाम सीधे साधन खत्म हो गये और हमारे सामने इसके अलावा कोई रास्ता नही रह जाता है कि जो गोल-मोल, अगर-मगर से पूर्ण तथा अधूरी रिपोर्टें आयी हैं, उन्हीं से निष्कर्ष निकालें। विंढम ने बस यह असम्बद्ध वक्तव्य दिया है :

"दुश्मन की भारी बमबारी के बावजूद, मेरे सैनिकों ने पांच घंटे तक हमले का मुकाबला किया (मैदान के सिपाहियों पर की गयी गोलन्दाजी को एक हमला बताना एक नई चीज है), और इसके बाद भी वे उस समय तक मैदान में डटे रहे जब तक कि ८८वी सेना द्वारा संगीनो से मारे गये आदमियों की संख्या के आधार पर, मुझे यह नही मालूम हो गया कि बागी शहर के अन्दर पूरे तौर से घुस गये थे। यह बताये जाने पर

कि वे किले पर आक्रमण कर रहे थे, मैंने जनरल दुपुई को पीछे हट आने का आदेश दिया। रात होने से कुछ ही देर पहले पूरी सेना, हमारे तमाम सामानों तथा तोपों के साथ, किले के अन्दर लौट गयी। कैम्प के साथ रहने वाले लोगों की भगदड की वजह से कैम्प के सामान और कुछ दूसरी चीजों को मैं अपने साथ पीछे नही ले जा सका। अगर मेरे एक हुक्म के पहुंचाने के सिलसिले में एक गलती न हुई होती, तो, मेरा विश्वास है कि मैं अपनी जगह पर जमा रह सकता था, कम-से-कम रात होने तक तो जरूर ही!"

जनरल विंढम उसी भावना के साथ, जिसका रेडान मे वह परिचय दे चुके थे, सुरक्षित स्थान की ओर चल देते हैं (शहर पर ८८वीं सेना कब्जा *किये हुए थी—हम यही नतीजा निकाल सकते है)।* वहां पर वे दुश्मन की भारी संख्या देखते हैं—जिन्दा और लड़ते हुए दुश्मनों की नही, बल्कि ८८वीं सेना द्वारा संगीनों से छेद डाले गये दुश्मनों की! इस बात से वह यह नतीजा निकालते हैं कि दुश्मन शहर के अन्दर पूरे तौर से प्रवेश कर गये हैं (मरे या जिन्दा हालत में, इसे वह नहीं बताते)! यह नतीजा पाठकों और स्वयं उनके लिए भी हैरत-अंगेज है, लेकिन हमारा यह योद्धा इतने पर ही नही रुक जाता। उसे बताया जाता है कि किले पर हमला किया गया है! कोई साधारण जनरल होता तो वह इस कहानी की सचाई का पता लगाता जो बाद में झूठी साबित हुई। पर विंढम ने ऐसा नहीं किया। उन्होने पीछे हटने का आदेश दे दिया—गोकि वह कहते हैं कि उनके एक हुक्म के पहुचाये जाने में अगर गलती न हुई होती, तो उसके सैनिक कम-से-कम रात होने तक मोर्चे पर डटे रहते। इस प्रकार, पहले तो आप विंढम के इस पराक्रमी फैसले को देखते है कि जहां बहुत से मरे हुए सिपाही हैं, वहा बहुत से जिन्दा सिपाही भी जरूर होंगे। दूसरे, किले पर हमले के सम्बध मे झूठी खबर सुनकर वह घबरा जाता है। और, तीसरे, उनके एक हुक्म के पहुचने के सम्बंध मे कहीं कोई गलती हो गयी है। इन तमाम दुर्घटनाओ ने मिलकर देशी रमदुओ-फलुओ की एक भारी भीड के हाथ रेडान के इस योद्धा की मिट्टी पलीद करवा दी और उसके सिपाहियों के दुर्दान्त ब्रिटिश साहस को पस्त कर दिया।

एक दूसरा रिपोर्टर, एक अफसर जो वहा मौजूद था बताता है:

"मैं नही समझता कि आज सुबह की लडाई और भगदड का ठीक-*ठीक ब्यौरा कोई बता सकता है। पीछे हटने का हुक्म दे दिया गया था।* सम्राज्ञी की ३४वीं पैदल सेना को ईंटों के भट्टे के पीछे लौट जाने का आदेश दे दिया गया था, किन्तु न तो अफसर और न ही सैनिक यह जानते थे कि वह भट्टा कहा है। छावनियो में तेजी से यह खबर फैल गयी थी कि

हमारी फौज पराजित हो गयी है और पीछे हट रही है। अन्दर की किलेबन्दी की तरफ जबर्दस्त भीड़ दौड़ने लगी थी; उसको रोक सकना उतना ही असम्भव था जितना कि नियागरा प्रपात के पानी को रोकना हो सकता है। सैनिक और अनुचर, योरोपियन और देशी लोग, मर्द, औरतें और बच्चे, घोड़े, ऊंट और बैल, दो बजे के बाद से असख्य संख्या में किले के अन्दर घुस आये। रात होने तक किले के अन्दर का पड़ाव आदमियों और जानवरों, माल-असबाब और १७,००० इधर-उधर के आश्रितों की भीड के साथ, उस अराजकता का मुकाबला करता मालूम होता था जो सृष्टि के निर्माण की आज्ञा जारी होने के पहले मौजूद रही होगी।"

अन्त में, टाइम्स का कलकत्ता सम्वाददाता लिखता है कि २७ तारीख को अंग्रेजों की "एक तरह से पराजय" हुई। किन्तु देश-प्रेम की भावना के कारण भारत के अंग्रेजी अखबार इस शर्मनाक बात को उदारता के अभेद्य आवरण मे छिपाये हुए हैं। परन्तु इतनी बात स्वीकार कर ली गयी है कि साम्राज्ञी की एक रेजीमेन्ट, जिसमें अधिकाश रंगरूट थे, एक समय छिन्न-भिन्न हो गयी थी, यद्यपि दुश्मन को उसने अन्दर नही आने दिया था। यह भी मान लिया गया है कि किले के अन्दर भयानक अव्यवस्था थी, क्योकि अपने सैनिकों के ऊपर विढम का सारा नियंत्रण खत्म हो गया था। २८ तारीख की शाम तक, जब तक कि कैम्पबेल नही पहुंच गये, यही हालत रही। कैम्पबेल ने "कुछ सख्त शब्द" कह कर फिर हर आदमी को अपनी जगह लगा दिया।

अब, इन तमाम उल्टे-सीधे और गोल-मोल वक्तव्यों से स्पष्ट परिणाम क्या निकलते हैं? इसके अलावा और कुछ नही कि विढम के अयोग्य नेतृत्व में, ब्रिटिश फौजें पूर्णतया, यद्यपि बिल्कुल बेकार ही, पराजित हो गयी थी; कि जब पीछे हटने का आदेश दिया गया था, तब ३४वी रेजीमेन्ट के अफसर, जिन्होने उस मैदान से जरा भी परिचित होने का कष्ट नहीं उठाया था जिसपर वे लड़ रहे थे, उस जगह को भी नहीं पा सके जहां पीछे हटकर जाने का उन्हें हुक्म दिया गया था; कि रेजीमेन्ट छिन्न-भिन्न हो गयी थी और अन्त में भाग खड़ी हुई थी; कि इसकी वजह से कैम्प के अन्दर जबर्दस्त घबराहट फैल गयी थी जिससे व्यवस्था और अनुशासन की सारी सीमाएं टूट गयी थीं तथा कैम्प के साजो-सामान और माल-असबाब का एक भाग खो गया था; कि, अन्त में, स्टोर (भंडार) के सम्बंध में विढम के दावों के बावजूद, १५,००० मीनी के कारतूस, खजाने की तिजोरियां तथा अनेक रेजीमेन्टो के लायक काफी जूते, कपड़े तथा दूसरे नये सामान दुश्मन के हाथ चले गये थे।

अंग्रेज पैदल सेना जब पांत या कॉलम में खड़ी होती है, तो वह शायद ही कभी भागती है। रूसियों की ही तरह उनके अन्दर भी एक साथ डटे

रहने की स्वाभाविक भावना होती है जो आम तौर से पुराने सिपाहियों में ही मिलती है। इसकी आंशिक वजह यह भी है कि दोनों ही सेनाओं में पुराने सिपाहियों की काफी संख्या मौजूद है। लेकिन, आंशिक रूप से, स्पष्ट है कि इस बात का सम्बंध उनके राष्ट्रीय चरित्र से भी है। इस गुण का "साहस" से कोई ताल्लुक नहीं है, उल्टे यह आत्म-परिरक्षण की स्वाभाविक प्रवृत्ति का ही एक विलक्षण विस्तार है। फिर भी, खास कर रक्षात्मक कार्रवाइयों के समय, यह चीज बहुत ही उपयोगी होती है। अंग्रेजों के मन्द स्वभाव के साथ-साथ यह चीज भी बहुत घबराहट को उनके अन्दर फैलने से रोकती है; लेकिन यह बता देना जरूरी है कि आयरलैंड के सैनिकों में यदि एक बार घबराहट फैल जाती है, तो उन्हें फिर जुटाना आसान नहीं होता। २७ नवम्बर को विढम के साथ भी ऐसा ही हुआ। आगे से उनका नाम अंग्रेज जनरलों की बहुत बड़ी नहीं, किन्तु विशिष्ट सूची में लिखा जायगा जिन्होंने घबराहट में अपने सैनिकों को भगा दिया।

२८ तारीख को ग्वालियर की सेना की मदद के लिए बिठूर से काफी सेना आ गयी थी और वह अंग्रेजों की मोर्चेबन्दी के ४०० गज के करीब तक पहुंच गयी थी। एक और टक्कर हुई, लेकिन उसमें हमलावरों ने जरा भी जोश नहीं दिखाया था। उस दौर में ६४वीं सेना के सिपाहियों और अफसरों के वास्तविक साहस का एक उदाहरण देखने में आया था जिसे यहां बताने में हमें प्रसन्नता हो रही है, यद्यपि यह कार्रवाई भी उतनी ही मूर्खतापूर्ण थी जितना कि प्रसिद्ध बलकलावा का हमला। इसकी जिम्मेदारी भी उसी रेजीमेन्ट के एक मरे हुए आदमी, कर्नल विल्सन पर डाली जाती है। मालूम होता है कि विल्सन ने एक सौ अस्सी सैनिकों को लेकर दुश्मन की चार तोपों के ऊपर, जिनकी रक्षा इससे कहीं अधिक लोग कर रहे थे, धावा बोल दिया था। हमें यह नहीं बताया गया है कि वे कौन लोग थे; लेकिन उसका जो परिणाम हुआ था उससे नतीजा निकलता है कि वे ग्वालियर की फौजों के लोग थे। अंग्रेजों ने झपट्टा मारकर तोपों पर कब्जा कर लिया था, उनमें से तीन को उनके अन्दर खूंटा ठोककर उन्होंने बेकार कर दिया था, और कुछ देर तक वे वहां डटे रहे थे। परन्तु जब मदद के लिए और सेना नहीं पहुंची तो उन्हें पीछे हटना पड़ा। लौटते समय ६० सैनिकों और अपने अधिकांश अफसरों को वे वहीं खेत छोड़ आये थे। लड़ाई जमकर हुई थी, इसका सबूत उसमें हुए नुकसान से मिलता है। उसमें हुए नुकसान से मालूम होता है कि इस छोटी टुकड़ी का काफी सख्त मुकाबला हुआ होगा। वह तोपों के मोर्चे पर तब तक डटी रही जब तक कि उसके एक-तिहाई लोग मर नहीं गये। इसमें शक नहीं कि यह लड़ाई सख्त थी। दिल्ली के हमले के बाद इसका यह पहला उदाहरण हमें मिला है। परन्तु

जिस आदमी ने इस धावे की योजना बनायी थी, उस पर फौजी अदालत में मुकदमा चलाया जाना और उसे गोली से उड़ा देना चाहिए। विंढम कहता है कि वह विल्सन था। वह उसमे मारा जा चुका है और जवाब नही दे सकता!

शाम को सारी ब्रिटिश सेना किले के अन्दर बन्द थी। उसके अन्दर अब भी अव्यवस्था का बोल-बाला था, और पुल की हालत स्पष्ट ही खतरनाक थी। पर तभी कैम्पबेल आ गया। उसने व्यवस्था कायम की, सुबह और नये सैनिकों को जमा किया, और दुश्मन को इतना पीछे ढकेल दिया कि पुल और किला सुरक्षित हो गया। इसके बाद अपने तमाम घायलों, औरतों, बच्चों और माल-असबाब को उसने नदी के पार भिजवा दिया। जब तक ये सब चीजें इलाहाबाद के मार्ग पर काफी आगे नहीं चली गयी, तब तक वह एक सुरक्षात्मक स्थिति में ही जमा रहा। यह काम ज्यों ही पूरा हो गया, त्यों ही ६ तारीख को सिपाहियों पर उसने हमला बोल दिया और उन्हें हरा दिया। उसी दिन उसके घुडसवार और उसकी तोपें १४ मील तक सिपाहियों को खदेड़ती हुई बाहर गयी। किन्तु उसे बहुत कम प्रतिरोध का सामना करना पड़ा। यह बात कैम्पबेल की ही रिपोर्ट से जाहिर है। वह सिर्फ अपने सैनिकों के बढाव का वर्णन करता है, दुश्मन ने कोई प्रतिरोध किया अथवा कोई दांव-पेंच चले, इसका कोई जिक्र वह नही करता। कही कोई रोक नही थी, और, वास्तव मे, यह लड़ाई थी ही नही, बल्कि एक हँकाई थी। ब्रिगेडियर होप ग्रेंट ने एक हल्के डिवीजन के साथ भगोड़ों का पीछा किया और ८ तारीख को एक नदी पार करते समय उन्हे पकड लिया। इस तरह घिर जाने पर, वे लड़ने के लिए भुड़ पड़े और उनका भारी नुक्सान हुआ। इस घटना के बाद कैम्पबेल का पहला अभियान, यानी लखनऊ और कानपुर का अभियान, खत्म हो गया। अब नई सैनिक कार्रवाइयों का सिलसिला शुरू होना चाहिए। इस बारे मे पहली खबर हमे पन्द्रह दिन या तीन हफ्तों में सुनाई देगी।

फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा २ फरवरी, १८५८ के आसपास लिखा गया।

२० फरवरी, १८५८ के "न्यू-यौर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५२५१, में एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

फ्रेडरिक एंगेल्स

लखनऊ पर कब्जा"

भारतीय विद्रोह के दूसरे संकटपूर्ण काल की समाप्ति हो गयी है। पहले का केन्द्र दिल्ली था; उसका अन्त उस शहर पर हमले के द्वारा कब्जा करके किया गया था; दूसरे का केन्द्र लखनऊ था, और अब उसका भी पतन हो गया है। जो जगह अभी तक शान्त रही है, यदि वहां नये विद्रोह नहीं फूट पड़ते, तो विद्रोह धीरे-धीरे शान्त होता हुआ अपने उस अन्तिम लम्बे काल में प्रवेश कर जायगा जिसमें कि, अन्त में, विद्रोही डकैतों या डाकुओं का रूप ले लेंगे। और तब वे देखेंगे कि देश के निवासी भी उनके उतने ही कट्टर शत्रु हैं जैसे कि स्वयं ब्रिटिश।

लखनऊ के हमले का ब्यौरा अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है, किन्तु प्रारम्भिक कार्रवाइयों की तथा अन्तिम संघर्षों की रूप-रेखाएं ज्ञात हैं। हमारे पाठकों को याद होगा कि लखनऊ की रेजीडेन्सी की सहायता करने के बाद जनरल कैम्पबेल ने उस सैनिक अड्डे को उड़ा दिया था। परन्तु जनरल आउट्रम को लगभग पांच हजार सैनिकों के साथ उन्होंने आलमबाग में तैनात कर दिया था। यह शहर से कुछ मील के फासले पर एक किलाबन्द स्थान था। शेष अपनी फौजों के साथ कैम्पबेल स्वयं कानपुर लौट गये थे। वहां पर विद्रोहियों ने जनरल विंढम को हरा दिया था। इन विद्रोहियों को कैम्पबेल ने पूर्णतया परास्त कर दिया और जमुना के उस पार काल्पी में खदेड़ दिया। इसके बाद सैनिक सहायता तथा भारी तोपों के आने का कानपुर में वे इन्तजार करने लगे। आक्रमण की अपनी योजनाएं उन्होंने तैयार की, अवध पर कब्जा करने के लिए जिन सेनाओं को भेजना था उन्हें एक जगह जमा होने के आदेश उन्होंने जारी किये, और कानपुर को एक ऐसा मजबूत और विशाल कैम्प बना दिया जिससे कि लखनऊ के खिलाफ की जानेवाली कार्रवाइयों का वह फौजी और मुख्य अड्डा बन सके। जब यह सब पूरा हो गया तो एक और काम उन्होंने किया। इस काम को पूरा करने से पहले आगे बढ़ने को वह निरापद नहीं समझते थे। इस काम को पूरा करने की उनकी कोशिश पहले के लगभग तमाम भारतीय कमांडरों से अलग

करके उन्हे विशिष्ट बना देती है। कैम्पबेल ने कहा कि कैम्प में औरतें नहीं चाहिए। लखनऊ में, और कानपुर की ओर कूच के समय इन "वीरागनाओ" को वह काफी देख चुके थे। ये स्त्रियां इसे बिल्कुल स्वाभाविक मानती थीं कि फौज की सारी गतिविधि उनकी इच्छाओं तथा आराम के विचार के आधीन हो। भारत में हमेशा ऐसा ही होता आया था। कैम्पबेल ज्यों ही कानपुर पहुंचे, त्यों ही उन्होंने इस पूरी दिलचस्प और तकलीफ-देह कौम को, अपने रास्ते से दूर, इलाहाबाद भेज दिया। फिर तुरंत ही महिलाओं के उस दूसरे दल को भी उन्होने बुलवा भेजा जो उस समय आगरे में था। जब तक वे कानपुर नहीं आ गयी और जब तक सकुशल उन्हे भी उन्होंने इलाहाबाद के लिए रवाना नही कर दिया, तब तक लखनऊ की तरफ बढ रही अपनी फौजो के साथ वह भी आगे नही गये।

अवध के इस अभियान के लिए जिस पैमाने पर व्यवस्था की गयी थी, वह भारत में अब तक बेमिसाल थी। वहां पर अंग्रेजों ने जो सबसे बड़ा अभियान, अफगानिस्तान पर आक्रमण[1] का अभियान, संगठित किया था, उसमें इस्तेमाल किये जानेवाले सैनिकों की सख्या किसी भी समय २०,००० से अधिक न थी, और उनमें भी बहुत बडा बहुमत हिन्दुस्तानियो का था। इसके विपरीत, अवध के इस अभियान में केवल योरोपियनों की संख्या अफगानिस्तान भेजे गये तमाम सैनिकों की संख्या से अधिक थी। मुख्य सेना मे, जिसका नेतृत्व सर कॉलिन कैम्पलेन स्वयं कर रहे थे, तीन डिवीजन पैदल सेना के थे, एक घुड़सवारो का और एक तोपखाना तथा एक डिवीजन इंजीनियरो का था। पैदल सेना का पहला डिवीजन, आउट्रम के नेतृत्व में, आलमबाग पर अधिकार किये हुए था। उसमें पाच योरोपियन और एक देशी रेजीमेन्ट थी। कैम्पबेल की सक्रिय सेना में, जिसे लेकर कानपुर से सड़क के मार्ग से वह आगे बढे थे, दूसरे (जिसमे चार योरोपियन और एक देशी रेजीमेन्ट थी) और तीसरे (जिसमें पांच योरोपियन और एक देशी रेजीमेन्ट थी) डिवीजन थे, सर होप ग्रैण्ट के नीचे का एक घुड़सवार डिवीजन था (जिसमे तीन योरोपियन और चार या पांच देशी रेजीमेन्टें थीं) और तोपखाने का अधिकांश भाग था (जिसमे अडतालीस मैदानी तोपें, घेरा डालनेवाली गाडियां और इंजीनियर थे)। गोमती और गंगा के बीच, जौनपुर और आजमगढ मे, एक ब्रिगेड ब्रिगेडियर फ्रैंक्स के नेतृत्व मे केन्द्रित था। उसको गोमती के किनारे-किनारे लखनऊ की ओर बढ़ने का आदेश था। इस ब्रिगेड मे देशी सैनिको के अलावा तीन योरोपियन रेजीमेन्टें और दो बैट्रियां (तोपखाने की टुकड़ियां) थी। इस ब्रिगेड को कैम्पबेल के सैनिक अभियान का दाहिना अंग बनना था। इन्हे लेकर कैम्पबेल की सेना में कुल सैनिक इस प्रकार थे:

	पैदल सेना	घुड़सवार	तोपखाना और इंजीनियर	कुल
योरोपियन	१५,०००,	२,०००,	३,०००,	२०,०००
देशी	५,०००,	३,०००,	२,०००,	१०,०००

अर्थात्, कुल मिलाकर उसमें ३०,००० सैनिक थे। इन्हीमें उन १०,००० नेपाली गोरखो को जोड़ देना चाहिए जो जंग बहादुर के नेतृत्व में गोरखपुर से सुल्तानपुर की तरफ बढ रहे थे। इनको लेकर आक्रमणकारी सेना की कुल संख्या ४०,००० सैनिको की हो जाती है। लगभग ये सब नियमित सैनिक थे। किन्तु बात यही नही खतम होती। कानपुर के दक्षिण में, एक मजबूत सेना के साथ सर एच. रोज थे। सागर से वह काल्पी तथा जमुना के निचले भाग की ओर बढ रहे थे। उनका लक्ष्य यह था कि अगर फ्रैंक्स और कैम्पबेल की दोनो सेनाओं के बीच से कोई लोग भाग निकलें तो वह उन्हे पकड़ लें। उत्तर-पश्चिम में, फरवरी के अन्त के करीब ब्रिगेडियर चैम्बरलेन ने उत्तर गंगा को पार कर लिया। अवध के उत्तर-पश्चिम में स्थित रुहेलखण्ड में वह प्रविष्ट हो गया। जैसा कि ठीक ही अनुमान लगाया गया था, विद्रोही सेनाओं के पीछे हटने का मुख्य अड्डा यही जगह बनी थी। इर्द-गिर्द से अवध को घेरे रखनेवाले शहरों के गैरीसनों को भी उसी सेना में जोड़ दिया जाना चाहिए जिसने, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, उस राज्य के ऊपर किये गये आक्रमण में भाग लिया था। इस तरह, इस पूरी सेना में निश्चित रूप से ७०,००० से ८०,००० तक लड़नेवाले है। इनमें से, सरकारी वक्तव्यों के अनुसार, कम-से-कम २८,००० अंग्रेज हैं। इस सैनिक शक्ति में सर जॉन लारेन्स की उस सेना के अधिकांश भाग को नही शामिल किया गया है जो दिल्ली में एक प्रकार से बालू पर अधिकार किये हुए पड़ी है तथा जिसमें मेरठ और दिल्ली के ५,५०० योरोपियन और २०,००० या ३० ००० के करीब पंजाबी है।

इस विशाल सैनिक-शक्ति का एक जगह केन्द्रीकरण कुछ तो जनरल कैम्पबेल की व्यूह-रचना का परिणाम है, किन्तु कुछ वह इस बात का भी परिणाम है कि हिन्दुस्तान के विभिन्न भागों में विद्रोह को कुचल दिया गया है, और इसकी वजह से, स्वाभाविक रूप से सैनिक इस घटना-स्थल पर आकर जमा हो गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि कैम्पबेल इससे कम सैनिक-शक्ति होने पर भी हमला करता; किन्तु, जिस समय वह हमले की तैयारी कर रहा था, उसी समय, परिस्थिति-वश, उसके पास और भी ताजे सैनिक पहुँच गये; और, यह जानते हुए भी कि लखनऊ में उसे कैसे तुच्छ दुश्मन से लड़ना है, ऐसा आदमी वह नहीं था कि इन नये साधनों का फायदा उठाने से इन्कार कर देता। और यह

बात भी भुलाई नही जानी चाहिए कि यद्यपि सैनिको की यह संख्या बहुत बड़ी लगती है, परन्तु वह फ्रांस के बराबर के बड़े क्षेत्र में फैली हुई थी; और निर्णायक क्षण में केवल लगभग २०,००० योरोपियनों, १०,००० हिन्दुओ और १०,००० गोरखों को ही लेकर वह लखनऊ पहुंच सका था। इनमें से भी देशी अफसरों की कमान में काम करनेवाले गोरखा सैनिकों की वफादारी, कम-से-कम, सन्देहजनक तो थी ही। निस्सन्देह, शीघ्र विजय प्राप्त करने के लिए इस सैनिक-शक्ति का केवल योरोपियन भाग ही काफी से अधिक था; परन्तु, फिर भी, उसके सामने जो काम था उसके मुकाबले में उसकी शक्ति बहुत ज्यादा नही थी। और, बहुत संभव मालूम पडता है कि कैम्पबेल की इच्छा यह थी कि, कम-से-कम एक बार, अवध के लोगों को सफेद चेहरो की एक इतनी भयावनी सेना वह दिखा दे जितनी कि भारत में—जहा विद्रोह इसीलिए संभव हो सका था कि योरोपियनों की संख्या थोड़ी थी और देश भर मे वे दूर-दूर फैले हुए थे—और कही की जनता ने इससे पहले कभी न देखी थी।

अवध की सेना बगाल के अधिकांश विद्रोही रेजीमेन्टों के अवशेषों तथा उसी इलाके में इकट्ठे किये गये देशी रंगरूटों को लेकर बनी थी। बंगाल के विद्रोही रेजीमेन्टों से आये हुए लोगों की संख्या ३५,००० या ४०,००० से अधिक नही हो सकती थी। आरम्भ मे इस सेना में ८०,००० आदमी थे। युद्ध की मार-काट, सेना-त्याग तथा पस्त-हिम्मती की वजह से इसकी शक्ति कम-से-कम आधी घट गयी होगी। जो कुछ बच रही थी, वह भी असंगठित थी, आशा-विहीन थी, बुरी हालत मे थी और युद्ध के मोर्चों पर जाने के सर्वथा अयोग्य थी। नयी भर्ती की गयी फौजों के सैनिकों की संख्या एक लाख से डेढ लाख तक बतायी जाती है; किन्तु उनकी संख्या कितनी थी यह महत्वहीन है। उनके हथियारो मे कुछ बन्दूकें थीं, वे भी रद्दी किस्म की। परन्तु उनमे से अधिकांश के पास जो हथियार थे, उनका इस्तेमाल बिल्कुल पास की लडाई मे ही किया जा सकता था—ऐसी लड़ाई में जिसकी सबसे कम सभावना थी। इस सैनिक-शक्ति का अधिकांश भाग लखनऊ मे था जो सर जे. आउट्रम के सैनिकों का मुकाबला कर रहा था; लेकिन उसकी दो टुकड़ियां इलाहाबाद और जौनपुर की दिशा में भी काम कर रही थी।

लखनऊ को चारों तरफ से घेरने का अभियान फरवरी के मध्य के करीब आरम्भ हुआ। १५ से २६ तारीख तक मुख्य सेना और उसके नौकरों-चाकरों की भारी संख्या (जिनमें ६०,००० तो केवल सफरी सामान ले चलने वाले अनुचर थे) कानपुर से अवध की राजधानी की तरफ कूच करती रही। रास्ते में उसे कही किसी विरोध का सामना नही करना पड़ा। इसी बीच, २१ और २४ फरवरी को, सफलता की जरा भी आशा के बिना, दुश्मन ने

आउट्रम के मोर्चे पर हमला बोल दिया। १९ तारीख को फ्रैंक्स ने सुल्तानपुर पर धावा कर दिया, विद्रोहियों की दोनों सेनाओं को उसने एक ही दिन में हरा दिया; और फिर, घुड़सवारों के अभाव में जितनी भी अच्छी तरह उनका पीछा किया जा सकता था उतनी अच्छी तरह से उसने उनका पीछा किया। दोनों पराजित सेनाओं के मिल जाने पर, २३ तारीख को उन्हें फिर उसने हरा दिया। उनकी २० तोपें और उनका सेमा तथा सारा सरोसामान इस टक्कर में नष्ट हो गया। जनरल होप ग्रैन्ट मुख्य सेना के अगले भाग का नेतृत्व कर रहा था। जबर्दस्ती कूच के समय मुख्य सेना से अपने को उसने अलग कर लिया था और बायीं तरफ बढ़ कर, २३ और २४ तारीख को, लखनऊ से रुहेलखण्ड को जाने वाली सड़क पर स्थित दो किलों को उसने तहस-नहस कर दिया था।

२ मार्च को मुख्य सेना लखनऊ के दक्षिणी भाग में केन्द्रित कर दी गयी थी। नहर इस भाग की हिफाजत करती है। शहर पर अपने पिछले हमले के समय कैम्पबेल को इस नहर को पार करना पड़ा था। इस नहर के पीछे खन्दकें खोदकर मजबूत किलेबन्दी कर ली गयी। ३ तारीख को अंग्रेजों ने दिलकुशा पार्क पर कब्जा कर लिया। इस पर कब्जा करने के साथ-साथ पहले आक्रमण का भी श्रीगणेश हो गया था। ४ तारीख को ब्रिगेडियर फ्रैंक्स मुख्य सेना में आ मिला। वह अब उसका दाहिना अंग बन गया। स्वयं उसके दाहिनी तरफ गोमती नदी थी जो उसकी सहायता कर रही थी। इसी बीच दुश्मन की मोर्चेबन्दी के खिलाफ बैट्रिया (तोपें) अड़ा दी गयी, और, शहर के आगे, गोमती के आर-आर, दो पानी में तैरनेवाले पुल बना लिये गये। ये पुल ज्यों ही तैयार हो गये, त्यों ही, पैदल सेना के अपने डिवीजन, १४०० घोड़ों और ३० तोपों को लेकर, सर जे आउट्रम बायीं तरफ, यानी उत्तर-पूर्वी किनारे पर, मोर्चा लगाने के लिए नदी के पार चले गये। इस स्थान से नहर के किनारे-किनारे फैली हुई दुश्मन की सेना के एक बड़े भाग को तथा उसके पीछे के कई किलाबन्द महलों को वह घेर ले सकता था। यहां पहुंचकर अवध के पूरे उत्तर-पूर्वी भाग के साथ दुश्मन के सम्वाद-संचार के साधनों को भी उसने काट दिया। ६ और ७ तारीख को उसे काफी प्रतिरोध का सामना करना पड़ा, परन्तु दुश्मन को उसने सामने से मार भगाया। ८ तारीख को उसके ऊपर फिर हमला हुआ, पर इसमें भी दुश्मन को कोई सफलता नहीं मिली। इसी बीच, दाहिने तट की बैट्रियों ने गोलन्दाजी शुरू कर दी थी। नदी के तट पर स्थित आउट्रम की बैट्रियों ने विद्रोहियों के बाजू और पिछवाड़े पर प्रहार करना शुरू कर दिया। ९ तारीख को सर ई. लुगर्ड के मातहत २रे डिवीजन ने मारटीनियर पर धावा करके उसे अपने अधिकार में ले लिया।

यह, जैसा कि हमारे पाठकों को याद होगा, दिलकुशा के सामने, नहर के दक्षिण भाग में, जहां यह नहर गोमती से मिलती है, एक कालेज और पार्क है। १० तारीख को बैंक घर सेंध लगा दी गयी और उस पर कब्जा कर लिया गया। आउट्रम नदी के किनारे-किनारे और आगे बढ़ता गया और विद्रोही जहां भी पडाव डालते, वहीं अपनी तोपों से उनको वह भूनने लगता। ११ तारीख को दो पहाडी रेजीमेन्टों ने (४२वीं और ९३वी रेजीमेन्टो ने) बेगम के महल पर हमला कर दिया और आउट्रम ने, नदी के बायें किनारे से, शहर जाने वाले पत्थर के पुल पर हमला बोल दिया और आगे बढ गया। फिर अपने सैनिकों को उसने नदी के पार उतार दिया और सामने की अगली इमारत के खिलाफ हमले में शामिल हो गया। १३ मार्च को एक दूसरी किलाबन्द इमारत, इमामबाड़े पर हमला किया गया। तोपखाने को सुरक्षित स्थान मे खड़ा करने के लिए एक खाई खोद ली गयी थी और, अगले दिन सेंध के तैयार होते ही इस इमारत पर धावा करके कब्जा कर लिया गया। कैसरबाग, यानी बादशाह के महल की तरफ भागते हुए दुश्मन का पीछा इतनी तेजी से किया गया कि भगोड़ों के पीछे-पीछे अंग्रेज भी उसके अन्दर घुस गये। एक हिंसापूर्ण संघर्ष शुरू हो गया, किन्तु तीसरे पहर तीन बजे तक महल अंग्रेजो के कब्जे मे आ गया था। लगता है कि इसके बाद संकट पैदा हो गया। कम-से-कम प्रतिरोध की सारी भावना खत्म हो गयी और कैम्पबेल ने भागने-वाले लोगो का पीछा करने और उन्हें पकडने की कार्रवाइयां फौरन शुरू कर दी। घुड़सवारों के एक ब्रिगेड तथा घुड़सवार तोपखाने की कुछ तोपों के साथ ब्रिगेडियर कैम्पबेल को उनका पीछा करने के लिए भेजा गया। इधर ग्रैंट एक दूसरे ब्रिगेड को लेकर विद्रोहियों को पकड़ने के लिए लखनऊ से रुहेलखण्ड के मार्ग पर सीतापुर की ओर चल पडे। इस प्रकार गैरीसन के उस भाग को, जो भाग खडा हुआ था, ठिकाने लगाने की व्यवस्था करके पैदल सेना तथा तोपखाना शहर के भीतर उन लोगों का सफाया करने के लिए आगे बढे जो अब भी वहां जमे हुए थे। १५ से १९ *तारीख तक लड़ाई मुख्यतया शहर की संकरी गलियों में ही होती रही होगी,* क्योंकि नदी के किनारे के महलों और बागों पर तो पहले ही कब्जा कर लिया गया था। १९ तारीख को पूरा शहर कैम्पबेल के अधिकार में था। कहा जाता है कि लगभग ५०,००० विद्रोही भाग गये है, कुछ रुहेलखण्ड की तरफ, कुछ द्वाब और बुन्देलखण्ड की तरफ। द्वाब और बुन्देलखण्ड की दिशा मे भागने का मौका उन्हें इसलिए मिला कि जनरल रोज अपनी सेना के साथ जमुना से अब भी कम-से-कम ६० मील की दूरी पर है, और, कहा जाता है कि, ३०,००० विद्रोही उनके सामने हैं। रुहेलखण्ड की दिशा में विद्रोहियों के लिए

फिर इकट्ठा हो सकने का भी एक अवसर था, क्योंकि कैम्पबेल इस स्थिति में नहीं होंगे कि बहुत तेजी से उनका पीछा कर सकें और चैम्बरलेन कहां है, इसके बारे में किसी को कोई खबर नहीं है। इसके अतिरिक्त, इलाका काफी बड़ा है और कुछ समय के लिए उन्हें मजे में पनाह दे सकता है। इसलिए विद्रोह का नया रूप संभवतः यह शक्ल अख्तियार करे कि बुन्देलखण्ड और रुहेलखण्ड में दो विद्रोही सेनाएं संगठित हो जायें। परन्तु लखनऊ और दिल्ली की सेनाएं रुहेलखण्ड की तरफ कूच करके रुहेलखण्ड की सेना का जल्दी ही सफाया कर सकती है।

इस अभियान में सर सी. कैम्पबेल की कारवाइयां, जहां तक हम अभी उनको समझ सकते हैं, उसी बुद्धिमानी और तेजी के साथ संगठित की गयी थीं जिससे वे अब तक आम तौर पर उन्हें संगठित करते आये हैं। लखनऊ को चारों तरफ से घेरने के लिए सेनाओं का व्यूह बहुत अच्छी तरह से तैयार किया गया था। मालूम होता है कि हमले के सम्बंध में हर परिस्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाया गया था। दूसरी तरफ, विद्रोहियों का आचरण अगर ज्यादा नहीं तो पहले के समान ही हेय था। लाल कोटों को देखते ही उनके अन्दर हर जगह भय छा गया। फ्रैंक्स की सेना ने अपने से २० गुनी अधिक सेना को पराजित कर दिया और उसका एक भी आदमी खेत नहीं रहा। जो तार आये है वे यद्यपि, हमेशा की तरह, "सख्त प्रतिरोध" और "जबर्दस्त लड़ाई" की ही बातें करते है, लेकिन अंग्रेजों को हुआ नुकसान—जहां वह बताया गया है—हास्यास्पद रूप से इतना कम है कि हमारा खयाल है कि इस बार भी उन्हें लखनऊ में उससे ज्यादा बहादुरी दिखलाने की जरूरत नहीं थी जितनी उन्होंने तब दिखलाई थी जब अंग्रेज पहले वहां पहुंचे थे। और न उससे अधिक यश ही उन्होंने इस बार प्राप्त किया है।

फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा १५ अप्रैल, १८५८ को लिखा गया।

३० अप्रैल, १८५८ के "न्यू-यॉर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५३१२, में, एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

फ्रेडरिक एंगेल्स

*लखनऊ पर हमले का वृतान्त

आखिरकार लखनऊ पर किये गये हमले और उसके पतन का ब्योरेवार वृतान्त अब हमें प्राप्त हो गया है। सैनिक दृष्टि से सूचना का मुख्य स्रोत जो चीज हो सकती थी, यानी सर कॉलिन कैम्पबेल की रिपोर्ट, वे तो वास्तव मे अभी तक प्रकाशित नही की गयी हैं; किन्तु ब्रिटेन के अखबारों में छपे हुए सम्वाद, और खास तौर से, लंदन टाइम्स में प्रकाशित हुए मिस्टर रसेल के पत्र—जिनके मुख्य अंश हमारे पाठको के सामने रखे जा चुके हैं— हमलावर दल की कारंवाइयों की आम स्थिति को बताने के लिए बिल्कुल काफी हैं।

तार से प्राप्त हुए समाचारों के आधार पर रक्षात्मक कारंवाइयो मे दिखलाई गयी अजानकारी और कायरता के सम्बंध में जो निष्कर्ष हमने निकाले थे, उन्हें विस्तृत रिपोर्टों* ने एकदम सही साबित कर दिया है। हिन्दुओं ने जो किलेबन्दी की थी, वह देखने मे भयानक लगने पर भी, वास्तव में उन आग्नेय पंखदार ब्यालों तथा विकृत चेहरों की आकृतियों से अधिक महत्व की नही थी जो चीनी "योद्धा" अपनी ढालो पर अथवा अपने शहरों की दीवालों पर बना देते हैं। ऊपर से देखने पर प्रत्येक किला एक अभेद्य दीवार मालूम होता था। गोलीबार के लिए बनाये गये गुप्त छेदों और मार्गों तथा कमरकोटों के अलावा और कुछ उसमें नहीं दिखलाई देता था। उसके पास पहुंचने के मार्ग में हर संभव प्रकार की कठिनाई दृष्टिगत होती थी। हर जगह उनमें तोपें और छोटे हथियार खड़े हुए दिखलाई देते थे। लेकिन हर ऐसे किलेबन्द मोर्चे के बाजुओं और पिछाड़े को पूर्णतया उपेक्षित छोड़ दिया गया था; विभिन्न किलेबन्दियों के बीच पारस्परिक सहयोग की बात तो जैसे कभी सोची ही नही गयी थी; और, किलेबन्दियों के बीच की तथा उनके आगे की जमीन तक को कभी साफ नही किया गया था। इससे रक्षा करनेवालों की जानकारी के बिना ही, सामने से और बाजुओं से, दोनों तरफ से, उन पर हमले की तैयारियां की जा सकती थीं और नितान्त निरापद रूप से कमरकोटे के कुछ गज पास तक पहुंचा जा सकता था। सुरंग लगानेवाले ऐसे निजी सिपाहियों के एक समूह से, जिसके

* इस संग्रह के पृष्ठ १३६-४० देखिए। —सं.

कोई अफसर नहीं रह गये थे और जो ऐसी सेना में काम कर रहे थे जिसमें अज्ञान और अनुशासनहीनता का ही बोल-बाला था, जिस प्रकार की किलेबन्दियों की अपेक्षा की जा सकती थी, वे उसी प्रकार की किलेबन्दियां थीं। लखनऊ की किलेबन्दियां क्या थीं, बस देसी सिपाहियों के लड़ने का जो पूरा तरीका है उसी को जैसे पक्की ईंटों की दीवालों और मिट्टी के कमरकोटों का रूप दे दिया गया था। योरोपियन सेनाओं की कार्य-नीति का जो यांत्रिक या ऊपरी भाग था, उसे तो आंशिक रूप से उन्होंने जान लिया था; कवायद के नियमों और प्लैटून की ड्रिल के तरीकों की उन्हें काफी जानकारी हो गयी थी; तोपें लगाकर बैट्री का निर्माण वे कर ले सकते थे और दीवाल में गुप्त रास्ते भी बना सकते थे; किन्तु किसी मोर्चे की रक्षा के लिए कम्पनियों और बटैलियनों की गतिविधियों को किस तरह से संयोजित किया जाय, अथवा बैट्रियों और गुप्त मार्गोंवाले मकानों तथा दीवालों को किस तरह एक सूत्र में ऐसे पिरोया जाय कि उनसे मुकाबला कर सकने लायक कैम्प कायम हो जाय — इसके बारे में वे कुछ भी नहीं जानते थे। इस प्रकार, आवश्यकता से अधिक छेद बनाकर अपने महलों की ठोस पक्की दीवालों को उन्होंने कमजोर कर दिया था; उनमें गुप्त मार्गों और रन्ध्रों (छेदों) की तहों पर तहें उन्होंने बना दी थीं; उनकी छतों पर चबूतरे बनाकर उन्होंने बैट्रियां लगा दी थीं; परन्तु यह सब बेकार था, क्योंकि उन्हें बहुत आसानी से उनके खिलाफ ही इस्तेमाल किया जा सकता था। इसी तरह से, यह जानते हुए कि सैनिक कार्य-नीति में वे कच्चे हैं, अपनी इस कमी को पूरा करने की कोशिश में हर चौकी पर उन्होंने अधिक से अधिक आदमी ठूंस दिये थे। इसका नतीजा सिवा इसके और कुछ हो नहीं सकता था कि उससे अंग्रेजों की तोपों को भयानक सफलता प्राप्त हो जाय; तथा, रन्दुओं-फलुओं की इस भीड़ पर, किसी अप्रत्याशित दिशा से आक्रमणकारी सेनाएं ज्यों ही धावा बोल दें, त्यों ही किसी भी तरह का अनुशासित और व्यवस्थित रक्षात्मक कार्य वहां असम्भव हो जाय। और जब किसी आकस्मिक योग से किलेबन्दियों के भयानक दिखनेवाले इस मोर्चे पर हमला करने के लिए अंग्रेज मजबूर हो गये, तो यह देखा गया कि इन किलेबन्दियों का निर्माण इतना दोषपूर्ण था कि बिना किसी जोखिम के ही उनके पास पहुंचा जा सकता था, उन्हें तोड़ा जा सकता था और उन पर अधिकार किया जा सकता था। इमामबाड़े में ऐसा ही देखने को मिला था। इस इमारत से कुछ ही गजों के फासले पर एक पक्की दीवाल थी। अंग्रेजों ने इस दीवाल के बिल्कुल पास तक एक छोटी-सी सुरंग बना ली (यह इस बात का सबूत है कि इमारत के ऊपरी हिस्से में तोपों के लिए जो झरोखे और रन्ध्र बनाये गये थे, उनसे एकदम सामने के मैदान पर गोलन्दाजी नहीं की जा सकती थी।) उसके

बाद इसी दीवाल का, जिसे स्वयं हिन्दुओं ने उनके लिये बना दिया था, अंग्रेजों ने इमारत को तोड़ने के लिए एक आड़ के रूप में इस्तेमाल किया। इस दीवाल के पीछे वे ६८-६८ पौण्ड की दो तोपें (नौ सैनिक तोपें) ले आये। ब्रिटिश सेना में ६८ पौण्ड वाली हल्की से हल्की तोप का वजन भी, उसकी गाडी के बिना, ८७ हुंड्रेडवेट होता है; लेकिन अगर मान लें कि बात ८ इंच वाली तोप की ही की जा रही है, तो इस तरह की हल्की से हल्की तोप का वजन भी ५० हुंड्रेडवेट होता है, और गाड़ी को लेकर कम-से-कम ३ टन। इस तरह की तोपें एक ऐसे महल के नजदीक तक ले आयी जा सकीं जो कई मंजिल ऊंचा है और जिसकी छत पर तोपखाना लगा हुआ है, यह बात जाहिर करती है कि रक्षा करनेवाले सिपाही सैनिक इंजीनियरिंग के सम्बंध में जिस प्रकार अनभिज्ञ थे और सैनिक महत्व की जगहों के सम्बंध में जिस प्रकार का तिरस्कार-भाव उनमें भरा हुआ था, उस तरह की चीज किसी भी सभ्य सेना के किसी भी सुरंग लगानेवाले सैनिकों में नहीं मिल सकती।

यह रही उस विज्ञान की बात जिसका वहां अंग्रेजों को मुकाबला करना पड़ा था। जहां तक साहस और संकल्प की बात है, तो रक्षकों के अन्दर इनका भी उतना ही अभाव था। ज्यों ही एक सेना ने हमला किया, त्यों ही मार्टीनियर से लेकर मूसाबाग तक देशियों का बस एक ही शानदार नजारा दिखलाई दिया—वे सब के सब सिर पर पैर रखकर भागते नजर आये! इन तमाम लड़ाइयों में एक भी ऐसी नहीं है जिसका उस कत्लेआम से भी (क्योंकि लड़ाई तो उसे मुश्किल से ही कहा जा सकता है) मुकाबला किया जा सके जो सिकंदरबाग में कैम्पबेल द्वारा रेजीडेन्सी की मदद के समय हुआ था। हमलावर सेनाएं ज्यो ही आगे बढती हैं, त्यों ही पीछे की तरफ आम भगदड़ मच जाती है, और, वहां से भागने के चूंकि कुछ इने-गिने ही संकरे रास्ते हैं, इसलिए यह सारी बेतहाशा भागती भीड़ वहीं ठस जाती है। एकदम भेड़ियाधसान ढंग से लोग एक-दूसरे के ऊपर गिरते-पड़ते नजर आते हैं और जरा भी प्रतिरोध किये बिना बढते हुए अंग्रेजो की गोलियों और संगीनों के शिकार बन जाते हैं। घबराये हुए देशियों के ऊपर किये जानेवाले इन खूनी हमलों में से किसी भी एक में "अंग्रेजो की संगीन" ने जितने लोगों की जानें ली हैं, उतने लोगों की जानें योरोप और अमरीका दोनों में अंग्रेजो द्वारा लड़ी गयी सारी लड़ाइयों में मिलाकर भी उसने नहीं ली थी। पूरब की लड़ाइयों में, जहां एक ही पक्ष सक्रिय होता है और दूसरा बिल्कुल बोदे ढंग से निष्क्रिय, इस तरह के संगीन-युद्ध एक आम बात हैं; बर्मी नोकदार बल्लियों से बने मोर्चे" प्रत्येक जगह इसी चीज का उदाहरण पेश करते हैं। मिस्टर रसेल के वृतान्त के अनुसार, अंग्रेजों की मुख्य क्षति जो हुई थी, यह उन्हें उन हिन्दुओं से पहुंची थी

जो भागते समय पीछे छूट गये थे और जिन्होंने बैरीकेड बनाकर महलों के कमरों में अपने को बन्द कर लिया था। वहां से खिड़कियों के अन्दर से आंगन और बाग में रहनेवाले अफसरों के ऊपर उन्होंने गोलियां बरसायी थीं।

इमामबाड़े और कैसरबाग के हमले के समय हिन्दुस्तानी इतनी तेजी से भागे थे कि उन जगहों पर कब्जा करने तक की जरूरत नहीं पड़ी थी। उनके अन्दर अंग्रेज यों ही चलते हुए पहुंच गये थे। परन्तु वास्तव में दिलचस्प चीज अब शुरू हो रही थी; क्योंकि, जैसा कि मिस्टर रसेल उल्लसित होकर कहते हैं, कैसरबाग की फतह उस दिन इतनी अप्रत्याशित थी कि इस बात तक के लिए काफी समय नहीं मिल पाया था कि अंधा-धुन्ध लूट-खसोट को रोकने की कोई तैयारी की जा सके। अपने अंग्रेज गरडील सिपाहियों को अवध के महा महिम के हीरे-जवाहरात, बहुमूल्य हथियारों, कपड़ों तथा उनकी तमाम पोशाकों तक को इस तरह खुल कर लटते-खसोटते देखकर सच्चे, स्वतंत्रता-प्रेमी जॉन बुल को एक खास आनन्द मिला होगा! सिख, गोरखे तथा उनके तमाम नौकर-चाकर भी अंग्रेजों के इस उदाहरण की नकल करने के लिए बिल्कुल तैयार थे। इसके बाद फिर लूट और तबाही का ऐसा नजारा वहां दिखलाई दिया कि उसका बयान करने की ताकत मि. रसेल की लेखनी में भी नहीं रह गयी। हर कदम के साथ अब लूट-खसोट और तबाही का बाजार गर्म था। कैसरबाग का पतन १४ तारीख को हो गया था; और, उसके आधा घंटे के बाद ही अनुशासन समाप्त हो गया था। सैनिकों के ऊपर से अफसरों का सारा नियंत्रण उठ गया था। १७ तारीख को लूट-खसोट की रोकथाम के लिए जनरल कैम्पबेल को जगह-जगह पहरा बैठाने के लिए मजबूर होना पड़ा। "जब तक मौजूदा उच्छृंखलता का दौर खत्म न हो जाय," तब तक हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहने के लिए वह बाध्य हो गये। सैनिक साफ तौर से हाथ से बिल्कुल बाहर निकल गये थे। १८ तारीख को हमें यह कहा जाता है कि बहुत ही निम्न किस्म की लूट-खसोट तो रुक गयी है, लेकिन तबाही और बर्बादी का सिलसिला अब भी उसी तरह जारी है। लेकिन जिस समय शहर में सेना का अगला भाग, मकानों के अन्दर से किये जाने वाले देशियों के गोलीबार का मुकाबला कर रहा था, उसी समय उसका पिछला भाग खूब जी-खोलकर लूट-खसोट और बर्बादी कर रहा था। शाम को लूट-खसोट के खिलाफ एक नया ऐलान किया गया। आदेश जारी किया गया कि प्रत्येक रेजीमेन्ट से छांट-छांट कर मजबूत टुकड़ियां भेजी जायें जो अपने लूट करने वाले सैनिकों को पकड़ कर वापिस ले आयें। उन्हें यह भी आदेश दिया गया कि अपने अनुचरों को भी वे अपने साथ ही अपने घर पर रखें। जब तक कहीं ड्यूटी पर न भेजा जाय, तब तक कोई भी व्यक्ति कैम्प से बाहर न जाय।

२० तारीख को इसी आदेश को पुनः दुहराया गया। उसी दिन, दो अंग्रेज "अफसर और भद्र पुरुष," लेफ्टीनेन्ट केप और थंकवेल, "शहर मे लूट मचाने गये और वहीं एक घर के अन्दर उनकी हत्या कर दी गयी।" और २६ तारीख को भी हालत इतनी खराब थी कि लूट और बलात्कार को रोकने के लिए अत्यंत कठोर आदेश फिर जारी करने पडे। हर घटे हाजिरी लेने की व्यवस्था जारी कर दी गयी। तमाम सिपाहियो को शहर के अन्दर घुसने की सख्त मनाही कर दी गयी। यह हुक्म जारी कर दिया गया कि अनुचर लोग अगर हथियारों के साथ शहर मे पाये जायें, तो उन्हे फांसी दे दी जाय, जिस समय सैनिक ड्यूटी पर न हो, वे हथियार के साथ बाहर न निकलें, और जिन लोगों का लडाई से ताल्लुक नही है, उन सबो से हथियार छीन लिये जायें। इन आदेशो की गंभीरता को स्पष्ट कर देने के लिए "उचित स्थानो पर" लोगों को बेंत लगाने के लिए काफी टिकटियां खडी कर दी गयी।

१९वीं शताब्दी में किसी सभ्य सेना का इस तरह का व्यवहार सचमुच अनोखी चीज है। दुनिया की कोई भी दूसरी सेना अगर इस तरह की ज्यादतियो के दसवें हिस्से की भी गुनहगार होती, तो क्रुद्ध अंग्रेजी अखबार उसको किस तरह से बदनाम करते, इसकी अच्छी तरह कल्पना की जा सकती है। किन्तु ये तो ब्रिटिश सेना के कारनामे हैं, और इसलिए हमसे कहा जाता है कि युद्ध मे ऐसी चीजों का होना स्वाभाविक होता है। ब्रिटिश अफसरों और भद्र पुरुषों को पूर्ण स्वतंत्रता है कि चादी के चम्मचों, हीरे-जवाहरात से जडे कंगनो तथा अन्य छोटी-मोटी उन तमाम चीजो को, जिन्हे अपने गौरव-स्थल पर वे पा जायें, निशानियों के रूप मे हथिया लें। और अगर युद्ध के बीचोबीच भी कैम्पबेल को इस बात के लिए मजबूर होना पडा है कि व्यापक डाकेजनी और हिंसा को रोकने की गरज से, स्वयं अपनी सेना के हथियारों को वह छीन ले, तो हो सकता है कि इस कदम को उठाने के लिए उसके पास कोई फौजी कारण रहे हों। पर, सचमुच ऐसा कौन होगा जो इतनी थकान और मुसीबतों के बाद यदि वे बिचारे हफ्ते भर की छुट्टी मनाये और कुछ मौज-मजा करें, तो उस पर भी आपत्ति करे!

सच तो यह है कि योरप और अमरीका में कहीं भी ऐसी कोई सेना नही है जिसमें इतनी पाशविकता भरी हो जितनी कि ब्रिटिश सेना मे है। लूट-खसोट, हिंसा, कत्लेआम आदि की वे चीजें, जिन्हे हर जगह सख्ती से और पूर्णतया खत्म कर दिया गया है, ब्रिटिश सिपाही का अब भी एक पुरातन अधिकार, उसका एक निहित विशेषाधिकार मानी जाती हैं। स्पेन के युद्ध मे बादाजोज और सान सेबास्टियन" पर हमला करके अधिकार कर लेने के बाद, ब्रिटिश

इसी बीच, लूट-खसोट के लिए ब्रिटिश सेना के एकदम तितर-बितर हो जाने के कारण, विद्रोही भाग कर खुले मैदानों में दूर निकल गये। उनका पीछा करने वाला कोई नही था। वे रुहेलखण्ड में फिर जमा हो रहे हैं। साथ ही साथ उनका एक छोटा-सा भाग अवध की सीमा में छोटी-मोटी लड़ाइया लड़ रहा है। कुछ दूसरे भगोडे बुन्देलखण्ड की तरफ निकल गये है। साथ ही गर्मी का मौसम और वर्षा के दिन भी तेजी से समीप आते जा रहे हैं और इस बात की आशा करने का कोई कारण नही है कि इस बार भी मौसम योरोपियनों के लिए, पिछले वर्ष की ही तरह, अप्रत्याशित रूप से उतना ही अनुकूल होगा। पिछले साल, अधिकांश योरोपियन सैनिक वहा के मौसम के आदी हो गये थे; इस साल उनमे से अधिकांश नये-नये वहां पहुंचे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि जून, जुलाई और अगस्त में किये जानेवाले सैनिक अभियानों में अंग्रेजों को भारी सख्या में लोगों की जाने गंवानी पडेगी, और हर जीते गये शहर में गैरीसनों को तैनात करने की आवश्यकता के कारण, उनकी सक्रिय सेना बहुत जल्दी साफ हो जायगी। अभी से ही हमे बता दिया गया है कि १,००० सैनिकों की मासिक सहायता से भी सेना इस स्थिति में नही रहेगी कि वह कारगर रह सके। और जहां तक गैरीसनों की बात है, तो केवल लखनऊ के लिए ८,००० सैनिको की, यानी कैम्पबेल की एक-तिहाई सेना से भी अधिक की आवश्यकता है। रुहेलखण्ड के अभियान के लिए जो शक्ति संगठित की जा रही है, वह भी लखनऊ के इस गैरीसन से मुश्किल से ही बड़ी होगी। विद्रोहियों की बडी-बड़ी सेनाओं के इधर-उधर तितर-बितर हो जाने के बाद यह निश्चित है कि छापेमार युद्ध शुरू हो जायगा। हमे यह इत्तिला भी मिल गयी है कि ब्रिटिश अफसरों के अन्दर यह राय बन रही है कि वर्तमान युद्ध और उसके साथ जमकर होनेवाली लड़ाइयों तथा घेरो की तुलना मे, छापेमार युद्ध अंग्रेजों के लिए कहीं अधिक कष्ट-दायक तथा जान-लेवा साबित होगा। और, अन्त मे, सिख भी इस तरह से बात करने लगे हैं जो अंग्रेजो के लिए बहुत शुभ नही मालूम होती। वे महसूस करते है कि उनकी सहायता के बिना अंग्रेज भारत के ऊपर कब्जा नही बनाये रख सकते थे, और अगर विद्रोह मे वे भी शामिल हो गये होते तो यह निश्चित है कि, कम-से-कम कुछ समय के लिए, हिन्दुस्तान से इंगलैंड हाथ धो बैठता। इस बात को वे जोर-जोर से कह रहे हैं और अपने पूर्वी ढग से बढा-चढा कर पेश कर रहे है। अंग्रेज अब उनकी नजर में उतनी अधिक श्रेष्ठ कौम नहीं रह गयी जिसने मुड़की, फीरोजशाह और अलिवाल[*] मे उन्हें परास्त कर दिया था। इस तरह के विश्वास के बाद, खुली शत्रुता करने लगना पूर्वी देशों के लिए एक ही कदम दूर रह जाता है। एक चिनगारी से भी आग भडक सकती है।

संक्षेप में, लखनऊ की फतह भी भारतीय विद्रोह को कुचलने में उसी तरह असफल रही है जिस तरह कि दिल्ली की फतह उसे खत्म करने में नाकामयाब रही थी। इस साल गर्मियों के सैनिक अभियान के फलस्वरूप ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जा सकती है जिसके कारण अगले जाड़ों में अंग्रेजों को मोटे तौर से फिर वहीं से काम शुरू करना पड़ जाय जहां से उन्होंने पहले शुरू किया था। यह भी संभव है कि पंजाब को भी उन्हें फिर से फतह करना पड़े। लेकिन अनुकूल से अनुकूल परिस्थिति में भी, उन्हें एक लम्बे और कष्टदायक छापेमार युद्ध का सामना करना पड़ेगा। भारत की गर्मी में योरोपियनों के लिए यह कोई ऐसी अच्छी चीज नहीं है जिससे कोई दूसरा ईर्ष्या कर सके!

फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा ८ मई, १८५८ को लिखा गया।

२५ मई, १८५८ के "न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५३३१, में एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

कार्ल मार्क्स

अवध का अनुबंधन[61]

लगभग १८ महीने हुए, कैन्टन में, अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की दुनिया मे ब्रिटिश सरकार ने एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था — यह कि किसी राज्य के खिलाफ युद्ध की घोषणा किये बिना अथवा उसके साथ बाकायदा युद्ध आरम्भ किये बिना ही कोई दूसरा राज्य उसके एक प्रान्त में व्यापक पैमाने पर लड़ाई की कार्रवाइयां शुरू कर दे सकता है। उसी ब्रिटिश सरकार ने, भारत के गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग के माध्यम से, राष्ट्रों के बीच के मौजूदा कानूनों को खत्म करने की दिशा में अब एक और कदम उठाया है। उसने ऐलान किया है कि,

> "अवध प्रान्त की भूमि की मिल्कियत के अधिकार को ब्रिटिश सरकार ने अपने हाथ मे ले लिया है; इस अधिकार का उपयोग वह जिस तरह से ठीक समझेगी, उस तरह से करेगी।"[62]

१८३१ मे वारसा के पतन[63] के बाद, रूसी सम्राट* ने जब "भूमि की मिल्कियत के अधिकार को, जो तब तक पोलैंड के अनेक अमीर-उमरा के हाथों में था, छीन लिया था तो ब्रिटेन के अखबारों और पार्लियामेन्ट में एक स्वर से क्रोध का एक जबर्दस्त तूफान उठ खडा हुआ था। नोवारा की लड़ाई[64] के बाद आस्ट्रिया की सरकार ने जब लोम्बार्ड के उन अमीर-उमरा की रियासतों को, जिन्होंने स्वातंत्र्य युद्ध मे सक्रिय भाग लिया था, जब्त नही बल्कि केवल उनसे अलग कर दिया था, तब भी ब्रिटेन मे वैसे ही क्रोध का तूफान दोबारा उठ खडा हुआ था। और २ दिसम्बर, १८५१ के बाद जब और-लियन्स परिवार की उन रियासतों को — जिन्हे फ्रांस के साधारण कानून के मुताबिक लुई फिलिप के सिंहासनरूढ़ होते ही सार्वजनिक सम्पत्ति मे मिला दिया जाना चाहिए था, किन्तु जो किसी कानूनी वाग्जाल के कारण उस दुर्गति से बच गयी थी — लुई फिलिप ने जब्त कर लिया था, तब भी ब्रिटिश

* निकोलस प्रथम। — स.

क्रोध की कोई सीमा नहीं रही थी। लंदन टाइम्स ने उस समय कहा था कि इस कार्य के द्वारा समाज व्यवस्था की नींवों तक को उलट-पुलट दिया गया है और इसके बाद अब सभ्य समाज जिन्दा नहीं रह सकेगा। इस तमाम ईमानदारी-भरे क्रोध का व्यावहारिक रूप अब सामने आ गया है। कलम के एक ही झटके से न सिर्फ कुछ अमीरों की अथवा एक शाही परिवार की रियासतों को, बल्कि पूरे एक ऐसे लम्बे-चौड़े राज* को जो लगभग आयरलैण्ड के बराबर बड़ा है, इंगलैंड ने हड़प लिया है। जैसा कि लार्ड एलेनबरो स्वयं कहते हैं, उसने "एक पूरी कौम की विरासत को" छीन लिया है।

परन्तु हम सुनें कि इस अजीबो-गरीब और नायाब कार्रवाई के समर्थन में, ब्रिटिश सरकार के नाम पर, लार्ड कैनिंग कौन से बहाने — आधार उन्हें हम कह नहीं सकते — पेश करते हैं : पहला, "लखनऊ पर सेना का कब्जा है।" दूसरा, "बागी सिपाहियों द्वारा आरंभ किये गये प्रतिरोध को शहर और प्रान्त भर के निवासियों का समर्थन प्राप्त है।" तीसरा, "उन्होंने एक भारी अपराध किया है और उसके लिए उन्हें उचित सजा मिलनी चाहिए।" सीधी-सादी अंग्रेजी जबान में इसका मतलब हुआ कि : चूंकि ब्रिटिश सेना ने लखनऊ पर कब्जा कर लिया है, इसलिए सरकार को अधिकार है कि अवध की उस तमाम जमीन को वह जब्त करले जिसे वह अब तक नहीं हड़प पायी थी। चूंकि अंग्रेजों से तनखा पाने वाले देशी सिपाहियों ने बगावत कर दी है, इसलिए अवध के रहने वालों को, जिन्हें बलपूर्वक ब्रिटिश शासन के अधीन लाया गया था, अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए उठ खड़े होने का कोई अधिकार नहीं है। संक्षेप में बात यह है कि अवध की जनता ने ब्रिटिश सरकार की कानूनी सत्ता के खिलाफ विद्रोह कर दिया है और ब्रिटिश सरकार का अब साफ-साफ कहना है कि बस यह विद्रोह ही इस बात के लिए काफी है कि उसकी सारी जमा-जथा जब्त कर ली जाय। इसलिए लार्ड कैनिंग की घुमा-फिरा कर कही गयी सारी बातों को यदि छोड़ दिया जाय, तो पूरा सवाल सिर्फ यह रह जाता है कि उनका खयाल है कि अवध में ब्रिटिश शासन की स्थापना कानूनी ढंग से की गयी है।

दरहकीकत, अवध में ब्रिटिश शासन की स्थापना निम्न प्रकार से की गयी थी : १८५६ में जब लार्ड डलहौजी को लगा कि काम साधने का अवसर अब आ गया है, तो कानपुर में उन्होंने एक सेना को लाकर रख दिया। अवध के नवाब से कहा गया कि इस सेना का उद्देश्य नेपाल के ऊपर नजर रखना है। फिर इस सेना ने अचानक देश पर हमला बोल दिया, लखनऊ पर

* वाजिद अली शाह।—सं

अधिकार कर लिया और नवाब को बन्दी बना लिया। उनसे कहा गया कि अपने राज-पाट को अंग्रेजों के हवाले कर दें, पर व्यर्थ। तब उन्हें पकड कर कलकत्ते ले जाया गया और उनकी रियासत को ईस्ट इडिया कम्पनी की अमलदारी के साथ मिला दिया गया। इस विश्वासघाती आक्रमण का आधार लार्ड वेलेजली द्वारा की गयी १८०१ की सधि" की ६ठी धारा को बनाया गया था। यह सधि १७९८ मे सर जौन शोर ने जो सधि की थी, उसी का स्वाभाविक परिणाम थी। देशी रजवाडो के साथ अपने आचार-व्यवहार मे एंग्लो-इडियन सरकार जिस आम नीति पर अमल करती थी, १७९८ की यह प्रथम सधि भी, उसी के अनुरूप, आक्रमणात्मक तथा रक्षात्मक मैत्री की पारस्परिक सधि थी। इस सधि के अनुसार तै हुआ था कि ईस्ट इडिया कम्पनी को ७६ लाख रुपये (३८,००,००० डालर) सालाना की आर्थिक सहायता दी जायगी; किन्तु, उसकी १२वी और १३वी धाराओ के द्वारा नवाब को इस बात के लिए भी मजबूर किया गया था कि वे अपनी अमलदारी के करों को कम कर दें। जैसा कि स्वाभाविक था, इन दोनों शर्तो को, जो साफ तौर से परस्पर विरोधी थी, नवाब साथ-साथ पूरा नही कर सकता था! ईस्ट इडिया कम्पनी तो इसी का इन्तजार कर रही थी। इससे नयी पेचीदगिया पैदा हो गयी — १८०१ की सधि इन्ही का परिणाम थी। पिछली सधि को पूरा न करने के तथाकथित जुर्म में नवाब को अपना इलाका कम्पनी को सौंपना पडा। नवाब की अमलदारी को इस तरह हथिया लेने की हरकत की (ब्रिटिश) पार्लियामेंट मे सीधी-सीधी डाकेजनी कह कर निन्दा की गयी थी, और अगर लार्ड वेलेजली के परिवार का इतना राजनीतिक प्रभाव न होता, तो उन्हे एक जाच समिति के सामने भी तलब किया गया होता।

इलाके को इस तरह सौंप देने के एवज मे ईस्ट इंडिया कम्पनी ने सधि की ३री धारा के अन्तर्गत यह जिम्मेदारी ली कि नवाब की शेष अमलदारी की तमाम विदेशी और देशी शत्रुओ से वह रक्षा करेगी। और संधि की ६ठी धारा के द्वारा नवाब और उसके वारिसो को इस बात की गारंटी दी गयी कि ये अमलदारियां हमेशा उन्ही की रहेंगी। किन्तु इसी धारा ६ मे नवाब के लिए एक चोर-गढा भी छिपा हुआ था। वह यह था : नवाब ने इस बात का वायदा किया था कि प्रशासन की वह एक ऐसी व्यवस्था स्थापित करेंगे जिसमे उनकी प्रजा की खुशहाली बढे और राज्य के निवासियों के जान-माल की रक्षा हो। इस व्यवस्था को नवाब के ही अधिकारी चलायेंगे। अब, मान लीजिए कि अवध के नवाब ने इस सधि का उल्लंघन किया, अपनी सरकार के जरिए प्रजा के जान-माल की रक्षा वह न कर सका (मान लीजिए कि तोप के मुंह से बांध कर उडाये जाने और उसकी जमीन छीने जाने से वह

उसे न बचा सका), तब ईस्ट इंडिया कम्पनी के सामने क्या रास्ता था? संधि के द्वारा यह माना जा चुका था कि नवाब पूर्ण रूप से प्रभुसत्ताशाली एक स्वतंत्र बादशाह है, वह एक मुक्त व्यक्ति है, संधि पर दस्तखत करने वाले दो पक्षों में से एक है। यह घोषित करने के बाद कि संधि भंग की गयी है और इसलिए खत्म हो गयी है, ईस्ट इंडिया कम्पनी केवल दो ही काम कर सकती थी: बात-चीत करके, पीछे से दबाव डालकर, या तो उसके साथ एक नया समझौता कर सकती थी, या फिर नवाब के खिलाफ लड़ाई की घोषणा कर दे सकती थी। परन्तु युद्ध की घोषणा किये बिना उसके राज्य पर हमला कर देना, अनजाने में ही उसे बन्दी बना लेना, उसे गद्दी से उतार देना और उसके राज्य को हड़प लेना—यह न केवल उस संधि का उल्लंघन करना था, बल्कि राष्ट्रों के बीच के कानूनों के हर सिद्धान्त को तोड़ना था।

परन्तु अवध को अनुबंधित करने (हड़पने) का यह फैसला ब्रिटिश सरकार ने यकायक नहीं कर लिया था, इसका प्रमाण एक अजीबो-गरीब घटना से मिल जाता है। लार्ड पामर्स्टन १८३० में ज्यों ही वैदेशिक मंत्री बने थे, त्यों ही उस वक्त के गवर्नर जनरल* को उन्होंने एक फरमान भेज दिया था कि अवध हड़प लो! उनके मातहत आदमी ने इस सुझाव पर अमल करने से उस वक्त इनकार कर दिया था। लेकिन इस कांड की खबर अवध के नवाब† को हो गयी थी। उसने किसी बहाने अपने एक दूत को लंदन भेज दिया। तमाम अड़चनों के बावजूद यह दूत सारी बात विलियम चतुर्थ को बताने में सफल हो गया। उसने उन्हें बताया कि उसके देश के लिए कैसा खतरा पैदा हो गया है। विलियम चतुर्थ इस पूरी बात के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता था। परिणामस्वरूप विलियम चतुर्थ और पामर्स्टन के बीच सख्त कहा-सुनी हुई। अन्त में, पामर्स्टन को सख्त चेतावनी दे दी गयी कि आयन्दा कभी इस तरह की नियम-विरुद्ध आक्रमणात्मक कार्रवाइयां वह न करे, अगर करेगा तो उसे फौरन बर्खास्त कर दिया जायगा। इस बात को याद करना महत्वपूर्ण है कि अवध के अनुबंधन का वास्तविक कार्य तथा राज्य की सम्पूर्ण भू-सम्पत्ति की जब्ती तभी हुई थी जब पामर्स्टन फिर सत्ता में आ गया था। कुछ हफ्ते पहले अवध को हड़पने की १८३१ में की गयी इस पहली कोशिश से सम्बंधित कागजात को कॉमन्ससभा में

---

* विलियम बेंटिक।—सं.

† नासिरुद्दीन।—सं.

तलब किया गया था। बोर्ड आफ कन्ट्रोल के मंत्री मिस्टर वेली ने तब ऐलान किया कि ये सारे कागजात खो गये हैं!

१८३० में, जब पामर्सटन दूसरी बार विदेश मंत्री बने और लार्ड ऑकलैण्ड को भारत का गवर्नर जनरल नियुक्त किया गया, तब अवध के नवाब* को ईस्ट इंडिया कम्पनी के साथ फिर एक नयी संधि करने के लिए बाध्य किया गया था। इस संधि मे १८०१ की संधि की धारा ६ को यह कहकर संशोधित कर दिया गया था कि (राज्य का अच्छी तरह शासन करने की) "उसमें जो जिम्मेदारी ली गयी है, उसे पूरा कराने के साधन की कोई व्यवस्था नहीं की गयी है"; और, इसलिए, धारा ७ के द्वारा नयी संधि में साफ-साफ व्यवस्था कर दी गयी,

"कि ब्रिटिश रेजीडेन्ट के साथ मिलकर अवध के नवाब इस बात पर फौरन गौर करेंगे कि पुलिस तथा उनके राज्य की न्याय और माल व्यवस्था के अन्दर जो बुराइया हैं, उन्हे दूर करने के सबसे अच्छे तरीके क्या होंगे, और अगर ब्रिटिश सरकार की राय और सलाह को मानने से महा महिम इनकार करें, और अवध राज्य के अन्तर्गत अगर व्यवस्थित उत्पीड़न, अराजकता तथा कुशासन की ऐसी निकृष्ट व्यवस्था चालू रहे जिससे कि सार्वजनिक शान्ति के लिए गम्भीर खतरे का भय हो, तो ब्रिटिश सरकार को अधिकार होगा कि अवध राज्य के चाहे जिन किन्ही भागों की व्यवस्था के लिए, जिनमें इस तरह के कुशासन का परिचय मिला है,—वे चाहे छोटे हो चाहे बड़े, वह अपने अधिकारियों को स्वयं नियुक्त कर दे; उसे अधिकार होगा कि अपने इन अधिकारियों को जब तक वह जरूरी समझे तब तक वहा रखे। ऐसी स्थिति पैदा होने पर, तमाम खर्च पूरे करने के बाद, जो अतिरिक्त आमदनी होगी, वह नवाब के खजाने मे जमा की जायगी और आमदनी और खर्च का सच्चा और सही हिसाब महामहिम को दिया जायगा।"

धारा ८ के अन्तर्गत, संधि में आगे यह व्यवस्था की गयी है:

"यह कि अपनी कौंसिल की सहमति से भारत का गवर्नर जनरल उस सत्ता का इस्तेमाल करने के लिए जब बाध्य हो जाये, जो धारा ७ के अन्तर्गत उसे प्राप्त है तब वह अधिकार में ली गयी अमलदारियों के [illegible] वहां की देशी संस्थाओं तथा प्रशासन के स्वरूपों को, उन सुधारों के [illegible]

---

* मुहम्मद अली शाह।—सं.

जिनकी उनमें गुंजाइश हो, कायम रखने की हर संभव कोशिश करेगा, जिससे कि उन अमलदारियों को जब लौटाने का उचित समय आये तब अवध के प्रभुसत्ताशाली शासक को उन्हें लौटाने में आसानी हो सके।"

कहा जाता है कि यह संधि ब्रिटिश भारत के गवर्नर जनरल की कौंसिल तथा अवध के नवाब के बीच हुई है। इसी रूप में दोनों पक्षों ने उसे मंजूर किया था और मंजूरी के पत्रों की आवश्यक अदला-बदली कर ली गयी थी। परन्तु जब उसे ईस्ट इंडिया कम्पनी के डायरेक्टर बोर्ड के सामने रखा गया, तो यह कह कर (१० अप्रैल, १८३८ को) उसे रद्द कर दिया गया कि कम्पनी और अवध के नवाब के बीच के मैत्रीपूर्ण सम्बंधों को वह आघात पहुंचाती है, और उसके द्वारा प्रभुसत्ताशाली नवाब के अधिकारों में गवर्नर जनरल अनावश्यक दस्तन्दाजी करता है। इस संधि पर दस्तखत करने के लिए पामर्स्टन ने कम्पनी से इजाजत नहीं मांगी थी और न इसको रद्द करने वाले उसके प्रस्ताव की ओर ही उन्होंने कोई ध्यान दिया। अवध के नवाब को भी इस बात की इत्तिला नहीं दी गयी कि संधि को कभी रद्द कर दिया गया था। यह बात स्वयं लार्ड डलहौजी ने सिद्ध कर दी है (५ जनवरी, १८५६ की रिपोर्ट):

"बहुत संभव है कि रेजीडेन्ट *के साथ होनेवाली बातचीत के दौरान में नवाब उस संधि का उल्लेख करें जो १८३७ में उनके पूर्वज के साथ की गयी थी; रेजीडेन्ट को मालूम है कि उस संधि को अमल में नहीं लाया गया था, क्योंकि डायरेक्टरों की कोर्ट ने उसके इंगलैंड पहुंचते ही उसे रद्द कर दिया था। रेजीडेन्ट को यह भी ज्ञात है कि यद्यपि अवध के नवाब को इस चीज की सूचना उस समय दे दी गयी थी कि १८३७ की संधि की अधिक सैनिक शक्ति से सम्बंधित विशेष रूप से भारी शर्तों को अमल में नहीं लाया जायगा, परन्तु यह बात कि उसे एकदम रद्द कर दिया गया है, महामहिम को कभी नहीं बतलायी गयी थी। इसे छिपा रखने और पूरी बात न बताने की वजह से आज परेशानी अनुभव की जा रही है। इस बात से और भी अधिक परेशानी है कि रद्द कर दी गयी उस संधि को सरकार की ओर से १८४५ में प्रकाशित किये जानेवाले संधियों के एक संग्रह में भी शामिल कर दिया गया था।"

उसी रिपोर्ट के भाग १७ में कहा गया है:

"अगर नवाब १८३७ की संधि का उल्लेख करें और पूछें कि अवध के प्रशासन के सम्बंध में यदि और कदम उठाने आवश्यक हैं, तो उक्त संधि

---

* जेम्स आउट्रम।—सं.

के द्वारा ब्रिटिश सरकार को जो व्यापक शक्ति दे दी गयी है, उसका उपयोग क्यों नहीं किया जाता, तो महामहिम को सूचित कर दिया जाना चाहिए कि उस सधि का कभी अस्तित्व ही नहीं रहा है, क्योंकि उसे कोर्ट के डायरेक्टरो के पास भेज दिया गया था और उन्होने उसे पूर्णतया रद्द कर दिया था। महामहिम को इस बात की याद दिला दी जाय कि उस समय लखनऊ के दरबार को इस बात की सूचना दे दी गयी थी कि १८३७ की सधि की उन विशिष्ट धाराओ को मसूख कर दिया गया है जिनके द्वारा नवाब के ऊपर अतिरिक्त सैनिक शक्ति के लिए खर्च देने का लाद दिया गया था। समझ लिया जाना चाहिए कि सधि की उन धाराओ के सम्बंध में, जिनको फौरन नही कार्यान्वित किया जाना था, महामहिम को उस समय कोई सूचना देना आवश्यक नही समझा गया था, और बाद मे, उनको सूचित करने का काम गलती से रह गया था।"

किन्तु इस संधि को न सिर्फ १८४५ के सरकारी संग्रह मे शामिल कर लिया गया था, बल्कि ८ जुलाई १८३९ को लार्ड आकलैण्ड ने अवध के नवाब के पास जो सूचना भेजी थी, उसमे भी एक जीवित सधि के रूप में सरकारी तौर पर इसका हवाला दिया गया था; और २३ नवम्बर १८४७ को लार्ड हार्डिंग ने (जो उस समय गवर्नर जनरल थे) उन्ही नवाब को जो चेतावनी दी थी उसमें और १० दिसम्बर, १८५१ को कर्नल स्लीमैन (लखनऊ के रेजीडेन्ट) ने स्वयं लार्ड डलहौजी के पास जो सम्वाद भेजा था, उसमे भी इस सधि का इसी तरह हवाला दिया गया था। फिर प्रश्न उठता है कि लार्ड डलहौजी एक ऐसी सधि के अस्तित्व से इन्कार करने के लिए क्यों इतने व्यग्र थे जिसे कि उनके तमाम पूर्वजों ने, और स्वयं उनके आदमियों ने, अवध के नवाब के साथ हुए पत्र-व्यवहार में बराबर स्वीकार किया था? इसका एकमात्र कारण यह था कि हस्तक्षेप करने के लिए नवाब की वजह से उन्हे चाहे जो भी बहाना मिल जाता, किन्तु वह हस्तक्षेप इस वजह से सीमित ही रह सकता था कि इस संधि में यह मान लिया गया था कि नियुक्त किये जानेवाले ब्रिटिश अफसर अवध के नवाब के नाम पर ही सरकार चलायेंगे और जो अतिरिक्त आमदनी होगी वह नवाब को ही दी जायगी। लार्ड डलहौजी जो चाहते थे, यह उसका बिलकुल उल्टा था। उसको (अवध के राज्य को—अनु.) अनुबधित करने (ब्रिटिश अमलदारी मे मिला लेने—अनु.) से कम में काम नहीं चला सकता था! बीस वर्षों तक जो सधियां पारस्परिक आदान-प्रदान का स्वीकृत आधार रही थीं, उनसे इस तरह इनकार कर देने; स्वीकृत संधियो तक का खुलेआम उल्लंघन करके स्वतंत्र प्रदेशों पर इस प्रकार हिंसापूर्वक अधिकार

कर लेने; पूरे देश की एक-एक एकड़ भूमि के ऊपर अन्तिम रूप से इस प्रकार जबर्दस्ती कब्जा कर लेने की ये घटनाएं—भारतीय निवासियों के प्रति की गयीं अंग्रेजों की ये विश्वासघाती और पाशविक कार्रवाइयां—अब न केवल भारत में, बल्कि इंगलैंड में भी अपना प्रतिशोधपूर्ण रंग लाने लगी हैं !

कार्ल मार्क्स द्वारा १४ मई, १८५८ को लिखा गया।

२८ मई, १८५८ के "न्यू-यौर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५३३६, में एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

कार्ल मार्क्स

*लार्ड कैनिंग की घोषणा और भारत की भूमि-व्यवस्था

अवध के सम्बध में, जिसके विषय में शनिवार को हमने कुछ महत्वपूर्ण दस्तावेजें" प्रकाशित की थीं, लार्ड कैनिंग की घोषणा ने भारत की भूमि-व्यवस्थाओं के सम्बध में फिर बहस खड़ी कर दी है। इस विषय को लेकर भूत काल में जबर्दस्त बहसें हुई हैं और भारी मतभेद रहे हैं। कहा जाता है कि इस विषय से सम्बंधित भ्रमों की ही वजह से भारत के उन भागों के प्रशासन में, जो प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश शासन" के अन्तर्गत हैं, गम्भीर व्यावहारिक गलतियां हुई है। इस बहस में जो सबसे बड़ा मुद्दा है, वह यह है कि भारत की आर्थिक व्यवस्था के अन्दर तथाकथित जमींदारों, ताल्लुकेदारों अथवा सीरदारों की क्या स्थिति है ? क्या उन्हें भू-स्वामी माना जाय, या केवल मालगुजारी वसूल करने वाले लोग ?

यह बात तो सर्वमान्य है कि अधिकाश एशियाई देशो की ही तरह भारत में भी भूमि की आखिरी मालिक सरकार है। परन्तु इस बहस में भाग लेनेवाला एक पक्ष जोर देकर जहां यह कहता है कि भूमि की स्वामी सरकार को ही माना जाना चाहिए—काश्तकारों को बटाई पर वही भूमि उठाती है; तो वही दूसरा पक्ष कहता है कि भूमि भारत में भी उसी हद तक लोगों की निजी सम्पत्ति है जिस हद तक कि किसी भी दूसरे देश में वह है—और उसके सरकार की तथाकथित सम्पत्ति होने की बात बादशाह से मिले हुए अधिकार से अधिक कुछ नही है। सैद्धान्तिक रूप से इस बात को उन तमाम देशों मे स्वीकार किया जाता है जिनके कानून सामन्ती व्यवस्था पर आधारित हैं; और इस चीज को तो बिना किसी अपवाद के सभी देशों में बुनियादी तौर से माना जाता है कि, तमाम बातो के बावजूद, इस बात का सरकार को हक है कि अपनी आवश्यकताओं के अनुसार वह भूमि पर कर लगाये। इसमें, बस केवल नीति के रूप मे, भूमि के स्वामियो की सुविधा का ख्याल रखा जाता है।

परंतु, इस बात को मान लेने पर भी कि भारत की भूमि निजी सम्पत्ति है,

और उसके मालिकों को दूसरे देशों की ही तरह अच्छे और पक्के व्यक्तिगत अधिकार-पत्र (या पट्टे) प्राप्त है---असली मालिक किसे माना जाय ? इसका दावा दो पक्षों की ओर से किया गया है। इन पक्षों में एक वह वर्ग है जिसे जमीदारों और ताल्लुकेदारों का वर्ग कहा जाता है। इनकी वही स्थिति मानी गयी है जो योरोप में जमीन से सम्बंधित अमीर-उमरा और कुलीन वर्ग के लोगों की है। वास्तव में, उन्हें भूमि का असली मालिक ही माना गया है, केवल इस शर्त के साथ कि सरकार को वे एक निश्चित मालगुजारी देंगे। मालिक की हैसियत से इन जमीदारों और ताल्लुकेदारों को इस बात का भी अधिकार है कि वास्तविक किसानों को वे जब चाहें तब बेदखल कर दें। इस मत के समर्थकों की दृष्टि में वास्तविक किसानों की स्थिति महज ऐसे काश्तकारों की स्थिति है जो इस बात के लिए बाध्य हैं कि जमीदार जो भी लगान तय करें, उसे वे अदा करें। यह दृष्टिकोण स्वाभाविक रूप से अंग्रेजों के उस दृष्टिकोण से मिलता है जिसमें भूमिधारी कुलीन लोगों को सामाजिक तानेबाने के मुख्य स्तम्भ के रूप में महत्व और स्थान प्राप्त है। ७० वर्ष पहले, लार्ड कार्नवालिस की गवर्नर-जनरली के समय, बंगाल के प्रसिद्ध इस्तमरारी बंदोबस्त" का आधार इसी दृष्टिकोण को बनाया गया था। यह बंदोबस्त अब भी कायम है; लेकिन, जैसा कि बहुत से लोग कहते हैं, उसकी वजह से सरकार और वास्तविक काश्तकारों दोनों के साथ भारी अन्याय हुआ है। बंगाल के बंदोबस्त के परिणामस्वरूप सामाजिक और राजनीतिक दोनों प्रकार की जो असुविधाएं पैदा हो गयी हैं, उनके और उनके साथ-साथ हिन्दुस्तान की संस्थाओं के अधिक गहरे अध्ययन के आधार पर यह राय बनी है कि मूल हिन्दुस्तानी संस्थाओं के अतर्गत भूमि का स्वामित्व ग्राम पंचायतों के हाथ में होता था। खेती के लिए व्यक्तिगत लोगों के हाथों में उसे वितरित करने का अधिकार इन्हीं ग्राम पंचायतों को होता था; और जमींदार तथा ताल्लुकेदार का अस्तित्व पहले केवल सरकारी अफ़सरों के रूप में होता था। वे नियुक्त इसलिए होते थे कि गाव से प्राप्त होनेवाले लगान की निगरानी करें, उसे वसूलें और उसे राजा को दे दें।

जिन भारतीय प्रांतों के प्रशासन को अंग्रेजों ने स्वयं अपने हाथों में ले लिया है, उनमें पिछले वर्षों में भूमि-व्यवस्था तथा मालगुजारी के सम्बंध में जो बंदोबस्त किया गया है, उसको इस दृष्टिकोण ने काफी मात्रा में प्रभावित किया है। ताल्लुकेदार और जमींदार पूर्ण स्वामित्व के जिन अधिकारों का दावा करते हैं, उन्हें सरकार और काश्तकारों दोनों के अधिकारों का जबरिया अपहरण माना गया है और हर तरह से इस बात की कोशिश की गयी है कि उन्हें धता बता दिया जाय, क्योंकि जमीन के असली जोतनेवालों तथा देश की आम प्रगति दोनों के मार्ग में वे एक जबर्दस्त रोड़ा हैं। इन बिचौलियों के अधिकार

चाहे जिस तरह से भी अस्तित्व में आये हों, और जनता के लिए वे चाहे कितने ही असुविधापूर्ण, अन्यायी और कष्टदायक रहे हों, लेकिन अपने समर्थन मे चूंकि वे बहुत दिनो से चले आने वाले कानून का हवाला दे सकते थे, इसलिए यह असंभव था कि उनके दावों को बिल्कुल ही कानूनी न माना जाय। देशी रजवाडो के कमजोर शासन के अन्तर्गत, अवध मे, इन सामंती जमीदारों ने सरकार तथा काश्तकारों दोनों के अधिकारों को बहुत कम कर दिया था; और, हाल में उस राज्य के हड़प लिये जाने (अनुबंधित कर लिये जाने) के बाद, इस सवाल पर जब फिर विचार किया गया तो जिन कमिश्नरो को बदोबस्त करने की जिम्मेदारी दी गयी थी, उनके और इन जमीदारों के बीच उनके अधिकारों की वास्तविक मात्रा को लेकर एक अत्यंत कटु बहस छिड़ गयी। इसकी वजह से जमीदारों के अन्दर एक असंतोष की भावना पैदा हो गयी थी और इसी वजह से बाद मे वे विद्रोही सिपाहियो के साथ हो गये थे।

ऊपर बतायी गयी नीति के, यानी ग्रामीण बंदोबस्ती व्यवस्था की नीति के, जो समर्थक हैं और जो यह मानते हैं कि भूमि के स्वामित्व का अधिकार वास्तविक काश्तकारों को ही है और उनका अधिकार उन बिचौलियों (मध्यस्थ जमीदारो—अनु.) के अधिकार से बड़ा है जिनके जरिए सरकार जमीन की पैदावार का अपना अश प्राप्त करती है — वे लार्ड कैनिंग की घोषणा की हिमायत करते हैं। वे कहते हैं कि अवध के जमीदारों और ताल्लुकेदारों के अधिकांश भाग ने जो स्थिति पैदा कर दी थी, उसे लार्ड कैनिग की इस घोषणा ने समाप्त कर दिया है जिससे कि व्यापक सुधारों का मार्ग खुल गया है। ये सुधार और किसी तरह से मुमकिन नही हो सकते थे। और, इस घोषणा के द्वारा केवल जमींदारो या ताल्लुकेदारों के स्वामित्व के अधिकारों को छीना गया है जिससे कि आबादी के केवल एक बहुत छोटे-से भाग पर असर पडता है और वास्तविक काश्तकारों को किसी भी प्रकार का नुकसान नही पहुंचता।

न्याय और मानवता के सवाल को अलग रखकर अगर देखा जाय तो लार्ड कैंनिग की घोषणा को डर्बी मन्त्रि-मंडल ने जिस दृष्टि से देखा था, वह निहित स्वार्थों की पवित्रता को बनाये रखने तथा भूमि के ऊपर कुलीन वर्गों के अधिकारों को सुरक्षित रखने के सम्बंध में, टोरी अथवा कजरवेटिव (दक़ियानूसी) पार्टी के आम सिद्धान्तों के काफी अच्छी तरह से अनुकूल है। देश के (इंगलैण्ड के—अनु.) भूमिपतियों का उल्लेख करते समय लगान देनेवालों तथा वास्तविक काश्तकारों का नाम लेने के बजाय वे हमेशा जमीदारों तथा मालगुजारी पाने वालों का ही नाम लेते हैं; और, इसलिए, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि जमीदारो और ताल्लुकेदारों के हितों को — इनकी वास्तविक संख्या चाहे जितनी कम हो—वे जनता के विशाल बहुमत के हितो के बराबर मानते हैं।

इंगलैंड से भारत का शासन चलाने में एक सबसे बड़ी असुविधा और कठिनाई वास्तव में यही है कि इसकी वजह से हमेशा यह अन्देशा रहता है कि भारतीय समस्याओं से सम्बधित धारणाएं निरे अंग्रेजी पूर्वाग्रहों अथवा भावनाओं से प्रभावित हो जायें। इन पूर्वाग्रहों अथवा भावनाओं को समाज की एक ऐसी अवस्था और परिस्थितियों पर लागू किया जाता है जिनसे वास्तव में उनका कोई वास्तविक साम्य नही है। आज प्रकाशित हुए अपने एक पत्र में अपनी घोषणा से सम्बधित नीति के विषय में अवध के कमिश्नर, सर जेम्स आउट्रम द्वारा उठायी गयी आपत्तियों का लार्ड कैनिंग ने जो जवाब दिया है, वह बहुत कुछ सही मालूम होता है—यद्यपि ऐसा लगता है कि कमिश्नर के बार-बार कहने से अपनी घोषणा में वे ऐसा वाक्य जोड़ने के लिए राजी हो गये थे जिससे कि उसके रूप में थोड़ा परिवर्तन हो गया था। यह वाक्य उस मूल मसौदे में नही था जो इंगलैंड भेजा गया था और जिस पर लार्ड एलेनबरो का पत्र आधारित था।"

अवध के जमींदारों और ताल्लुकेदारों के विद्रोह में शामिल हो जाने से सम्बधित आचरण पर किस तरह से विचार किया जाय, इसके विषय में लार्ड कैनिंग की राय सर जेम्स आउट्रम तथा लार्ड एलेनबरो की राय से बहुत भिन्न नहीं मालूम देती। लार्ड कैनिंग का कहना है कि इन लोगों (जमींदारों और ताल्लुकेदारों) की स्थिति न केवल बागी सिपाहियों से बहुत भिन्न है, बल्कि उन विद्रोही जिलों के निवासियों की स्थिति से भी बिल्कुल जुदा है जिनमें ब्रिटिश शासन अपेक्षाकृत अधिक लम्बे अरसे से कायम था। वे मानते है कि जो काम जमींदारों और ताल्लुकेदारों ने किया है, वह उकसावे में आकर किया है और इसलिए उनके साथ व्यवहार करते समय उन्हें इस बात का खयाल रखना चाहिए; परन्तु, साथ ही साथ, इस बात पर भी वे जोर देते हैं कि यह बात भी उन्हें अच्छी तरह समझा दी जानी चाहिए कि ऐसा नहीं हो सकता कि वे विद्रोह करें और उसके गंभीर परिणाम को भुगतने से बच जायें। इस बात का पता जल्दी ही हमें चलेगा कि घोषणा के जारी किये जाने का क्या प्रभाव पड़ा है और उसके परिणामों के सम्बध में लार्ड कैनिंग की धारणा अधिक सही थी या सर जेम्स आउट्रम की।

कार्ल मार्क्स द्वारा २४ मई १८५८ को लिखा गया।

७ जून १८५८ के "न्यू-यौर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५३५४, में एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

फ्रेडरिक एंगेल्स

*भारत में विद्रोह

सिपाही विद्रोह के प्रधान केन्द्रो—पहले दिल्ली और फिर लखनऊ पर क्रमशः अधिकार करने के लिए अंग्रेजों ने जो व्यापक फौजी कार्रवाइया की, उस सबके बावजूद भारत में शान्ति स्थापित करने का कार्य पूरा होने से अभी भी बहुत दूर है। वास्तव में तो एक तरह से यह कहा जा सकता है कि असली कठिनाई अब शुरू हो रही है। जब तक विद्रोही सिपाही बडी-बड़ी टोलियो मे एक साथ थे, जब तक सवाल व्यापक पैमाने पर घेरा डालने और जमकर लडाइया लडने का था, तब तक अंग्रेजी फौजों का बहुत अधिक शक्तिशाली होना इस तरह की कार्रवाइयों में हर तरह से उनकी मदद करता था। परन्तु युद्ध अब जिस तरह का नया रूप लेता जा रहा है, उसमे अन्देशा है कि अंग्रेजी फौजों की यह लाभदायी स्थिति बहुत हद तक खत्म हो जायगी। लखनऊ पर कब्जा कर लेने का मतलब यह नहीं होता कि अवध ने घुटने टेक दिये है; और न ही अवध से अधीनता स्वीकार करा लेने का मतलब यह होता है कि भारत में शान्ति कायम हो जायगी। अवध के पूरे राज्य मे चारो तरफ छोटे-बड़े किले बने हुए हैं; और यद्यपि नियमित रूप से हमला किये जाने पर सभवतः उनमे से कोई भी बहुत दिनों तक मुकाबला नही कर सकेगा, तब भी एक के बाद एक इन किलो पर कब्जा करने का काम न सिर्फ अत्यन्त थकाने वाला होगा, बल्कि, अनुपातिक रूप मे, उसमे दिल्ली और लखनऊ जैसे बड़े नगरो के खिलाफ की गयी फौजी कार्रवाईयों की अपेक्षा नुकसान भी कही ज्यादा होगा।

किन्तु जीतने और उसमे शान्ति स्थापित करने की जरूरत केवल अवध राज मे ही नहीं है। लखनऊ से निकाले जाने के बाद हारे हुए सिपाही तमाम दिशाओं में बिखर गये हैं और भाग गये हैं। उनके एक भारी भाग ने उत्तर की ओर रुहेलखंड के पहाड़ी जिलों में शरण ली है। ये पर्वतीय जिले अब भी पूरे तौर से विद्रोहियों के कब्जे में है। दूसरे सिपाही पूरब की ओर, गोरखपुर भाग गये हैं। लखनऊ जाते समय ब्रिटिश फौजों ने इस जिले को यद्यपि कुचल दिया था, लेकिन अब उसे दोबारा विद्रोहियो के हाथ से छीनना आवश्यक हो

गया है। अन्य बहुत से सिपाही दक्षिण की ओर, बुंदेलखंड के अन्दर घुसने में सफल हो गये हैं।

असलियत यह है कि वहां एक प्रकार की यह बहस छिड़ गयी है कि फौजी कारंवाई का कौन सा तरीका सबसे अच्छा होता। क्या यह बेहतर नहीं होता कि लखनऊ में जमा विद्रोहियों के विरुद्ध फौजी कारंवाई शुरू करने से पहले उसके आसपास के उन तमाम जिलों को वश में कर लिया जाता जिनमें भागकर वे पनाह ले सकते थे ? कहा जाता है कि सेना लड़ाई की इसी योजना को पसन्द करती थी। लेकिन अंग्रेजों के पास सैनिकों की जो सीमित संख्या थी, उसके आधार पर यह बात समझ में नहीं आती कि वे चारों तरफ के जिलों को किस तरह से अपने अधिकार में ले पाते जिससे कि लखनऊ से अंतिम रूप में खदेड़े जाने पर भागे हुए सिपाहियों का उनके अन्दर घुसना मुमकिन नहीं होता और गोरखपुर जैसे स्थानों को फिर से जीतने की जरूरत उन्हें नहीं पड़ती।

मालूम होता है कि लखनऊ के पतन के बाद विद्रोहियों का मुख्य भाग बरेली की तरफ चला गया है। कहा जाता है कि नाना साहब वहीं थे। लखनऊ के उत्तर-पश्चिम में १०० मील से कुछ अधिक दूरी पर स्थित इस शहर और जिले के खिलाफ गर्मी में फौजी कारंवाई करना जरूरी समझा गया है। और सबसे ताजी खबरों से मालूम होता है कि स्वयं सर कॉलिन कैम्पबेल सेना के साथ वहां जा रहे हैं।

लेकिन, इसी बीच, विभिन्न दिशाओं में छापेमार युद्ध फैलता दिखाई दे रहा है। सेनाओं के उत्तर की ओर चले जाने पर, विद्रोही सिपाहियों की बिखरी हुई टुकड़िया गंगा पार करके दोआब में प्रवेश कर रही है। कलकत्ते के साथ संचार के साधनों को उन्होंने अस्तव्यस्त कर दिया है और अपनी लूट-खसोट के जरिए किसानों को वे ऐसी स्थिति में ढकेल दे रही हैं जिससे कि मालगुजारी चुका सकने में वे असमर्थ हो जायें, अथवा कम-से-कम ऐसा न करने का उन्हें बहाना मिल जाय।

बरेली पर कब्जा हो जाने के बाद भी इन मुसीबतों के कम होने के बजाय अन्देशा सम्भवतः इसी बात का है कि वे और बढ़ जायेंगी। सिपाहियों का फायदा इसी तरह की छिट-पुट लड़ाइयों में है। चलने में वे अंग्रेजी फौजों को लगभग उसी पैमाने पर पछाड़ सकते हैं जिस पैमाने पर अंग्रेज उन्हें लड़ने में हरा सकते हैं। अंग्रेजी सेना की टुकड़ी एक दिन में बीस मील भी नहीं चल सकती; पर सिपाहियों की टुकड़ी एक दिन में चालीस मील चल सकती है; और, अगर जोर लगाया जाय तो साठ मील तक भी। सिपाही सेनाओं का मुख्य फायदा उनकी गति की यह तीव्रता ही है; और इसी वजह से, तथा इस वजह से कि जलवायु का मुकाबला वे

कर सकती हैं और उन्हे खिलाना-पिलाना भी अपेक्षाकृत कही अधिक आसान होता है, भारत की युद्धात्मक कार्रवाइयों के लिए वे एकदम आवश्यक बन जाती हैं। सैनिक कार्रवाइयों मे, और खास तौर से गर्मियो के मौसम मे किये जाने वाले सैनिक अभियान में, अंग्रेजी सैनिको को भारी क्षति उठानी होती है। सैनिकों की कमी इस वक्त भी बहुत महसूस की जा रही है। भागते हुए विद्रोहियो का भारत के एक किनारे से दूसरे किनारे तक पीछा करने की जरूरत पड सकती है। इस काम के लिए अंग्रेजी फौजें मुश्किल से ही उपयोगी होगी। साथ ही साथ यह भी खतरा है कि बम्बई और मद्रास की देशी रेजीमेन्टो के साथ, जो अभी तक वफादार बनी रही हैं, इधर-उधर घूमते विद्रोहियो का सम्पर्क हो जाने से कही नये विद्रोह न फूट पडें।

बागियों की संख्या मे यदि और इजाफा न भी हो, तब भी इस वक्त डेढ लाख से कम हथियारबंद सिपाही मैदान मे नहीं है, और हथियार-विहीन जनता अंग्रेजो को न तो सहायता देती है और न सूचना।

इसी बीच, बारिश की कमी की वजह से, बंगाल मे अकाल का खतरा पैदा हो रहा है। पुराने जमाने मे और अंग्रेजो के अधिकार होने के बाद भी, इसकी वजह से लोगों को भयंकर कष्ट हुए हैं—परन्तु इस शताब्दी मे अभी तक यह विपत्ति नही आयी थी।

फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा मई १८५८ के अन्त मे लिखा गया।

१५ जून, १८५८ के "न्यू-यौर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५३५१ में, एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

फ्रेडरिक एंगेल्स

*भारत में ब्रिटिश सेना

चित्र-विचित्र के प्रति अपने मोह के कारण, हमारे अदूर-दर्शी दोस्त, लदन टाइम्स के मि. विलियम रसेल लखनऊ की लूट-खसोट का वर्णन करने के लिए हाल में दोबारा प्रेरित हो गये हैं। जिस हद तक उसका हाल उन्होंने बता दिया है, उसे दूसरे लोग अंग्रेजों के चरित्र के लिए बहुत प्रशंसनीय नहीं समझेंगे। अब मालूम होता है कि दिल्ली को भी खूब अच्छी तरह से "लूटा गया" था, और अंग्रेज सिपाहियों को, उनकी पहले की तकलीफों और बहादुराना कोशिशों के एवज में, कैसरबाग के अलावा आम लखनऊ शहर ने भी ढेर सारा इनाम दिया था! हम मि. रसेल की ही बात उद्धृत करते हैं :

"ऐसी भी कम्पनियां हैं जो इस बात पर गुमान कर सकती हैं कि उनके अन्दर ऐसे रंगरूट मौजूद हैं जिनके पास हजारों पौण्ड की दौलत है। मैंने सुना है कि एक आदमी था जिसने अत्यंत इतमीनान से अपने एक अफसर से कहा था कि 'कैप्टेन को खरीदने के लिए उन्हें जितनी भी रकम की जरूरत हो,' उसे वह उनसे उधार ले सकता है। दूसरों ने अपने दोस्तों के पास भारी रकमें भेजी हैं। इस पत्र के इंगलैंड पहुंचने से पहले ही अनेक हीरे, पुखराज और ललित मोती कैसरबाग के ऊपर हमले तथा उसकी लूट-खसोट की इस कहानी को अत्यंत खामोशी और सुखकर ढंग से बता चुके होंगे। यह अच्छी ही बात है कि उनको सुकोमल गोरांगी पहनने वालियों ने... यह नहीं देखा कि इन चमचमाते हुए तुच्छ अलंकारों को कैसे प्राप्त किया गया था, अथवा वे दृश्य कैसे थे जिनमें दूसरों के खजानों को जबर्दस्ती हथिया लिया गया था... इन अफसरों में से कुछ ने, अक्षरशः, अपने भाग्य बना लिये हैं... फटी हुई वर्दी की पेटियों में कुछ ऐसी छोटी-छोटी डिबिया हैं जिनमें स्कॉटलैण्ड और आयरलैंड की जागीरें, तथा दुनिया की हर शिकारगाह अथवा मालमन मछली के क्षेत्र में मछली मारने और शिकार करने के सुखकर विश्रामगृह बन्द हैं।"

लखनऊ की फतह के बाद से ब्रिटिश सेना निष्क्रिय क्यों हो गयी है, इसका जवाब भी फिर इसी बात से मिल जाता है। लूट-खसोट का वह पखवारा खूब

अच्छी तरह गुजरा था। गरीब और कर्ज से लदे अफसर और सिपाही नगर मे गये और अचानक एकदम रईस होकर वापस आ गये। अब वे पहले वाले आदमी नही रह गये थे; इसके बाद भी उम्मीद की जाती थी कि वे फिर से अपने पुराने फौजी काम पर लौट जायेंगे फिर उसी तरह विनीत रहेंगे, चुपचाप आज्ञा पालन करेंगे, थकान, मुसीबतों और लड़ाइयो का सामना करेंगे। लेकिन यह हो नही सकता। सेना जो लूट-पाट के लिए बेलगाम छोड़ दी गयी थी, हमेशा के लिए बदल गयी है; आदेश का कोई भी शब्द, जनरल की कैसी भी प्रतिष्ठा, उसे अब फिर वही नही बना सकती जो किसी समय वह थी। फिर मि. रसेल को ही सुनिए :

> "इसे देख कर आश्चर्य होता है कि धन किस तरह बीमारी पैदा कर देता है; लूट से इन्सान का गुर्दा किस तरह खराब हो जाता है, और कार्बन (कोयले) के चन्द स्फटिको (हीरों—अनु.) की वजह से आदमी के परिवार मे, उसके प्रियजनो के बीच कैसी भयानक बर्बादी हो जा सकती है...साधारण सिपाही की कमर में बधी, रुपयो और सोने की मोहरो से भरी हुई पट्टी का वजन उसे इस बात का आश्वासन दिलाता है कि (देश मे आरामदेह और आजाद जिन्दगी बिताने का) उसका सपना पूरा हो सकता है। फिर इसमें क्या आश्चर्य यदि अब परेड की 'फॉल इन, फिर फॉल इन!' से उसे चिढ़ पैदा होती है!... दो लड़ाइयों, लूट के रुपयों के दो हिस्सों, दो शहरों की लूट-पाट, और रास्ते चलते की अनेक चोरियों ने हमारे सिपाहियों को इतना अधिक धनी बना दिया है कि अब वे सिपाही का काम आसानी से कर नहीं सकते!"

यही कारण है कि हम सुनते है कि १५० से अधिक अफसरों ने सर कॉलिन कैम्पबेल के पास अपने त्यागपत्र भेज दिये हैं। दुश्मन के सामने खड़ी सेना के अन्दर इस तरह की चीज का होना बहुत ही अनोखी बात है। किसी भी दूसरी सेना मे यदि ऐसा हुआ होता तो चौबीस घटे के अन्दर कोर्ट-मॉर्शल करके ऐसे लोगों को निकाल बाहर किया जाता और अन्य प्रकार से भी सख्त से सख्त सजा उन्हे दी जाती। किन्तु, हमारा खयाल है कि ब्रिटिश सेना मे "एक ऐसे अफसर और भद्र पुरुष के लिए" जिसने अचानक खूब दौलत जमा कर ली है, इस तरह का काम करना ही बहुत उचित समझा जाता है। जहां तक साधारण सिपाहियो का सवाल है, उनकी स्थिति दूसरी है। लूट से और अधिक की ख्वाहिश पैदा होती है; इसे पूरा करने के लिए अगर और भारतीय खजाना न मिले, तो ब्रिटिश सरकार के खजानो को ही क्यो न लूट लिया जाय? तदनुसार, मि. रसेल बताते हैं :

"एक योरोपियन पहरेदार की निगरानी में जानेवाली खजाने की दो गाड़िया सदेह-जनक ढग से उलट गयी हैं, और उनमें से कुछ रुपये भी गायब हो गये है। और, खजाने को ले जाने के नाजुक काम के लिए खजांची लोग हिन्दुस्तानियों को भेजना अधिक पसन्द करते हैं।"

बहुत खूब ! योद्धा के उस अनुपम आदर्श, ब्रिटिश सिपाही के मुकाबले में हिन्दू या सिख सिपाही अधिक अनुशासित होता है, कम चोरी करता है, कम लूट-मार मचाता है ! परन्तु अभी तक हमने अंग्रेज को केवल अकेले ही काम करते देखा है। अब ब्रिटिश सेना की सामूहिक "लूट" के काम पर भी हम एक नजर डालें :

"लूट की दौलत हर दिन बढ़ती जाती है, और, अनुमान है कि, उसकी बिक्री से ६,००,००० पौण्ड प्राप्त होंगे। कहा जाता है कि कानपुर का शहर लखनऊ की लूट से पट गया है। और अगर सार्वजनिक इमारतों को जो नुकसान पहुचा है, निजी सम्पत्ति की जो बर्बादी हुई है, मकानों और जमीन के मूल्य में जो ह्रास हुआ है और जो आम वीरानगी फैल गयी है, उन सबका मूल्यांकन किया जा सके, तो पता चलेगा कि अवध की राजधानी को ५० या ६० लाख पौण्ड स्टर्लिंग की क्षति पहुंची है।"

चगेज खा और तैमूर के कालमुक (मंगोलियाई) खानाबदोश गिरोह जब किसी शहर पर धावा करते थे, तो उस पर एक टिड्डी दल की तरह टूट पड़ते थे और जो कुछ भी उनके सामने पड़ जाता था, उसे वे सफाचट कर देते थे; लेकिन इन ईसाई, सभ्य, बहादुर और कुलीन ब्रिटिश सैनिकों की तुलना में किसी भी देश को वे दैवी आशीर्वाद के समान लगते होंगे ! आने के बाद, कम से कम, जल्द ही वे अपने मनमाने मार्ग पर फिर आगे बढ़ जाते थे; परन्तु कायदे से काम करने वाले ये अंग्रेज अपने साथ लूट के उन दलालों को भी लाते हैं, जो लूट को एक व्यवस्था का रूप दे देते हैं, जो लूट के मालों को रजिस्टर में दर्ज करते हैं, नीलाम के द्वारा उन्हें बेचते हैं, और इस बात का भी खूब ध्यान रखते हैं कि अंग्रेजों का यह पराक्रम कहीं पदवी से अपुरस्कृत न रह जाय। गर्मी का मौसम आ गया है। इसमें सैनिक अभियान करने से जो थकावट आयगी, उसका सामना करने के लिए अधिकतम कठोर अनुशासन की आवश्यकता होगी। ऐसे समय मे यह सेना, खूब खुलकर की गयी लूट-खसोट के प्रभाव से जिसका अनुशासन ढीला पड़ चुका है, कैसे करतब दिखाती है, इसे हम उत्सुकतापूर्वक देखेंगे।

परन्तु, नियमित (आमने-सामने के— अनु.) युद्ध के लिए हिन्दू (हिन्दुस्तानी) अब उतनी भी अच्छी स्थिति में नहीं होंगे जितनी कि वे लखनऊ में थे। किन्तु

मुख्य प्रश्न अब यह नहीं है। इससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण अब यह जानना होगा कि प्रतिरोध का दिखावा करने के बाद यदि विद्रोही फिर रण-स्थली को बदल देते हैं, उदाहरण के लिए, यदि वे लड़ाई को राजपूताना में, जो अभी तक अपराजित है, शुरू कर देते है —तब क्या होगा ? सर कॉलिन कैम्पबेल के लिए जरूरी है कि वह हर जगह गैरीसन रखें; उनकी फील्ड सेना लखनऊ में जितनी थी उसकी आधी से भी कम हो गयी है। अगर उन्हें रुहेलखण्ड पर कब्जा करना है तो लड़ाई के लिए उनके पास कितनी सेना रह जाती है? गर्मी का मौसम आ गया है; जून की वर्षा ने सक्रिय सैनिक कार्रवाइयों को बन्द करा दिया होगा और इससे विप्लवकारियों को भी सांस लेने का अवसर मिल गया होगा। अप्रैल के मध्य के बाद से, जब से कि मौसम अत्यन्त कष्टदायक हो जाता है,

जायगा जो उस पर मंडरा रहा है, और इस प्रकार, उसके जो सैनिक खाली हो जायेंगे उनकी मदद से संभवतः कुछ हद तक लड़ाई के लिए अपनी सैन्य-शक्ति को वह गठित कर ले सकेगा। परन्तु इसमें बहुत सन्देह है कि अवध की सफाई करने के अलावा और कोई काम वह कर सकेगा।

इस तरह, आज तक कभी भी भारत के किसी एक बिन्दु पर इंगलैंड ने जो सबसे मजबूत सेना जमा की थी, वह तमाम दिशाओं में फिर तितर-बितर हो गयी है। उसके सामने जितना काम आ गया है, वह जो कुछ आसानी से कर सकती है उससे अधिक है। गर्मी और वर्षा के दिनों में जलवायु के कारण होनेवाली क्षति भयकर होगी; और, नैतिक रूप में हिन्दुस्तानियों की अपेक्षा योरोपियन चाहे जितने ऊंचे हों, परन्तु यह जरा भी कोई नही कह सकता कि भारतीय ग्रीष्म ऋतु की गर्मी और वर्षा का सामना करने में हिन्दुस्तानियों की जो शारीरिक श्रेष्ठता है वह अंग्रेजी फौजों के विनाश का फिर साधन न बन जायेगी। इस समय बहुत कम अंग्रेज सैनिक भारत भेजे जा रहे हैं, और जुलाई-अगस्त से पहले अधिक सैन्य-सहायता वहां भेजने की कोई योजना भी नहीं है। इसलिए अक्तूबर और नवम्बर तक अपनी स्थिति को बचाये रखने के लिए कैम्पबेल के पास केवल यही एक सेना है—यद्यपि वह भी तेजी से छिन्न-भिन्न होती जा रही है। इसी बीच यदि राजपूताना और मराठों के देश को विद्रोह करने के लिए राजी करने में विप्लवी हिन्दू (हिन्दुस्तानी) सफल हो गये, तब क्या होगा? सिखों की संख्या ब्रिटिश सेना में ८०,००० है और जितनी जीतें हुई हैं उनका सारा श्रेय वे स्वयं लेते हैं; साथ ही उनका मिजाज भी अंग्रेजों के बहुत माफिक नहीं है—अगर वे बगावत में उठ खड़े हों, तब क्या होगा?

कुल मिलाकर, लगता है कि भारत में अंग्रेजों को जाड़ों में कम-से-कम एक और लड़ाई लड़नी पड़ेगी, और यह काम तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक कि इंगलैंड से एक और सेना वहां न भेजी जाय।

फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा ४ जून, १८५८ के आस-पास लिखा गया।

२९ जून, १८५८ के "न्यू-यॉर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५३६१, में एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

कार्ल मार्क्स

*भारत में कर

लंदन की पत्रिकाओं के अनुसार, भारतीय हिस्सों और रेल के ऋण-पत्रों (Securities) की कीमतों मे वहां के बाजार में हाल मे गिरावट आयी है। भारत के छापेमार युद्ध की स्थिति के सम्बंध में जॉन बुल जो पक्की आशावादिता प्रदर्शित करना पसंद करता है, उससे यह स्थिति बहुत दूर है। इससे तो जाहिर यह होता है कि भारत के वित्तीय साधनों की मूल्य-सापेक्षिता के सम्बंध में लोगो के अन्दर जबर्दस्त अविश्वास पैदा हो गया है। भारत के वित्तीय साधनों के सम्बंध में दो विरोधी विचार पेश किये जाते हैं। एक ओर तो यह कहा जाता है कि भारत में लगाये जानेवाले कर दुनिया के किसी भी दूसरे देश की तुलना मे अधिक दुःसह और कष्टदायी है; अधिकांश प्रेसीडेन्सियों (प्रांतों) मे, और उन प्रेसीडेन्सियों में सबसे अधिक जो सबसे अधिक दिनों से अंग्रेजी शासन के नीचे हैं, काश्तकार, अर्थात्, भारत की जनता का विशाल भाग आम तौर से भयंकर दरिद्रता और निराशा के गर्त में डूबा हुआ है; फलस्वरूप, भारतीय आमदनी के साधनों को अंतिम सीमा तक दुह लिया गया है और अब भारत की वित्तीय अवस्था मे कोई सुधार नही हो सकता। ऐसे समय में जब कि मि. ग्लैडस्टन के अनुसार अगले कुछ वर्षों तक भारत मे होनेवाले केवल असामान्य खर्च की वार्षिक मात्रा लगभग दो करोड पौण्ड स्टर्लिंग होगी, यह मत बहुत सुखकर नही है। दूसरी ओर, यह कहा जाता है—और इस कथन की पुष्टि मे आंकडो के ढेर के ढेर के पेश किये जाते है—कि भारत दुनिया का वह देश है जिसमे सबसे कम कर लगाया गया है; खर्चा अगर बढ़ता ही जाता है तो आमदनी को भी बढ़ाया जा सकता है; और, यह सोचना नितान्त भ्रान्तिपूर्ण है कि भारतीय जनता और नये करों का बोझ बर्दाश्त नही कर सकेगी। मि. ब्राइट को "असुखकर" बात वाले सिद्धांत का सबसे श्रम-साध्य और प्रभावशाली प्रतिनिधि माना जा सकता है; भारत सरकार के नये बिल" के दूसरे पाठ के समय उन्होंने निम्न वक्तव्य दिया था :

"भारत की जनता से जितना रुपया वसूल करना संभव था, उससे कहीं अधिक रुपया भारत सरकार को भारत का शासन चलाने में खर्च

करना पड़ा है—यद्यपि न तो इस सम्बंध में ही सरकार ने कोई दयाशीलता दिखाई है कि कौन से टैक्स (कर) लगाये जायें, न इस बात में ही कि वे किस तरह लगाये जायें। भारत का शासन चलाने में ३,००,०,००० पौण्ड से अधिक खर्चा होता था, क्योंकि यही उसकी कुल आमदनी थी। परंतु इसके बाद भी हमेशा ही रुपये की कमी रहती थी जिसे सूद की ऊंची दरों पर कर्ज लेकर पूरा करना होता था। भारतीय ऋण की मात्रा इस समय ६,००,००,००० पौण्ड है और वह बढ़ती ही जा रही है। दूसरी तरफ सरकार की साख गिरती जा रही है। इसकी एक वजह तो यह है कि एक-दो अवसरों पर अपने ऋणदाताओं के साथ उसने बहुत ईमानदारी से व्यवहार नहीं किया है, और, दूसरी वजह अब वे मुसीबतें हैं जो भारत में हाल में पड़ी हैं। उन्होंने कुल आमदनी का जिक्र किया था; किन्तु चूंकि इसमें अफीम की वह आमदनी भी शामिल थी, जिसे भारत की जनता के ऊपर लगाये गये टैक्स की संज्ञा नहीं दी जा सकती, इसलिए जो टैक्स वास्तव में उसके सर पर लदा हुआ है, उसकी मात्रा को वे २,५०,००,००० पौण्ड मान लेंगे। इस ढाई करोड़ पौण्ड की तुलना उस छः करोड़ पौण्ड की रकम से नहीं की जानी चाहिए जो इस देश में उठायी गयी थी। कामन्स सभा को याद रखना चाहिए कि भारत में १२ दिन के श्रम को सोने या चांदी की उतनी ही मात्रा में खरीदा जा सकता है जितनी कि इंगलैंड में केवल एक दिन के श्रम के एवज में प्राप्त की जा सकती है। भारत में इस २,५०,००,००० पौण्ड से उतना ही श्रम खरीदा जा सकता है जितना इंगलैंड में ३०,००,००,००० पौण्ड खर्च करने पर मिल सकेगा। उनसे पूछा जा सकता है कि एक भारतीय के श्रम का मूल्य कितना है? जो भी हो, अगर एक भारतीय के श्रम का मूल्य केवल २ पेंस प्रति दिन है, तो यह भी साफ है कि हम यह आशा नहीं कर सकते कि वह उतना टैक्स दे जितना कि वह तब दे सकता जब उसके श्रम का मूल्य २ शिलिंग प्रति दिन होता। ग्रेट ब्रिटेन और आयरलैंड की आबादी ३ करोड़ है; भारत में रहने वालों की संख्या १५ करोड़ है। यहां पर हमने ६ करोड़ पौंड स्टर्लिंग टैक्स में जमा किये हैं, भारत में, वहां की जनता के दैनिक श्रम के आधार पर हिसाब लगाकर, हमने ३० करोड़ पौंड की आय जमा की है, मानो अपने देश में जितनी इकट्ठा की थी उससे पांच-गुनी अधिक आय। इस बात को देखते हुए कि भारत की आबादी ब्रिटिश साम्राज्य की आबादी से पांच-गुनी अधिक है, क्या कोई व्यक्ति यह कह सकता है कि भारत और इंगलैंड में फी आदमी जो टैक्स लगाया जाता है वह लगभग बराबर है और इसलिए कोई खास बड़ी तकलीफ भारत की जनता को नहीं दी जा रही है। परन्तु इंगलैंड

में मशीनों और भाप की, आवागमन के साधनों की तथा उस हर चीज की अकूत शक्ति मौजूद है जिसकी किसी देश के उद्योग-धंधों के लिए पूंजी तथा मानव की आविष्करण-शक्ति सृष्टि कर सकती है। भारत मे ऐसी कोई चीज नहीं है। सारे भारत में एक अच्छी सड़क भी मुश्किल से ही मिलेगी।"

यह तो अब मान ही लिया जाना चाहिए कि भारतीय करों की ब्रिटिश करों के साथ तुलना करने के इस तरीके में कहीं कोई गलती है। एक तरफ तो भारतीय आबादी है, जो ब्रिटेन की आबादी से पाच-गुनी अधिक है; और, दूसरी तरफ, भारतीय करों की रकम है जो ब्रिटेन के करों के आधे के बराबर है। परन्तु, मि. ब्राइट बताते है कि भारतीय श्रम का मूल्य ब्रिटिश श्रम के मूल्य के लगभग केवल १२ वें भाग के बराबर है। इसलिए भारत में जमा किये गये ३ करोड़ पौंड के कर ग्रेट ब्रिटेन के ६ करोड़ पौंड के करों के बराबर नही, बल्कि वास्तव में वहा के ३० करोड़ पौंड के बराबर होगे। तब फिर उन्हें किस नतीजे पर पहुचना चाहिए था ? इस पर कि यदि भारत की जनता की अपेक्षाकृत गरीबी को ध्यान में रखा जाय तो हम देखते हैं कि अपनी जन-संख्या के अनुपात मे, वह भी उतना ही कर देती है जितना ग्रेट ब्रिटेन की जनता देती है; और १५ करोड़ भारतीयों के ऊपर ३ करोड पौड का भार उतना ही अधिक पड़ना है जितना कि ६ करोड पौंड का ब्रिटेन के ३ करोड निवासियों पर। उनके द्वारा इस बात के मान लिये जाने के बाद फिर यह कहना निश्चित रूप से गलत है कि एक गरीब कौम उतना नही दे सकती जितना एक सम्पन्न कौम दे सकती है, क्योकि यह बात कहते समय कि एक भारतीय भी उतना ही कर देता है जितना कि एक ब्रिटिश निवासी, भारतीय जनता की अपेक्षाकृत गरीबी का पहले ही खयाल कर लिया गया है। वास्तव मे, एक दूसरा प्रश्न उठाया जा सकता है। पूछा जा सकता है कि एक आदमी, जो मान लीजिए कि १२ सेंट प्रति दिन कमाता है, सचमुच क्या उतनी ही आसानी से एक सेंट दे सकता है जितनी आसानी से कि दूसरा वह व्यक्ति एक डालर दे सकता है जो १२ डालर प्रति दिन कमाता है ? सापेक्ष रूप से दोनों ही अपनी आमदनी का एक ही भाग देंगे, किन्तु यह कर उनकी आवश्यकताओ के ऊपर बिल्कुल ही भिन्न अनुपात मे असर डाल सकता है। फिर भी, मि. ब्राइट ने प्रश्न को इस ढंग से अभी तक पेश नही किया है। अगर उन्होंने ऐसा किया होता तो, सम्भवतः, भारत और ब्रिटेन के करदाताओं की तुलना करने की अपेक्षा ब्रिटेन के मजदूर और वहां के पूजी पति द्वारा उठाये जानेवाले कर के बोझ की तुलना करना अधिक सही मालूम होता। इसके अलावा, वह स्वयं स्वीकार करते हैं कि ३ करोड़ पौड के भारतीय करों में से अफीम की आमदनी के ५० लाख पौंड घटा दिये जाने चाहिएं, क्योंकि वास्तव मे, वह भारतीय

जनता के ऊपर लगाया गया कोई टैक्स नहीं है, बल्कि चीनियों की खपत के ऊपर लगाया जानेवाला निर्यात-कर है। फिर, भारत में अंग्रेजी प्रशासन के हिमायतियों द्वारा हमें इस बात की दोबारा याद दिलाई जाती है कि आमदनी का १,६०,००,००० पौंड मालगुजारी, या लगान के द्वारा प्राप्त होता है। सर्वोच्च भू-स्वामी के रूप में यह आय अनादि काल से राज्य की होती रही है। किसान की निजी आमदनी का भाग वह कभी नहीं रही है; और, जिसे कर व्यवस्था कहा जाता है, उसमें वह उसी तरह नहीं जोड़ी जा सकती जिस तरह कि ब्रिटेन के किसानों द्वारा ब्रिटेन के अमीर-उमरा को दिया जानेवाला लगान ब्रिटेन की कर व्यवस्था में नहीं शामिल होता। इस दृष्टिकोण के अनुसार, भारतीय करों की स्थिति इस प्रकार है :

कुल औसत रकम जो जमा की जाती है	...	३,००,००,००० पौण्ड
अफीम की मद से हुई आमदनी घटा दीजिए	...	५०,००,००० पौण्ड
मालगुजारी की आय घटा दीजिए	...	१,६०,००,००० पौण्ड
असली कर	...	९०,००,००० पौण्ड

यह मानना पड़ेगा कि इस ९०,००,००० पौण्ड में भी डाक-खाने, स्टैम्प ड्यूटी (टिकट-कर) और कस्टम ड्यूटी (चुंगी या सीमा-कर) जैसी कुछ महत्वपूर्ण मदें हैं जिनका आम जनता पर बहुत ही कम अनुपात में भार पड़ता है। मि. हैंड्रिक्स ने हाल ही में भारत के वित्त साधनों के सम्बंध में एक निबंध लिखकर ब्रिटेन की सांख्यिकीय सभा (ब्रिटिश स्टैटिस्टीकल सोसायटी) के सामने पेश किया था। संसदीय तथा अन्य सरकारी दस्तावेजों के आधार पर इसमें उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि भारत की जनता जो कुल राजस्व देती है, उसमें पांचवें भाग से अधिक ऐसा नहीं है जो इस समय कर लगाकर, अर्थात् जनता की वास्तविक आय में से, वसूल किया जाता हो। बंगाल में कुल राजस्व का केवल २७ प्रतिशत, पंजाब में केवल २३ प्रतिशत, मद्रास में केवल २१ प्रतिशत, उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में केवल १७ प्रतिशत, और बम्बई में केवल १६ प्रतिशत वास्तविक करों से प्राप्त होता है।

१८५५-५६ के वर्षों में भारत और ग्रेट ब्रिटेन के प्रत्येक निवासी से औसतन कितना कर प्राप्त हुआ था, इसकी निम्न तुलनात्मक तालिका मि. हैंड्रिक्स के ही वक्तव्य से ली गयी है :

बंगाल, प्रति व्यक्ति,	राजस्व	५० पौण्ड	वास्तविक कराधान		०.१.४ पौण्ड
उत्तर-पश्चिमी प्रान्त	...	३५ „	„	„	०.०.७ „
मद्रास	...	४७ „	„	„	०.१.० „
बम्बई	...	८३ „	„	„	०.१.४ „
पंजाब	...	३३ „	„	„	०.०.९ „
युना. किंगडम (ब्रिटेन)	...	—	„	„	१.१०.० „

एक अन्य वर्ष में प्रत्येक व्यक्ति ने राष्ट्रीय राजस्व में औसतन कितना दिया, इसका निम्न अनुमान जनरल ब्रिग्स ने तैयार किया है :

इंगलैण्ड में	१८५२	...	१.१९.४ पौण्ड
फ्रांस में	...	...	१.१२.० ,,
प्रशा में	...	...	० १९.३ ,,
भारत में	१८५४	...	०.३.८½ ,,

इन वक्तव्यों से ब्रिटिश प्रशासन के हिमायती यह निष्कर्ष निकालते हैं कि योरप में एक भी देश ऐसा नहीं है जिसमें जनता के ऊपर, भारत की तुलनात्मक गरीबी का ध्यान रखते हुए भी, यह कहा जा सके कि भारत के बराबर कम कर लगाया जाता हो। इस प्रकार, मालूम होता है कि न केवल भारतीय कर व्यवस्था के सम्बंध मे लोगों के विचार परस्पर-विरोधी हैं, बल्कि स्वयं वे तथ्य भी परस्पर-विरोधी हैं जिनके आधार पर ये मत बनाये गये हैं। एक ओर तो हमे स्वीकार करना चाहिए कि भारत मे नाममात्र का जो कर लगाया जाता है, उसकी मात्रा अपेक्षाकृत छोटी है, किन्तु, दूसरी ओर, संसदीय लेख्यों (दस्तावेजो) से, तथा भारतीय समस्याओ के बड़े से बड़े अधिकृत विद्वानों की रचनाओ से इस बात के ढेरों प्रमाण हम प्रस्तुत कर सकते है कि हल्के लगने वाले ये कर भी भारतीय जन-समुदाय को मिट्टी में मिलाये दे रहे हैं, तथा उनको भी वसूल करने के लिए शारीरिक यंत्रणाएं देने जैसे जघन्य कुकृत्यों का सहारा लेना पड़ता है। परन्तु इस बात को प्रमाणित करने के लिए क्या इसके अतिरिक्त भी किसी सबूत की आवश्यकता है कि भारतीय ऋण निरन्तर और तेजी से बढता गया है तथा भारतीय घाटे मे भी वृद्धि होती गयी है। निश्चय ही यह तो कोई नहीं कहेगा कि भारत सरकार कर्जों और घाटे को बढ़ाती जाती है, क्योंकि जनता के साधनों पर सख्ती से हाथ [illegible] संकोच होता है। वह कर्जा ले रही है, क्योंकि काम चलाने का दूसरा कोई रास्ता उसे नही दिखता। १८०५ में भारतीय ऋण की मात्रा [illegible] पौण्ड थी; जो १८२९ मे बढ़कर ३,४०,००,००० पौण्ड हो गयी; [illegible] पौण्ड; और इस समय वह लगभग ६,००,००,[illegible] पौण्ड है। यहां हम उस ऋण को नही ले रहे है जिसे ईस्ट इंडिया [illegible] में लिया है और जिसे भरने की जिम्मेदारी कम्पनी की [illegible] पर है।

वार्षिक घाटा जो १८०५ में [illegible] लाख पौण्ड होता [illegible] डलहौजी के प्रशासन काल में औसतन [illegible] लाख पौण्ड होने लगा [illegible] सिविल सर्विस के मि. जॉर्ज [illegible], जो अंग्रेजों के [illegible] के कट्टर पक्षपाती थे, १८५२ में यह [illegible], बाध्य होना [illegible]

"यद्यपि इतनी पूर्ण बुलन्दी, भारत के ऊपर ऐसा निर्विघ्न, सर्वव्यापी और अविवाद्य अधिकार जैसा हमने प्राप्त कर लिया है, किसी भी प्राच्य विजेताओं ने कभी प्राप्त नही किया था; फिर भी उन सबने देश की आय से अपने को समृद्ध बना लिया था; और, कइयों ने तो अपनी समृद्धि की प्रचुरता में से काफी धनराशि सार्वजनिक कल्याण की योजनाओं पर खर्च की थी...हम ऐसा नही कर सकते...पूरे भार की मात्रा मे (अंग्रेजी शासन के नीचे) किसी भी प्रकार की कमी नही हुई है, फिर भी हमारे पास कोई अतिरिक्त धन नहीं है।"

कर व्यवस्था के भार का अनुमान लगाते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि कही ऐसा न हो कि उसकी नाममात्र की मात्रा को उसको वसूलने की प्रणाली तथा उसका उपयोग करने के ढंग से भी भारी मान लिया जाय। भारत में कर वसूलने की प्रणाली घृणित है, और, उदाहरण के लिए, कर की मालगुजारी जैसी शाखा मे जितना प्राप्त होता है, उससे संभवतः अधिक अपव्यय हो जाता है। जहां तक करो के उपयोग का प्रश्न है, तो इतना ही कहना काफी होगा कि सार्वजनिक उपयोग के निर्माण-कार्यों पर खर्च के रूप मे उनका कोई भी अंश जनता को वापिस नहीं दिया जाता, जब कि अन्य किसी भी स्थान की अपेक्षा एशियाई देशों में ये निर्माण-कार्य अधिक आवश्यक है। और, जैसा कि मि. ब्राइट ने सही ही कहा है, स्वय शासक वर्ग के ऊपर खर्च के लिए कही भी इतनी अमर्यादित व्यवस्था नहीं की जाती जितनी कि भारत मे।

कार्ल मार्क्स द्वारा २९ जून, १८५८ को लिखा गया।

२३ जुलाई, १८५८ के "न्यू यौर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५३८३, में एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

चलता। जिन स्थानों से ब्रिटिश कमांडर काम कर रहे हैं, वे अनिवार्यतः अस्पष्टता के आवरण मे छिपे हुए हैं; इसकी वजह से उनकी सैनिक कार्रवाइया बहुत हद तक आलोचना से बच जाती है। फिर जीत या हार ही एकमात्र कसौटी रह जाती है और यह कसौटी बहुत ही छलपूर्ण होती है।

देशियों की गतिविधियों के सम्बंध में यह अनिश्चितता भी अत्यधिक है। लखनऊ पर कब्जा हो जाने के बाद, चारो तरफ अस्तव्यस्त रूप मे वे पीछे हट गये थे। कुछ दक्षिण-पूर्व की ओर चले गये थे, कुछ उत्तर-पूर्व की ओर, कुछ उत्तर पश्चिम की ओर। उत्तर-पश्चिम की ओर जाने वाला दल ही मजबूत दल था; इसलिए उनके पीछे-पीछे कैम्पवेल भी रुहेलखंड की तरफ चला गया। चारों तरफ से वे बरैली मे जमा हुए थे और वहीं पर उन्होंने अपने को पुनर्संगठित किया था। परन्तु जब अंग्रेज वहां आ गये, तो बिना प्रतिरोध के ही उस स्थान को उन्होंने छोड़ दिया और फिर विभिन्न दिशाओं मे पीछे हट गये। जिन विभिन्न दिशाओं मे वे पीछे हटे हैं, उनकी जानकारी अप्राप्त है। हम केवल इतना ही जानते हैं कि उनका एक भाग नेपाल के सीमान्त की पहाड़ियों की तरफ चला गया था, और मालूम होता है कि उनकी एक या इससे अधिक टुकड़िया इसकी उल्टी दिशा में, गंगा और दोआब (गंगा और जमुना के बीच के प्रदेश) की ओर कूच कर गयी थीं। परन्तु, कैम्पवेल ने बरैली पर कब्जा किया ही था कि ये विद्रोही, जो पूर्वी दिशा में पीछे हट गये थे, आगे बढकर अवध की सीमा पर कुछ दूसरे दलों के साथ मिल गये और फिर शाहजहांपुर के ऊपर, जहा एक छोटा-सा ब्रिटिश गैरीसन तैनात था, वे टूट पड़े। विद्रोहियों के और दल भी तेजी से इसी दिशा मे बढते आ रहे थे। परन्तु गैरीसन के सौभाग्य से, ११ मई को ही ब्रिगेडियर जोन्स सैनिक सहायता लेकर वहां पहुंच गया और उसने हिन्दुस्तानियों को हरा दिया। पर शाहजहांपुर मे चारों तरफ से घिरते आते सैन्य दलो से देशियों का भी बल बढ गया और १५ तारीख को उन्होने फिर शहर को घेर लिया। इसी दिन, बरैली में एक गैरीसन को छोड़ कर, कैम्पवेल शाहजहांपुर की सहायता के लिए निकल पडा। लेकिन २४ मई से पहले उन पर हमला करके वह उनको पीछे न खदेड़ सका। इस युद्ध-व्यूह में विद्रोहियों के जिन दलों ने भाग लिया था, वे फिर विभिन्न दिशाओं में बिखर गये।

जिस समय रुहेलखंड के सीमान्तों पर कैम्पवेल इस प्रकार उलझा था, उसी समय जनरल होपग्रैन्ट अपने सैनिकों को अवध के दक्षिण मे आगे-पीछे मार्च करा रहा था। भारतीय गर्मी की कड़ी धूप मे थकान की वजह से स्वयं उसकी सैन्यशक्ति को नुकसान पहुंचने के अलावा उसकी इस कार्रवाई का कोई परिणाम नही निकल रहा था। विप्लवकारियों की अत्यत चपल गति

था वह मुकाबला नही कर पा रहा था। जहां वह उन्हे ढूंढता होता, उसके अलावा वे हर जगह होते थे ! जब वह यह सोचता था कि वे सामने मिलेंगे, तब बहुत पहले ही से वे उसके पिछाये में पहुच चुके होते थे। गंगा के और नीचे के भाग में, दानापुर, जगदीशपुर और बक्सर के बीच के जिले में जनरल लुगर्ड इसी तरह की एक छाया का पीछा करने में व्यस्त था। देशी लोग निरन्तर उससे चलते रहने के लिए मजबूर किये रहते थे। जगदीशपुर से काफी दूर उसे खींच ले आने के बाद वे उस स्थान के गैरीसन पर टूट पडे। लुगर्ड फिर लौट आया और एक तार की खबर है कि २६ तारीख को वह जीत गया था। विप्लवकारियों की इस कार्यनीति की अवध और रुहेलखण्ड की टुकड़ियो की कार्यनीति के साथ समानता स्पष्ट है। परन्तु, लुगर्ड की विजय का मुश्किल से ही कोई बडा महत्व होगा। ऐसी टुकड़िया आसानी से पस्त-हिम्मत और कमजोर नही होती, वे अनेक हारें सह सकती हैं।

इस प्रकार, मई के मध्य तक, काल्पी की सेना को छोडकर, उत्तर भारत की समस्त विद्रोही सैनिक टुकडियो ने बडे पैमाने पर लडाई करना छोड दिया था। काल्पी की इस सेना ने, अपेक्षाकृत थोडे ही समय के अन्दर, उस शहर में सैनिक कार्रवाइयों का एक पूरा केन्द्र सगठित कर लिया था; खाने-पीने का सामान, बारूद और दूसरी आवश्यक चीजें प्रचुर मात्रा में उसके पास थी; उसके पास बहुत-सी तोपें थीं, और यहां तक कि बन्दूकें तथा अन्य हथियार ढालने और बनाने के कारखाने भी थे। गोकि यह सेना कानपुर से २५ मील के फासले के अन्दर ही थी, फिर भी कैम्पबेल ने उसे चुपचाप छोड़ रखा था; सिर्फ दोआब में, यानी जमुना के पूर्वी तट की तरफ उसकी निगरानी के लिए एक सैन्य-दल उसने तैनात कर दिया था। जनरल रोज और जनरल ह्विटलाक बहुत दिनों से काल्पी के रास्ते में थे। आखिरकार रोज वहा पहुंच गया और काल्पी के सामने विद्रोहियो के साथ एक के बाद दूसरी उसकी कई टक्करें हुई जिनमे उसने विद्रोहियों को हरा दिया। इसी बीच जमुना के पार निरीक्षण के लिए तैनात दल ने शहर और किले पर गोलाबारी शुरू कर दी। विद्रोहियो ने शहर और किले को छोड़ दिया और आखिरी बडी सेना को भी स्वतंत्र टुकड़ियो मे विभक्त कर लिया। रिपोर्टों से उनके रास्तों का कोई पता नही चलता है। इतना ही मालूम है कि कुछ टुकड़ियां दोआब की तरफ और कुछ ग्वालियर की तरफ चली गयी है।

इस तरह हिमालय से लेकर बिहार और विंध्य पर्वतमाला तक का और ग्वालियर तथा दिल्ली से लेकर गोरखपुर तथा दानापुर तक का पूरा क्षेत्र सक्रिय विप्लवकारियों के गिरोहो से भरा हुआ है। इन गिरोहो को एक हद तक बारह महीने के युद्ध-अनुभव ने संगठित कर दिया है। वे अनेक बार हारे है,

चलता। जिन स्थानों से ब्रिटिश कमांडर काम कर रहे हैं, वे अनिवार्यतः अस्पष्टता के आवरण में छिपे हुए हैं; इसकी वजह से उनकी सैनिक कार्रवाइयां बहुत हद तक आलोचना से बच जाती है। फिर जीत या हार ही एकमात्र कसौटी रह जाती है और यह कसौटी बहुत ही छलपूर्ण होती है।

देशियों की गतिविधियों के सम्बंध में यह अनिश्चितता भी अत्यधिक है। लखनऊ पर कब्जा हो जाने के बाद, चारों तरफ अस्तव्यस्त रूप में वे पीछे हट गये थे। कुछ दक्षिण-पूर्व की ओर चले गये थे, कुछ उत्तर-पूर्व की ओर, कुछ उत्तर-पश्चिम की ओर। उत्तर-पश्चिम की ओर जाने वाला दल ही मजबूत दल था; इसलिए उनके पीछे-पीछे कैम्पबेल भी रुहेलखंड की तरफ चला गया। चारों तरफ से वे बरेली में जमा हुए थे और वहीं पर उन्होंने अपने को पुनर्संगठित किया था। परन्तु जब अंग्रेज वहां आ गये, तो बिना प्रतिरोध के ही उस स्थान को उन्होंने छोड़ दिया और फिर विभिन्न दिशाओं में पीछे हट गये। जिन विभिन्न दिशाओं में वे पीछे हटे हैं, उनकी जानकारी अप्राप्त है। हम केवल इतना ही जानते हैं कि उनका एक भाग नेपाल के सीमान्त की पहाड़ियों की तरफ चला गया था; और मालूम होता है कि उनकी एक या इससे अधिक टुकड़िया इसकी उल्टी दिशा में, गंगा और दोआब (गंगा और जमुना के बीच के प्रदेश) की ओर कूच कर गयी थीं। परन्तु, कैम्पबेल ने बरेली पर कब्जा किया ही था कि वे विद्रोही, जो पूर्वी दिशा में पीछे हट गये थे, आगे बढ़कर अवध की सीमा पर कुछ दूसरे दलों के साथ मिल गये और फिर शाहजहांपुर के ऊपर, जहां एक छोटा-सा ब्रिटिश गैरीसन तैनात था, वे टूट पड़े। विद्रोहियों के और दल भी तेजी से इसी दिशा में बढ़ते आ रहे थे। परन्तु गैरीसन के सौभाग्य से, ११ मई को ही ब्रिगेडियर जोन्स सैनिक सहायता लेकर वहां पहुंच गया और उसने हिन्दुस्तानियों को हरा दिया। पर शाहजहांपुर में चारों तरफ से घिरते आते सैन्य दलों से देशियों का भी बल बढ़ गया और १५ तारीख को उन्होंने फिर शहर को घेर लिया। इसी दिन, बरेली में एक गैरीसन को छोड़ कर, कैम्पबेल शाहजहांपुर की सहायता के लिए निकल पड़ा। लेकिन २४ मई से पहले उन पर हमला करके वह उनको पीछे न खदेड़ सका। इस युद्ध-व्यूह में विद्रोहियों के जिन दलों ने भाग लिया था, वे फिर विभिन्न दिशाओं में बिखर गये।

जिस समय रुहेलखंड के सीमान्तों पर कैम्पबेल इस प्रकार उलझा था, उसी समय जनरल होपग्रैन्ट अपने सैनिकों को अवध के दक्षिण में आगे-पीछे मार्च करा रहा था। भारतीय गर्मी की कड़ी धूप में थकान की वजह से स्वयं उसकी सैन्यशक्ति को नुकसान पहुंचने के अलावा उसकी इस कार्रवाई का कोई परिणाम नहीं निकल रहा था। विप्लवकारियों की अत्यंत चपल गति

का वह मुकाबला नहीं कर पा रहा था। जहा वह उन्हें ढूंढता होता, उसके अलावा वे हर जगह होते थे ! जब वह यह सोचता था कि वे सामने मिलेंगे, तब बहुत पहले ही से वे उसके पिछाये मे पहुच चुके होते थे। गंगा के और नीचे के भाग में, दानापुर, जगदीशपुर और बक्सर के बीच के जिले मे जनरल लुगर्ड इसी तरह की एक छाया का पीछा करने में व्यस्त था। देसी लोग निरन्तर उसको चलते रहने के लिए मजबूर किये रहते थे। जगदीशपुर से काफी दूर उसे खीच ले आने के बाद वे उस स्थान के गैरीसन पर टूट पडे। लुगर्ड फिर लौट आया और एक तार की खबर है कि २६ तारीख को वह जीत गया था। विप्लवकारियों की इस कार्यनीति की अवध और रुहेलखण्ड की टुकडियों की कार्यनीति के साथ समानता स्पष्ट है। परन्तु, लुगर्ड की विजय का मुश्किल से ही कोई बडा महत्व होगा। ऐसी टुकड़ियां आसानी से पस्त-हिम्मत और कमजोर नही होतीं, वे अनेक हारें सह सकती है।

इस प्रकार, मई के मध्य तक, काल्पी की सेना को छोडकर, उत्तर भारत की समस्त विद्रोही सैनिक टुकडियो ने बडे पैमाने पर लडाई करना छोड़ दिया था। काल्पी की इस सेना ने, अपेक्षाकृत थोड़े ही समय के अन्दर, उस शहर मे सैनिक कार्रवाइयों का एक पूरा केन्द्र सगठित कर लिया था; खाने-पीने का सामान, बारूद और दूसरी आवश्यक चीजें प्रचुर मात्रा में उसके पास थीं; उसके पास बहुत-सी तोपें थी, और यहां तक कि बन्दूकें तथा अन्य हथियार ढालने और बनाने के कारखाने भी थे। गोकि यह सेना कानपुर से २५ मील के फासले के अन्दर ही थी, फिर भी कैम्पबेल ने उसे चुपचाप छोड रखा था; सिर्फ दोआब मे, यानी जमुना के पूर्वी तट की तरफ उसकी निगरानी के लिए एक सैन्य-दल उसने तैनात कर दिया था। जनरल रोज और जनरल ह्विटलाक बहुत दिनो से काल्पी के रास्ते में थे। आखिरकार रोज वहां पहुच गया और काल्पी के सामने विद्रोहियो के साथ एक के बाद दूसरी उसकी कई टक्करें हुईं जिनमें उसने विद्रोहियो को हरा दिया। इसी बीच जमुना के पार निरीक्षण के लिए तैनात दल ने शहर और किले पर गोलाबारी शुरू कर दी। विद्रोहियों ने शहर और किले को छोड़ दिया और आखिरी बडी सेना को भी स्वतत्र टुकड़ियों मे विभक्त कर लिया। रिपोर्टों से उनके रास्तो का कोई पता नहीं चलता है। इतना ही मालूम है कि कुछ टुकड़िया दोआब की तरफ और कुछ ग्वालियर की तरफ चली गयी हैं।

इस तरह हिमालय से लेकर बिहार और विध्य पर्वतमाला तक का और ग्वालियर तथा दिल्ली से लेकर गोरखपुर तथा दानापुर तक का पूरा क्षेत्र सक्रिय विप्लवकारियो के गिरोहो से भरा हुआ है। इन गिरोहो को एक हद तक बारह महीने के युद्ध-अनुभव ने संगठित कर दिया है। वे अनेक बार हारे हैं,

पर उनकी हर पराजय अनिर्णीत रही है तथा अंग्रेजो को उससे फायदा भी बहुत कम हुआ है, इसकी वजह से वे उत्साहित भी है। यह सही है कि उनके तमाम मजबूत अड्डे और सैनिक कार्रवाइयो के केन्द्र उनसे छीन लिये गये हैं, उनके भडारो और तोपखानो का अधिकाश भाग खत्म हो गया है; सारे महत्व-पूर्ण शहर उनके शत्रुओ के हाथ मे पहुच चुके हैं। परन्तु, दूसरी तरफ, इस विशाल क्षेत्र मे अंग्रेजो के कब्जे मे शहरों के अलावा कुछ नही है, और देहातों के उन्मुक्त क्षेत्र मे केवल वही स्थान उनके पास है जिन पर उनके चल सैन्य-दल इस वक्त खड़े हुए है। अपने चपल शत्रुओ का पीछा करने के लिए वे मजबूर है, यद्यपि उन्हे पकड सकने की उन्हे कोई आशा नही है। और फिर लड़ाई के इस अत्यन्त कष्टदायक तरीके का सहारा लेने के लिए वर्ष के सबसे भयकर मौसम मे उन्हे वाध्य होना पड रहा है। अपनी गर्मी की दोपहर की धूप हिन्दुस्तानी अपेक्षाकृत आसानी से बर्दाश्त कर लेते है, परन्तु योरोपियनो के लिए सूरज की किरणो का स्पर्श ही उनकी मौत को लगभग निश्चित बना देता है। हिन्दुस्तानी ऐसे मौसम मे ४० मील तक चल सकता है, परन्तु उत्तर के उसके दुश्मन की कमर तोड़ने के लिए १० मील भी काफी होते है। गर्मी की वर्षा और दल-दलो से भरे जगल भी उसे अधिक परेशान नही कर पाते, परन्तु योरोपियन यदि वर्षा-ऋतु मे अथवा दल-दल वाले इलाको में जरा भी कुछ करने का प्रयत्न करते है, तो पेचिश, हैजे और प्लेग की मुसीबतें उन पर टूट पड़ती है। ब्रिटिश सेना का स्वास्थ्य कैसा है, इसकी विस्तृत रिपोर्ट हमारे पास नही है; परन्तु जनरल रोज की सेना मे जितने लोग लू के शिकार हुए हैं और दुश्मन द्वारा मारे गये हैं, उनके तुलनात्मक आकड़ों तथा इन रिपोर्टों के आधार पर कि लखनऊ का गैरीसन वीमार है तथा ३८वी रेजीमेंट मे, जो पिछले पतझड मे वहा पहुची थी, १,००० आदमियो की जगह मुश्किल से अब ५५० शेष रह गये है, हम यह नतीजा निकाल सकते हैं कि ग्रीष्म ऋतु की भयकर गर्मी ने अप्रैल और मई मे उन नये सैनिको और लडको के बीच खूब अच्छी तरह से अपना काम किया है जो पिछले वर्ष के अभियान के तपे हुए पुराने भारतीय सिपाहियो की जगह पर आये थे। अन्य सकेतो से भी यही पता चलता है। कैम्पबेल के पास जो आदमी हैं, उनको लेकर न तो वह हैवलॉक की तरह बलात लम्बी यात्राएं कर सकता है, और न वर्षा ऋतु मे दिल्ली की तरह की घेराबन्दी ही सगठित कर सकता है। यद्यपि ब्रिटिश सरकार उनकी सहायता के लिए फिर भारी कुमक रवाना कर रही है, पर इस बात मे सन्देह है कि अंग्रेजी सेनाएं इस गर्मी की लडाई मे एक ऐसे दुश्मन के खिलाफ अपने पैर जमा सकेंगी और नुकसानों को पूरा कर सकेंगी जो सबसे अधिक अनुकूल हालतो मे ही अंग्रेजो से मोर्चा लेता है।

विप्लवकारी युद्ध ने अब फ्रांसीसियों के खिलाफ अल्जीरिया के बेदूइयो (अरबो) जैसे युद्ध[16] का रूप लेना शुरू कर दिया है। अन्तर केवल इतना ही है कि हिन्दुस्तानी अरबों जैसे कट्टर नही हैं और उनका देश घुडसवारों का देश नही है। विशाल विस्तार वाले एक सपाट देश में यह दूसरी चीज अत्यधिक महत्व रखती है। उनके अन्दर बहुत मुसलमान हैं जिनसे एक अच्छी अनियमित घुड़सवार सेना बनायी जा सकती है; फिर भी भारत की मुख्य घुडसवार जातियां अभी तक विद्रोह में शामिल नही हुई है। उनकी सेना की शक्ति उनके पैंदल हैं, और मैदान में अंग्रेजों का मुकाबला करने योग्य न होने पर, यह सेना समतल भूमि पर होनेवाले छापेमार युद्ध में उल्टा एक बोझ बन जाती है, क्योंकि एक ऐसे देश में छिट-पुट लडाई का मुख्य अस्त्र एक अनियमित घुडसवार सेना ही हो सकती है। वर्षा ऋतु में अंग्रेजों को मजबूरन जो छुट्टी मनानी पड़ेगी, उस दौर मे यह कमी किस हद तक दूर हो जायगी, इसे हम आगे देखेंगे। इस छुट्टी से देशियों को अपनी शक्तियो का पुनर्संगठन करने और भर्ती के द्वारा उसे और मजबूत बनाने का अवसर मिल जायगा। घुडसवारो का संगठन करने की बात के अलावा, दो चीजे और महत्व की है। जाडे का मौसम शुरू होते ही केवल छापेमार युद्ध से काम नही चलेगा। जाड़ो के खत्म होने तक अंग्रेजों को उलझाये रखने के लिए फौजी कार्रवाइयो के केन्द्रों, भडारो, तोपखानों, मोर्चेबन्द पड़ावो अथवा शहरों की आवश्यकता होगी; अन्यथा खतरा है कि अगली गर्मी मे नया जीवन प्राप्त करने से पहले ही छापेमार युद्ध की लौ कही बुझ न जाय। ग्वालियर पर में विद्रोहियो ने यदि सच मे कब्जा कर लिया है, तो अन्य चीजो के साथ-साथ, यह भी उनके पक्ष मे एक बात मालूम होती है। दूसरे, विप्लव का भाग्य इस पर निर्भर है कि उसमें फैल सकने की कितनी शक्ति है। बिखरे सैनिक दल अगर रुहेलखड से राजपूताना और मराठों के देश की ओर नही निकल जाते; उनकी कार्रवाइया यदि उत्तर के केन्द्रीय क्षेत्र तक ही सीमित रहती है; तो इसमे सन्देह नही है कि इन दलों को तितर-बितर करने और डकैतो के गिरोह मे बदल देने के लिए अगला जाड़ा काफी होगा। ऐसा होने पर अपने देशवासियो की नजरों मे पीले मुह वाले आक्रमणकारियो से भी अधिक घृणा के पात्र वे बन जायेंगे।

फ्रेडरिक एंगेल्स द्वारा ६ जुलाई, १८५८ को लिखा गया।

२१ जुलाई १८५८ के "न्यू-यौर्क-डेली ट्रिब्यून," अंक ५३८१, में एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया।

कार्ल मार्क्स

इंडिया बिल[*]

नवीनतम इंडिया बिल का तीसरा पाठ भी कामस सभा में पूरा हो गया, और, चूंकि, डर्बी के प्रभाव के कारण, इस बात की सम्भावना नहीं है कि लार्ड सभा उसका कोई खास विरोध करेगी, इसलिए ईस्ट इंडिया कम्पनी का अन्त निश्चित मालूम होता है। उसे वीरों की गति नहीं प्राप्त हो रही है—इसे मानना पड़ेगा, परन्तु उसने व्यवहार-कुशल ढंग से टुकड़े-टुकड़े करके अपनी सत्ता को उसी तरह बेच दिया है जिस तरह कि उसने उसे प्राप्त किया था। दरअसल, उसका पूरा इतिहास ही खरीदने और बेचने का है। उसने शुरू किया था प्रभु-सत्ता को खरीदने से, और वह खत्म भी हो रही है उसी को बेच कर। उसका पतन तो हुआ है, परन्तु आमने-सामने जम कर लड़ी गयी किसी लड़ाई में नहीं, बल्कि नीलाम करने वाले की हथौड़ी की चोट के नीचे—सबसे ऊंची बोली बोलनेवाले के हाथों से। १६९३ में लीड्स के ड्यूक तथा दूसरे सार्वजनिक अधिकारियों को भारी-भारी रकमें खिलाकर उसने ताज से २१ वर्ष के लिए पट्टा हासिल कर लिया था। १७६७ में शाही खजाने को ४ लाख पौण्ड सालाना देने का वादा करके दो साल के लिए अपने पट्टे की अवधि उसने बढ़वा ली थी। १७६९ में पांच साल के लिए उसने एक और ऐसा ही सौदा कर लिया, लेकिन, उसके बाद तुरन्त ही शाही खज़ाने से उसने एक और समझौता कर लिया था। शाही खजाने ने तैशुदा सालाना रकम छोड़ दी और ४ फी सदी सूद की दर पर १४ लाख पौण्ड का कर्जा उसे दे दिया। इसके बदले ईस्ट इंडिया कम्पनी ने अपनी पूर्ण सत्ता के कुछ अंश को पार्लियामेंट को सौंप दिया। शुरू-शुरू में उसे उसने यह अधिकार दे दिया कि गवर्नर जनरल तथा उसकी कौंसिल के चार सदस्यों को वह नामजद कर दे; लार्ड चीफ जस्टिस (प्रमुख न्यायाधीश) तथा उसके साथ के तीनों जजों को नियुक्त करने का पूरा अधिकार उसने ताज को सौंप दिया; और इस बात के लिए भी वह राजी हो गयी कि मालिकों की कोर्ट (प्रबंध समिति) को एक जनवादी (democratic) संस्था के बजाय थोड़े-से धनी लोगों के गुट की एक (oligarchic body) संस्था[**] बना दिया जाय। १८५८ में मालिकों के

कोर्ट के सामने इस बात की पुनीत प्रतिज्ञा करने के बाद कि ईस्ट इंडिया कम्पनी की शासन सम्बंधी सत्ता को हथियाने के ताज द्वारा किये जानेवाले प्रयत्नो का वह समस्त वैधानिक "उपायो" से विरोध करेगी, उसने इस व्यवस्था को स्वीकार कर लिया है, और एक ऐसे बिल को मंजूर कर लिया है जो कम्पनी के लिए घातक है, परन्तु उसके मुख्य डायरेक्टरो की तनखाहों तथा स्थानों को सुरक्षित बना देता है। किसी योद्धा की मृत्यु, जैसा कि शिलर कहता है, यदि डूबते हुए सूरज* के समान होती है, तो ईस्ट इंडिया कम्पनी की मौत उस सौदेबाजी से अधिक मिलती है जो एक दीवालिया आदमी अपने कर्जदारों के साथ कर लेता है।

इस बिल के द्वारा प्रशासन के मुख्य कार्य सपरिषद एक राज्य मंत्री को सौंप दिये गये हैं, यह काम-काज की व्यवस्था उसी तरह करेगा जिस तरह कलकत्ते में सपरिषद गवर्नर-जनरल करता है। किन्तु इन कृत्यचारियो—इंगलैंड के राज्य मंत्री और भारत के गवर्नर-जनरल, दोनो को—इस बात का भी अधिकार दे दिया गया है कि वे यदि चाहे तो अपने सलाहकारो के परामर्श को न मानें और स्वयं अपनी समझदारी के आधार पर काम करें। नया बिल राज्य-मंत्री को वे तमाम अधिकार भी प्रदान कर देता है जो इस समय, गुप्त समिति के माध्यम से, नियंत्रण-मंडल (बोर्ड ऑफ कंट्रोल) के अध्यक्ष द्वारा इस्तेमाल किये जाते है। इन अधिकारो के अन्तर्गत राज्य मंत्री को इस बात का हक होगा कि अविलम्बनीय मामलो मे अपनी परिषद से सलाह लिये बिना भी भारत के नाम वह आदेश जारी कर दे। उक्त परिषद (कौंसिल) की रचना करते समय, आखिरकार, यही देखा गया कि उसके उन सदस्यों को छोड़कर जो ताज द्वारा नामज़द किये जाते हैं, शेष की नियुक्तियो का एकमात्र व्यावहारिक भाग यही है कि उन्हें ईस्ट इंडिया कम्पनी से लिया जाय। इसलिए कौंसिल के चुने जाने वाले सदस्यो का चुनाव ईस्ट इंडिया कम्पनी के डायरेक्टर स्वयं अपने मे से करेंगे।

इस तरह, उसका मूल तत्व निकल जाने के बाद भी नाम ईस्ट इंडिया कम्पनी का ही बना रहने वाला है। एकदम आखिरी समय पर डर्बी मंत्रि-मंडल ने यह बात स्वीकार कर ली कि उसके बिल मे ऐसी कोई धारा नही है जिससे कि ईस्ट इंडिया कम्पनी को, जिसका प्रतिनिधित्व डायरेक्टर-मंडल करता है, खत्म कर दिया गया हो। बस हुआ इतना है कि उसके द्वारा ईस्ट इंडिया कम्पनी की सत्ता को कम करके उसे फिर उसके पुराने हिस्सेदारों की एक ऐसी कम्पनी के रूप मे बदल दिया गया है जो पार्लामेंट द्वारा बनाये गये

* शिलर, डाकू (The Robbers), एक्ट ३, दृश्य २।—सं

विभिन्न कानूनों द्वारा निर्धारित मुनाफों को बांटती है। पिट के १७८४ के बिल ने कम्पनी के शासन-कार्य को नियन्त्रण मंडल (बोर्ड आफ कंट्रोल) के नाम से एक तरह से अपने मंत्रि-मंडल के आधीन कर लिया था। १८१३ के एक्ट (कानून) ने चीन के साथ व्यापार को छोड़ कर उसकी व्यापार की इजारेदारी को भी उससे छीन लिया था। १८३४ के एक्ट (कानून) ने उसके व्यापारिक स्वरूप का ही एकदम अन्त कर दिया था, और १८५४ के एक्ट के जरिए—भारतीय प्रशासन को उसके हाथ में छोड़े रहते हुए भी—उसकी सत्ता के अन्तिम अवशेष को भी समाप्त कर दिया गया था। ईस्ट इंडिया कम्पनी १६१२ में एक ज्वाइन्ट स्टॉक कम्पनी बनी थी : इतिहास के चक्र ने उसे फिर उसी पुराने रूप में पहुंचा दिया है। अन्तर केवल इतना है कि अब वह एक ऐसी व्यापारिक साझेदारी की कम्पनी है जिसके पास व्यापार नहीं है और एक ऐसी ज्वाइन्ट स्टॉक कम्पनी है जिसके पास खर्च करने के लिए कोई कोष नहीं है। उसे अब केवल निर्धारित मुनाफे ही मिलते हैं।

इंडिया बिल के इतिहास में जितने नाटकीय परिवर्तन हुए हैं, उतने आधुनिक पार्लियामेन्ट के किसी दूसरे एक्ट में नहीं हुए। जिस समय सिपाहियों का विप्लव उठा था, उस समय ब्रिटिश समाज के सभी वर्गों के अन्दर यह पुकार गूंजने लगी थी कि भारत में सुधार करो। अत्याचारों की रिपोर्ट सुनकर आम लोगों का क्रोध भड़क उठा था; भारत से सम्बंधित आम अफसरों तथा उच्च श्रेणी के नागरिकों ने देशी धर्म-कर्म में सरकारी हस्तक्षेप की जोरों से निन्दा की थी। डाउनिंग स्ट्रीट के हाथ का महज एक कठपुतला, लार्ड डलहौजी की दूसरे राज्यों को हड़पने की लुटेरी नीति; फारस (ईरान) और चीन के युद्धों के कारण— उन युद्धों के कारण जिन्हें पामर्सटन के गुप्त आदेशों पर छेड़ा और चलाया गया था—एशियाई दिमाग में अविवेकपूर्ण ढंग से पैदा कर दी गयी उथल-पुथल; विद्रोह का मुकाबला करने के लिए लॉर्ड डलहौजी की कमजोर कार्रवाइयां, सिपाहियों को ले जाने के लिए भाप के जहाजों की जगह पालवाले जहाजों का चुनाव और स्वेज डमरूमध्य से होकर जहाज भेजने के बजाय गुडहोप अन्तरीप के चक्करदार मार्ग का पकड़ना —इन तमाम जमा हो गयी शिकायतों की वजह से जोरदार आवाज उठी थी कि भारत में सुधार किया जाय, कम्पनी के भारतीय प्रशासन में सुधार किया जाय, सरकार की भारतीय नीति में सुधार किया जाय। पामर्सटन ने इस लोकप्रिय मांग को समझा, लेकिन उसने तय किया कि उसका इस्तेमाल वह केवल अपने हित में करेगा। चूंकि सरकार और कम्पनी दोनों ही बुरी तरह से असफल हो चुकी थीं, इसलिए उसने देखा कि मौका है कि कम्पनी की हत्या करके उसे अलग कर दिया जाय और सरकार को सर्वशक्तिशाली

बना लिया जाय। सीधी बात यह थी कि कम्पनी की सत्ता उस समय के उस तानाशाह के हाथ में सौंप दी जाय जो पार्लियामेन्ट के मुकाबले मे सम्राट (ताज) का और सम्राट के मुकाबले मे पार्लियामेन्ट का प्रतिनिधित्व करने का दम भरता था और इस प्रकार दोनों ही के विशेषाधिकारो को अपनी मुट्ठी में रखता था। भारतीय सेना के उसके साथ हो जाने, भारतीय खजाने के मुट्ठी में आ जाने, और भारत से लोगों को फायदा पहुचाने की शक्ति के उसकी जेब मे होने के बाद पामर्संटन की स्थिति एकदम अभेद्य बन जाती।

उसके बिल का प्रथम पाठ तो शान के साथ पूरा हो गया, पर तभी उस प्रसिद्ध षड्यन्त्र बिल[1] की वजह से उसका सरकारी जीवन असमय ही समाप्त हो गया और उसके बाद टोरियो की सरकार कायम हो गयी।

सरकारी बेंचो पर बैठने के पहले ही दिन टोरियो ने यह ऐलान किया कि कामंस सभा की निर्णायक इच्छा के प्रति सम्मान-भाव के कारण, भारत सरकार को कम्पनी के हाथ से लेकर सम्राट (ताज) के हाथ मे सौंपने के प्रस्ताव का विरोध करना वे छोड देंगे। लार्ड एलेनबरो के कानून के गर्भ-पात[2] के कारण लगा कि पामर्संटन फिर जल्दी ही सत्ता में लौट आयेगा। लेकिन तभी, समझौता करने के लिए इस तानाशाह को बाध्य करने की दृष्टि से, लार्ड जॉन रसेल बीच मे कूद पड़े। और यह प्रस्ताव पेश करके टोरी सरकार को उन्होंने बचा लिया कि इंडिया बिल पर एक सरकारी बिल के रूप मे विचार करने के बजाय, पार्लियामेन्ट की एक तजवीज के रूप मे विचार किया जाय। इसके बाद लार्ड एलेनबरो की अवध की कारगुजारी, उनके अचानक इस्तीफे तथा उसके परिणामस्वरूप मन्त्रि-मंडलीय दल में पैदा हुई अव्यवस्था का पामर्संटन ने फौरन फायदा उठाने की कोशिश की। टोरी दल ने अपनी सत्ता के संक्षिप्त काल मे ईस्ट इंडिया कम्पनी पर कब्जा करने के प्रस्ताव के विरुद्ध स्वयं उसके सदस्यो के अन्दर जो विरोध-भाव था, उसे कुचल दिया था, और अब उसे फिर विरोधी दल की ठंढी बेंची पर बैठाने की योजना बनायी जाने लगी थी। पर यह बात लोगो को काफी अच्छी तरह मालूम है कि ये बढिया योजनाए किस तरह अस्त-व्यस्त हो गयी थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के खंडहरो की नीव पर उपर उठने के बजाय, पामर्संटन उनके नीचे दब कर दफन हो गये है। भारत सम्बंधी तमाम बहसों के दौरान ऐसा लगता था मानो सिविस रोमानस[3] को अपमानित करने में भवन को विचित्र मजा आ रहा था! उनके बड़े और छोटे तमाम संशोधन अपमान-जनक ढग से गिर गये थे; अफगान युद्ध, फारस (ईरान) के युद्ध तथा चीनी युद्ध के संदर्भ मे उन पर अत्यन्त अप्रिय किस्म के प्रहार लगातार किये गये थे; और मिस्टर ग्लैडस्टन द्वारा प्रस्तावित वह उप-धारा उनके

प्रचंड विरोध के बावजूद एक जबर्दस्त बहुमत से पास हो गयी थी जिसके द्वारा भारत मंत्री से भारतीय सीमाओं से बाहर युद्ध छेड़ने का अधिकार छीन लिया गया था और जिसका वास्तविक उद्देश्य पामर्स्टन की पिछली वैदेशिक नीति की आम तौर से निन्दा करना था। यद्यपि उस व्यक्ति को हटा दिया गया है, पर उसके सिद्धान्त को मोटे तौर पर स्वीकार कर लिया गया है। यद्यपि बोर्ड ऑफ काउंसिल के—जो, असल में, पुराने डायरेक्टर मंडल (कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स) का ही भून है और जिसे ऊंची तनखा पर रख लिया गया है—प्रतिबंधक अधिकारों के कारण कार्यकारिणी की शक्ति पर कुछ रोक लग गयी है; परन्तु भारत के यथानियम अनुबंधित कर लिये जाने (हड़प लिये जाने) से उसकी शक्ति इतनी बढ़ गयी है कि उसका मुकाबला करने के लिए पार्लियामेन्ट की तुला में जनवादी वज़न डालना होगा।

कार्ल मार्क्स द्वारा ९ जुलाई, १८५८ को लिखा गया।

२४ जुलाई, १८५८ के "न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून," अंक ५३८४, में एक सम्पादकीय लेख के रूप में प्रकाशित हुआ।

अखबार के पाठ के अनुसार छापा गया

फ्रेडरिक एंगेल्स

*भारत में विद्रोह

गर्मी और वर्षा के गर्म महीनों में भारत का अभियान लगभग पूर्ण रूप में स्थगित कर दिया गया है। सर कॉलिन कैम्पवेल ने एक शक्तिशाली प्रयास के द्वारा अवध तथा रुहेलखंड के तमाम महत्वपूर्ण स्थानो पर गर्मी के प्रारम्भ में ही अधिकार कर लिया था। उसके बाद उन्होंने अपने सैनिकों को छावनी में रख दिया है और बाकी खुले देश को विप्लवकारियो के कब्जे में छोड दिया है। और अपनी कोशिशों को वे संचार के अपने साधनो को बनाये रखने तक ही सीमित रख रहे हैं। इस काल मे महत्व की जो एकमात्र घटना अवध में हुई है, वह है मान सिंह की सहायता के लिए सर होप ग्रैन्ट का शाहगंज के लिए अभियान। मान सिंह एक ऐसा देशी राजा है जिसने काफी हीले-हवाले के बाद कुछ ही समय पहले अंग्रेजो के साथ समझौता कर लिया था और अब उसके पुराने देशी मित्रों ने उसे घेर लिया था। यह अभियान केवल एक सैनिक सैर के समान सिद्ध हुआ—यद्यपि लू तथा हैजे की वजह से अंग्रेजो का उसमें भारी नुकसान हुआ होगा। देशी लोग बिना मुकाबला किये ही तितर-बितर हो गये और मान सिंह अंग्रेजों से जा मिला। इतनी सरलता से प्राप्त हुई इस सफलता से यद्यपि यह निष्कर्ष नही निकाला जा सकता कि पूरा अवध इसी प्रकार आसानी से अंग्रेजों के सामने नत-मस्तक हो जायगा, परन्तु इससे यह तो मालूम ही हो जाता है कि विप्लवकारियों की हिम्मत एकदम टूट गयी है। अंग्रेजो के हित में यदि यह था कि गर्मी के मौसम में वे आराम करें, तो विप्लवकारियों के हित मे यह था कि वे उन्हें अधिक से अधिक परेशान करें। परन्तु इसके बजाय कि वे सक्रिय रूप से छापेमार युद्ध का संगठन करें, दुश्मन ने जिन शहरों पर अधिकार कर रखा है उनके बीच के उसके संचार-साधनों को छिन्न-विच्छिन्न करें, उसकी छोटी-छोटी टुकड़ियों को घात लगाकर रास्ते मे ही साफ कर दें, दाने-चारे की खोज करनेवाले उसके दलों को हलकान कर दें, रसद की सप्लाई के काम को नामुमकिन बना दें, अर्थात्, उन सब चीजों का आना-जाना एकदम रोक दें जिनके बिना अंग्रेजो के कब्जे का कोई भी बड़ा शहर जिन्दा नहीं रह सकता है—इन सब चीजों को करने के बजाय, देशी

लोग लगान वसूल करने और उनके दुश्मनों ने जो थोड़ी सी मोहलत उन्हें दे दी है, उसका उपभोग करने में ही वे प्रसन्न हैं। इससे भी बुरी बात यह है कि, मालूम होता है कि, वे आपस में लड़ भी गये हैं। न हो ऐसा मालूम होता है कि इन चन्द शान्तिपूर्ण हफ्तों का उपयोग उन्होंने अपनी शक्तियों को पुनः संगठित करने, गोले-बारूद के अपने भंडारों को फिर से भरने, अथवा नष्ट हो गयी तोपों की जगह दूसरी तोपें इकट्ठा करने के ही काम में किया है। शाहगंज की उनकी भगदड़ प्रकट करती है कि पहले की किसी भी पराजय की अपेक्षा अब उनका विश्वास अपने में और अपने नेताओं में और भी अधिक कम हो गया है। इसी बीच अधिकांश राजे-रजवाड़ों तथा ब्रिटिश सरकार के बीच गुप्त पत्र-व्यवहार चल रहा है। ब्रिटिश सरकार ने, आखिरकार, देख लिया है कि अवध की पूरी सरजमीन को हड़प जाना उनके लिए एक अव्यावहारिक-सा काम है और इसलिए इस बात के लिए वह अच्छी तरह राजी हो गयी है कि उचित शर्तों पर उसे फिर उसके पुराने स्वामियों को लौटा दी जाय। इस भांति, अंग्रेजों को अन्तिम विजय के सम्बंध में अब कोई सन्देह नहीं रह गया है और इसलिए लगता है कि अवध का विद्रोह सक्रिय छापेमार युद्ध के दौर से गुजरे बिना ही खत्म हो जायगा। अधिकांश जमींदार-ताल्लुकेदार अंग्रेजों के साथ ज्यों ही समझौता कर लेंगे, त्यों ही विप्लवकारियों के दल छिन्न-भिन्न हो जायेंगे और जिन लोगों को सरकार का बहुत ज्यादा डर है वे डाकू बन जायेंगे और उन्हें पकड़वाने में फिर किसान भी सरकार को खुशी-खुशी मदद देंगे।

अवध के दक्षिण-पश्चिम में जगदीशपुर के जंगल इस तरह के डकैतों के लिए एक अच्छा आश्रय-स्थान मालूम पड़ते हैं। बांसों और झाड़ियों के इन अभेद्य जंगलों पर अमर सिंह के नेतृत्व में विप्लवकारियों के एक दल का कब्जा है। अमर सिंह को छापेमार युद्ध का अधिक ज्ञान है, ऐसा मालूम होता है और वह क्रियाशील भी अधिक है। जो कुछ भी हो, चुपचाप इन्तजार करने के बजाय, जब भी मौका मिलता है वह अंग्रेजों के ऊपर हमला बोल देता है। उस सुदृढ़ अड्डे से भगाये जाने से पहले ही उसके पास जाकर अवध के विद्रोहियों का एक भाग भी अगर मिल गया—जैसी कि आशंका है—तो अंग्रेजों के लिए मुसीबत हो जायगी और उनका काम बहुत बढ़ जायगा। लगभग ८ महीनों से ये जंगल विप्लवकारी दलों के लिए छिपने के और विश्राम स्थल बने हुए हैं। इन दलों ने कलकत्ता और इलाहाबाद के बीच की सड़क, ग्रैण्ड ट्रंक रोड को, जो अंग्रेजों का मुख्य संचार मार्ग है, अत्यन्त असुरक्षित बना दिया है।

पश्चिमी भारत में जनरल रौबर्ट्स और कर्नल होम्स अब भी ग्वालियर के विद्रोहियों का पीछा कर रहे हैं। ग्वालियर पर जिस समय कब्जा किया गया,

उस समय यह प्रश्न बहुत महत्व का था कि पीछे हटती हुई सेना कौन-सी दिशा अपनायेगी; क्योंकि मरहठों का पूरा देश और राजपूताने का एक भाग मानो विद्रोह के लिए तैयार बैठा था—इन्तजार बस वह इस बात का कर रहा था कि नियमित सैनिकों की एक मजबूत सेना पहुच जाय जिससे कि विद्रोह का एक अच्छा केन्द्र वहां कायम हो जाय। उस वक्त लगता था कि इस लक्ष्य की प्राप्ति की दृष्टि से सबसे अधिक संभावना इसी बात की दिखलाई देती थी कि ग्वालियर की फौजें पैंतरा बदलकर होशियारी से दक्षिण-पश्चिमी दिशा की ओर निकल जायेंगी। परन्तु विप्लवकारियों ने पीछे हटने के लिए उत्तर-पश्चिमी दिशा को चुना है। ऐसा उन्होंने किन कारणों से किया है, इसका उन रिपोर्टों से हम अनुमान नहीं लगा सकते जो हमारे सामने हैं। वे जयपुर गये, वहां से दक्षिण उदयपुर की तरफ घूम गये और मरहठों के देश के मार्ग पर पहुंचने की कोशिश करने लगे। परन्तु इस चक्करदार रास्ते की वजह से रौबर्ट्स को यह मौका मिल गया कि वह उनको जा पकडे। रौबर्ट्स उनके पास पहुंच गया और बिना किसी बडे प्रयास के ही, उसने उन्हें पूरे तौर से हरा दिया। इस सेना के जो अवशेष बचे हैं, उनके पास न तोपें हैं, न संगठन और न गोला-बारूद हैं, न कोई नामी नेता हैं। नये विद्रोह खडे कर सकें—ऐसे ये लोग नही हैं। इसके विपरीत मालूम होता है कि लूट-खसोट मे प्राप्त चीजों की जो विशाल मात्रा वे अपने साथ ले जा रहे हैं और जिसकी वजह से उनकी तमाम गति-विधि मे बाधा पड़ रही है, उसने किसानो की लोलुपता को जगा दिया है। अलग घूमते-भटकते हर सिपाही को मार दिया जाता है और सोने की मोहरों के भार से उसे मुक्त कर दिया जाता है। स्थिति अगर यही रही, तो इन सिपाहियों को अन्तिम रूप से ठिकाने लगाने के काम को जनरल रौबर्ट्स बड़े मजे में अब देहाती जनता के जिम्मे छोड़ दे सकता है। सिंधिया के खजाने को उसके सिपाहियों ने लूट लिया है; इससे अंग्रेजों के लिए हिन्दुस्तान से भी अधिक खतरनाक एक दूसरे क्षेत्र में विद्रोह के फिर से शुरू हो जाने का खतरा मिट गया है। यह क्षेत्र अंग्रेजों के लिए बहुत खतरनाक था, क्योंकि मराठों के देश मे विद्रोह शुरू हो जाने पर बम्बई की फौज के लिए बड़ी ही कठोर परीक्षा का समय आ जाता।

ग्वालियर के पडोस में एक नयी बगावत उठ खड़ी हुई है। एक छोटा सरदार—मान सिंह (अवध का मान सिंह नही), जो सिंधिया के अधीन था, विप्लवकारियो के साथ जा मिला है और पौड़ी के छोटे किले पर उसने कब्जा कर लिया है। परन्तु उस जगह को अंग्रेजों ने घेर लिया है और जल्द ही उस पर कब्जा हो जाना चाहिए।

इस बीच, जीते गये इलाके धीरे-धीरे शान्त होते जा रहे हैं। कहा जाता है कि दिल्ली के पास-पड़ोस के इलाके में सर जे. लॉरेन्स ने ऐसी पूर्ण शान्ति कायम कर दी है कि कोई भी योरोपियन अब वहां बिना हथियार के और बिना अंग-रक्षकों को लिये पूर्ण सुरक्षा के साथ इधर-उधर आ-जा सकता है। इसका रहस्य यह है कि किसी गांव के क्षेत्र में होने वाले हर जुर्म अथवा बलवे के लिए उस गांव की जनता को अंग्रेजों ने सामूहिक रूप से जिम्मेदार बना दिया है; उन्होंने एक फौजी पुलिस संगठित कर दी है; और इस सबसे भी अधिक हर जगह कोर्ट मॉर्शल द्वारा आनन-फानन में सजा देने की व्यवस्था कायम हो गयी। है। पूर्व के लोगो पर कोर्ट-मॉर्शल की व्यवस्था का कुछ खास ही रोब पड़ता है। फिर भी यह सफलता एक अपवाद जैसी मालूम होती है, क्योंकि दूसरे क्षेत्रों से इस तरह की कोई चीज हमें सुनाई नहीं देती। रुहेलखंड तथा अवध को, बुन्देलखंड तथा दूसरे अनेक बड़े प्रान्तों को पूर्णतया शान्त करने के काम के लिए अब भी बहुत लम्बे समय की जरूरत होगी और उसके सिलसिले में अंग्रेजी सैनिकों तथा कोर्ट-मॉर्शलों को अब भी बहुत काम करना पड़ेगा।

परन्तु जहा हिन्दुस्तान के विद्रोह का विस्तार इतना छोटा हो गया है कि अब उसमे फौजी दिलचस्पी की कोई चीज नही नहीं रह गयी है, वहीं वहां से काफी दूर---अफगानिस्तान के अन्तिम सीमान्तों पर---एक ऐसी घटना हो गयी है जिसमे आगे चलकर भारी कठिनाइयां उत्पन्न होने की आशंका छिपी हुई है। डेरा इस्माइल खान में स्थित कई सिख रेजीमेन्टों में अंग्रेजों के खिलाफ विद्रोह करने और अपने अफसरों की हत्या कर देने के एक षड़यंत्र का पता लगा है। इस षडयंत्र की जड़ें कितनी दूर तक फैली हुई हैं, यह हम नही बता सकते। सभव है कि यह केवल एक स्थानीय चीज हो जिसका सिखो के एक खास वर्ग से सम्बंध हो। परन्तु इस बात को हम साधिकार नही कह सकते। कुछ भी हो, यह बहुत ही खतरनाक लक्षण है। ब्रिटिश सेना मे इस समय लगभग १,००,००० सिख हैं, और यह तो हम सुन ही चुके है कि वे कितने उदण्ड हैं। वे कहते हैं कि आज वे अंग्रेजो की तरफ से लड़ते है, पर अगर भगवान की ऐसी ही मर्जी हुई तो कल उनके खिलाफ भी लड़ सकते हैं! वे बहादुर होते है, जोशीले होते हैं, अस्थिर होते हैं और दूसरे पूर्वी लोगों से भी अधिक आकस्मिक तथा अन-अपेक्षित आवेगों के शिकार हो जाते हैं। यदि सचमुच उनके अन्दर बगावत शुरू हो जाय, तब फिर अंग्रेजों के लिए अपने को बचाये रखने का काम कठिन हो जायगा। भारत के निवासियों मे सिख हमेशा अंग्रेजों के सबसे कट्टर विरोधी रहे हैं; अपेक्षाकृत एक काफी शक्तिशाली साम्राज्य की उन्होंने स्थापना कर ली है; वे ब्राह्मणों के एक खास सम्प्रदाय के हैं और हिन्दुओं तथा मुसलमानों दोनों से

नफरत करते हैं। ब्रिटिश "राज" को वे अधिकतम खतरे के समय देख चुके है, उसकी पुनर्स्थापना के कार्य में उन्होने बहुत योग दिया है, और उन्हे तो इस बात का भी पूरा विश्वास है कि उनका योग ही वह निर्णायक चीज थी जिसने ब्रिटिश राज्य को बचा लिया है। तब फिर इससे अधिक स्वाभाविक और क्या हो सकता है यदि वे यह सोचें कि ब्रिटिश राज्य की जगह अब सिख राज्य की स्थापना कर दी जानी चाहिए, दिल्ली या कलकत्ते की गद्दी पर भारत का शासन करने के लिए किसी सिख सम्राट का अभिषेक कर दिया जाना चाहिए ? संभव है कि यह विचार अभी तक सिखों के अन्दर बहुत परिपक्व न हुआ हो, यह भी सम्भव है कि उन्हें होशियारी से इस तरह अलग-अलग वितरित कर दिया जाय कि हर जगह उनका मुकाबला करने के लिए काफी योरोपियन मौजूद रहे जिससे कि कही भी विद्रोह होने पर उन्हे आसानी से दबा दिया जा सके। परन्तु यह विचार अब उनके अन्दर आ गया है, यह चीज, हमारे, खयाल के मुताबिक, हर उस व्यक्ति को स्पष्ट होगी जिसने पढ़ा है कि दिल्ली और लखनऊ के बाद से सिखों के क्या रंग-ढंग हैं।

लेकिन, फिलहाल, भारत को अंग्रेजो ने फिर जीत लिया है। वह महान विद्रोह जिसकी चिनगारी बगाल की सेना की बगावत से उठी थी, लगता है, सचमुच ही खत्म हो रहा है। परन्तु इस दोबारा विजय से इगलैंड भारतीय जनता के मन पर अपना प्रभाव नही बैठा सका है। देशियो द्वारा किये जाने वाले अनाचारो-अत्याचारों की बढ़ी-चढी और झूठी रिपोर्टों से क्रुद्ध होकर अंग्रेजी फौजों ने बदले के जो काम किये हैं, उनकी क्रूरता ने तथा अवध के राज्य को पूरे तौर से और टुकडे-टुकडे करके, दोनों तरह से, हडप लेने की उनकी कोशिशों ने विजेताओं के लिए कोई खास प्रेम की भावना नही पैदा की है। इसके विपरीत, अंग्रेज स्वयं स्वीकार करते हैं कि हिन्दुओ और मुसलमानों दोनों के अन्दर इसाई आक्रमणकारी के विरुद्ध पुश्तैनी घृणा की भावना आज हमेशा से भी अधिक तीव्र है। यह घृणा इस समय भले ही दुर्बल हो, परन्तु जब तक सिखों के पंजाब के सर पर भयानक बादल मंडरा रहा है, तब तक उसे महत्वहीन और निरर्थक नही कहा जा सकता। बात इतनी ही नही है। दोनों महान एशियाई ताकतें—इगलैंड और रूस—इस समय साइबेरिया तथा भारत के बीच एक ऐसे बिन्दु पर पहुंच गयी हैं जहां रूसियों तथा अंग्रेजों के स्वार्थों में सीधी टक्कर होना अनिवार्य है। वह बिन्दु पीकिन (पीकिंग) है। वहां से पश्चिम की ओर पूरे एशियाई महाद्वीप पर, एक किनारे से दूसरे किनारे तक एक ऐसी रेखा जल्द ही खींच दी जायगी जिस पर इन दो विरोधी स्वार्थों के बीच निरन्तर संघर्ष होता रहेगा। इस प्रकार, वास्तव में संभव है कि वह समय बहुत दूर न हो जब "वक्षु (Oxus) नदी

कार्ल मार्क्स

'भारतीय इतिहास सम्बंधी टिप्पणियां'

१८५६ : नवाब के कुशासन के कारण अवध का हड़प (अनुबंधित कर) लिया जाना। पंजाब के महाराजा दुलीप सिंह ने इसाई धर्म स्वीकार कर लिया। "रुखसती के समय" एक डींग भरी "यादी" छोड़ कर डलहौजी वापस चला गया; अन्य चीजो के साथ-साथ, नहरों, रेलों, बिजली के तारों का निर्माण किया गया; अवध को हड़प लेने के अलावा (कम्पनी की) आमदनी में ४० लाख पौंड की वृद्धि हुई; व्यापार के लिए कलकत्ता जाने वाले माल के जहाजों का वजन लगभग दूना हो गया; वास्तव मे सार्वजनिक बजट मे घाटा है, परन्तु इसका कारण सार्वजनिक कार्यो मे किया गया भारी खर्च है। इस तमाम शेखी का जवाब : सिपाही क्रान्ति (१८५७-५९)।

१८५७ : सिपाही विद्रोह। कुछ वर्षों तक सिपाही सेना बहुत असंगठित रही; उसमें ४० हजार सिपाही अवध के थे जो जाति और राष्ट्रीयता के सूत्रों से एक-दूसरे से बंधे हुए थे; फौज की नब्ज एक है, उच्चाधिकारियो द्वारा किये गये किसी भी रेजीमेन्ट के अपमान को बाकी सब भी अपना अपमान अनुभव करते हैं। अफसर शक्तिहीन हैं; अनुशासन ढीला है, बगावत के खुले काम अक्सर होते रहते हैं जिन्हे कमोवेश कठिनाई के साथ ही दबाया जाता है; रंगून पर हमला" करने के लिए समुद्र पार जाने से बंगाल की सेना ने साफ-साफ इनकार कर दिया जिसकी वजह से उसकी जगह पर सिख रेजीमेन्ट को भेजना पड़ा (१८५२)। (यह सब पंजाब को हड़प लेने के बाद—१८४९ से चल रहा है और अवध के हड़प लिये जाने के बाद—१८५६ से हालत और भी बदतर हो गयी है)। लार्ड कैनिंग ने अपना प्रशासन मनमानी हरकतों से शुरू किया था; तब तक तमाम दुनिया में सैनिक कार्य के लिए मद्रास और बम्बई के सिपाही नियमपूर्वक भरती किये जाते थे, बंगाली केवल भारत मे सैनिक कार्य के लिए भरती किये जाते थे; कैनिंग ने बंगाल मे "आम सैनिक सेवा के लिए भरती" का नियम बना दिया। "फकीरो" ने जात-पात को नष्ट करने की कोशिश, आदि बताकर उसकी निन्दा की।

शहर लूट लिया, उसमें आग लगा दी, अगले दिन किले से आकर घुड़सवार सेना ने उन्हें भगा दिया।

लाहौर मे, मेरठ और दिल्ली की घटनाओ की खबर पहुचने पर, जनरल कॉरबेट के हुक्म से आम परेड करते समय सिपाहियों से हथियार रखवा लिये गये (अंग्रेजी फौजों ने तोपखानों के साथ उन्हे घेर लिया था)।

मई २० : पेशावर में (लाहौर की ही तरह) देशी पैदल सेना की ६४वीं, ५५वीं, ३९वीं टुकड़ी से हथियार छीन लिये गये; इसके बाद शेष अंग्रेजों और वफादार सिखों ने नोशेरा तथा मरदान की घिरी हुई छावनियो को मुक्त किया, और मई के अन्त में, आसपास के स्थानो से कई योरोपियन रेजीमेन्टों को जमा करके उन्होंने अम्बाला की बड़ी छावनी को मुक्त किया; यहां पर जनरल एन्सन की कमान में एक सेना की बुनियाद डाली गयी... शिमला की पहाड़ी छावनी पर, जहां गरमी के मौसम के लिए गये अंग्रेज परिवारों की भीड़ थी, हमला नहीं किया गया।

मई २५ : एन्सन अपनी छोटी-सी सेना के साथ दिल्ली की ओर चल पड़ा; २७ मई को वह मर गया, उसकी जगह सर हेनरी बरनार्ड ने ली; ७ जून को जनरल विलसन के नीचे के अंग्रेज सैनिक उससे आ मिले (ये मेरठ से आये थे; रास्ते मे सिपाहियों से उनकी लड़ाई भी हुई थी)।

विद्रोह पूरे हिन्दुस्तान में फैल गया है, २० भिन्न-भिन्न स्थानो में एक साथ ही सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया है और अंग्रेजों को मार डाला है; मुख्य केन्द्र हैं : आगरा, बरेली, मुरादाबाद। सिंधिया "अंग्रेजी कुत्तो" के प्रति वफादार है, परन्तु उसके सैनिक नही; पटियाला के राजा ने—उसे शर्म आनी चाहिए!—अंग्रेजो की मदद के लिए बहुत से सिपाही भेजे।

मैनपुरी में (उत्तर-पश्चिमी प्रान्त) एक जगली नौजवान लेफ्टीनेन्ट, डे कान्ट-जोव ने खजाने और किले को बचा लिया। कानपुर में, ६ जून १८५७ को, उन तीन सिपाही रेजीमेन्टों तथा देशी घुड़सवार सेना की तीन रेजीमेन्टों की, जिन्होंने कानपुर में विद्रोह कर दिया था, कमान नाना साहब ने अपने हाथ मे ले ली; और सर ह्यूग व्हीलर पर आक्रमण कर दिया; कानपुर फौजों के कमांडर सर ह्यूग व्हीलर के पास पैदल सेना की केवल एक (अंग्रेज) बटेलियन थी और कुछ थोड़ी-सी मदद उसने बाहर से प्राप्त कर ली थी; किले और बैरकों की, जिनमें तमाम अंग्रेज, स्त्रियां, बच्चे भाग कर छिप गये थे, वह रक्षा करता रहा।

जून २६, १८५७ : नाना साहब ने कहा कि अगर कानपुर उन्हे सौंप दिया जाय तो तमाम योरोपियनो को वे सकुशल बाहर निकल जाने देंगे; २७ जून

१८५७ का आरम्भिक काल : फकीरों ने कहा कि हाल में सिपाहियों को दिये गये (पैम के) कारतूसों में सुअर और गाय की चर्बी लगी हुई है; उन्होंने कहा कि ऐसा जान-बूझ कर किया गया है जिससे कि हर सिपाही जाति-भ्रष्ट हो जाय।

परिणामस्वरूप, बैरकपुर (कलकत्ते के पास) और रानीगंज में (बांकुरा के पास) सिपाही विद्रोह हुए।

फरवरी २६ : बरहमपुर (मुर्शिदाबाद के दक्षिण में हुगली के तट पर) में सिपाही विद्रोह; मार्च में बैरकपुर में सिपाही विद्रोह; यह सब बंगाल में (ताकत से उन्हें कुचल दिया गया)।

मार्च और अप्रैल : अम्बाला और मेरठ के सिपाही गुप्त रूप से और लगातार अपने बैरकों में आग लगाते रहे; अवध और उत्तर-पश्चिम के जिलों में फकीरों ने जनता को इंगलैंड के खिलाफ भड़काया। बिठूर (गंगा के तट पर स्थित) के राजा नाना साहब ने रूस, फारस (ईरान), दिल्ली के शाहजादों और अवध के भूतपूर्व बादशाह के साथ साजिश की; चर्बी लगे कारतूसों के कारण सिपाहियों के जो बलवे हुए, उनका फायदा उठाया।

अप्रैल २४ : लखनऊ में बंगालियों की ४८वीं रेजीमेन्ट; ३री देशी घुड़सवार सेना, अवध की ७वीं अनियमित सेना द्वारा विद्रोह; सर हेनरी लारेंस ने अंग्रेजी फौजें लाकर उसे कुचल दिया।

मेरठ (दिल्ली के उत्तर-पूरब) में ११वीं और २०वीं देशी पैदल सेना ने अंग्रेजों पर हमला कर दिया अपने अफसरों को गोली मार दी, शहर में आग लगा दी, तमाम अंग्रेज महिलाओं और बच्चों को मार डाला और दिल्ली की ओर रवाना हो गये।

दिल्ली पहुँच कर रात में कुछ बागी घोड़ों पर चढ़कर दिल्ली के अन्दर घुस गये; वहां के सिपाहियों ने (देशी पैदल सेना की ५४वीं, ७४वीं, ३८वीं टुकड़ियों ने) विद्रोह कर दिया; अंग्रेज कमिश्नर, पादरी, अफसरों की हत्या कर दी गयी; ९ अंग्रेज अफसरों ने शस्त्रागार की रक्षा की, उसे उड़ा दिया गया (दो वहीं मर गये); शहर के दूसरे अंग्रेज जंगलों में भाग गये, अधिकांश देशी लोगों द्वारा मार डाले गये अथवा सख्त मौसम की वजह से मर गये; कुछ सलामती से मेरठ पहुँच गये जो सब फौजों से खाली था। परन्तु, दिल्ली विप्लवकारियों के हाथ में है।

फीरोजपुर में, ४५वीं और ५७वीं देशी सेनाओं ने किले पर अधिकार करने की कोशिश की; उन्हें ६१वीं अंग्रेजी सेना ने खदेड़ दिया; परन्तु उन्होंने

शहर लूट लिया, उसमें आग लगा दी, अगले दिन किले से आकर घुड़सवार सेना ने उन्हें भगा दिया।

लाहौर में, मेरठ और दिल्ली की घटनाओं की खबर पहुंचने पर, जनरल कॉरबेट के हुक्म से आम परेड करते समय सिपाहियों से हथियार रखवा लिये गये (अंग्रेजी फौजों ने तोपखानों के साथ उन्हे घेर लिया था)।

मई २० : पेशावर में (लाहौर की ही तरह) देशी पैदल सेना की ६४वीं, ५५वीं, ३९वीं टुकड़ी से हथियार छीन लिये गये; इसके बाद शेष अंग्रेजों और वफादार सिखों ने नौशेरा तथा मरदान की घिरी हुई छावनियो को मुक्त किया, और मई के अन्त में, आसपास के स्थानों से कई योरोपियन रेजीमेन्टो को जमा करके उन्होंने अम्बाला की बड़ी छावनी को मुक्त किया, यहां पर जनरल एन्सन की कमान में एक सेना की बुनियाद डाली गयी... शिमला की पहाड़ी छावनी पर, जहां गरमी के मौसम के लिए गये अंग्रेज परिवारों की भीड थी, हमला नहीं किया गया।

मई २५ : एन्सन अपनी छोटी-सी सेना के साथ दिल्ली की ओर चल पड़ा; २७ मई को वह मर गया, उसकी जगह सर हेनरी बरनार्ड ने ली; ७ जून को जनरल विलसन के नीचे के अंग्रेज सैनिक उससे आ मिले (ये मेरठ से आये थे; रास्ते मे सिपाहियो से उनकी लड़ाई भी हुई थी)।

विद्रोह पूरे हिन्दुस्तान में फैल गया है, २० भिन्न-भिन्न स्थानों में एक साथ ही सिपाहियों ने विद्रोह कर दिया है और अंग्रेजों को मार डाला है; मुख्य केन्द्र हैं : आगरा, बरेली, मुरादाबाद। सिंधिया "अंग्रेजी कुत्तो" के प्रति वफादार है, परन्तु उसके सैनिक नही; पटियाला के राजा ने — उसे शर्म आनी चाहिए! — अंग्रेजो की मदद के लिए बहुत से सिपाही भेजे।

मैनपुरी में (उत्तर-पश्चिमी प्रान्त) एक जंगली नौजवान लेफ्टीनेन्ट, डे कान्ट-जोव ने खजाने और किले को बचा लिया। कानपुर में, ६ जून १८५७ को, उन तीन सिपाही रेजीमेन्टों तथा देशी घुड़सवार सेना की तीन रेजीमेन्टों की, जिन्होने कानपुर मे विद्रोह कर दिया था, कमान नाना साहब ने अपने हाथ मे ले ली; और सर ह्यूग ह्वीलर पर आक्रमण कर दिया; कानपुर फौजों के कमांडर सर ह्यूग ह्वीलर के पास पैदल सेना की केवल एक (अंग्रेज) बटेलियन थी और कुछ थोड़ी-सी मदद उसने बाहर से प्राप्त कर ली थी; किले और बैरकों की, जिनमें तमाम अंग्रेज, स्त्रिया, बच्चे भाग कर छिप गये थे, वह रक्षा करता रहा।

जून २६, १८५७ : नाना साहब ने कहा कि अगर कानपुर उन्हें सौंप दिया जाय तो तमाम योरोपियनों को वे सकुशल बाहर निकल जाने देंगे; २७ जून

को (ह्वीलर द्वारा प्रस्ताव के स्वीकार कर लिये जाने पर) ४०० बचे हुए लोगों को नावों पर बैठा कर गंगा के रास्ते से आने की इजाजत दी गयी; दोनों किनारों से नाना ने उनके ऊपर गोली चलायी; एक नाव भाग निकली, उस पर और आगे जाकर हमला किया गया, उसे डुबो दिया गया, पूरे गैरीसन के केवल ४ आदमी भाग सके। औरतों और बच्चों से भरी एक नाव, जो किनारे पर बालू में बुरी तरह फंस गयी थी, पकड़ ली गयी, उन्हें चला कर कानपुर ले जाया गया, जहां बन्दियों के रूप में उन्हें कोठरी मे बन्द कर दिया गया; १४ दिन बाद (जुलाई में) फतहगढ़ से (फरुखाबाद से तीन मील की दूरी पर स्थित छावनी से) विद्रोही सिपाही और भी अंग्रेज कैदियों को वहां पकड़ लाये।

कैनिंग की आज्ञा पाकर मद्रास, बम्बई, लंका से फौजें चल पड़ीं। २३ मई को नील की मातहती में मद्रास से सैनिक सहायता पहुंच गयी और बम्बई की सैनिक टुकड़ी सिंध नदी के रास्ते लाहौर की तरफ रवाना हो गयी।

जून १७ : सर पैट्रिक ग्रेन्ट (जो एन्सन की जगह बंगाल में कमांडर-इन चीफ नियुक्त हुए थे), जेनरल हैवलॉक तथा एडजुटेन्ट जेनरल कलकत्ते पहुंचे और फौरन वहां से रवाना हो गये।

जून ६ : इलाहाबाद में सिपाहियों ने बगावत कर दी, (अंग्रेज) अफसरों को उनकी पत्नियों और बच्चों के साथ उन्होंने हत्या कर दी, किले पर अधिकार करने की कोशिश की। किले की रक्षा कर्नल सिम्पसन कर रहा था, जिसे ११ जून को मद्रास के बन्दूकचियों के साथ कलकत्ता से आये कर्नल नील से मदद मिली; कर्नल नील ने तमाम सिखों को निकाल बाहर किया, किले पर कब्जा कर लिया, वहां केवल अंग्रेजों को रहने दिया। (रास्ते में उसने बनारस पर कब्जा कर लिया था और बगावत की पहली मंजिल में ही ३७वीं देशी पैदल सेना को हरा दिया था; सिपाही भाग गये थे); (अंग्रेज) सैनिक चारों तरफ से भाग-भाग कर इलाहाबाद पहुंचने लगे हैं।

जून ३० : इलाहबाद आकर जनरल हैवलॉक ने कमान संभाल ली, १००० अंग्रेजों को लेकर उसने कानपुर पर धावा बोल दिया; १२ जुलाई को फतहपुर में सिपाहियों के हमले को उसने नाकाम कर दिया, आदि; कुछ और सैनिक कारंवाइयां भी उसने की।

जुलाई १६ : हैवलॉक की सेना कानपुर के द्वार पर पहुंच गयी; हिन्दुस्तानियों को उसने हरा दिया, परन्तु दुर्ग के अन्दर घुसने में उसे बहुत देर हो गयी; रात में नाना ने तमाम अंग्रेज बंदियों को—अफसरों, महिलाओं, बच्चों को

कदवा डाला; इसके बाद शस्त्रागार को फलीता लगाकर उन्होंने उड़ा दिया और शहर खाली कर दिया। जुलाई १७ : अंग्रेजी फौजें अन्दर घुस आयी; हैवलॉक नाना की माद—बिठूर में घुस गया; बिना किसी विरोध के ही उस पर उसका अधिकार हो गया; महल को उसने नष्ट कर दिया, किले को गोलों से उड़ा दिया, उसके बाद वह कानपुर वापस आ गया; वहां पर कब्जा बनाये रखने और देखभाल के लिए उसने नील को छोड़ दिया; हैवलॉक स्वयं लखनऊ की मदद के लिए चल पड़ा; वहां सर हेनरी लारेन्स की कोशिशों के बावजूद रेजीडेन्सी को छोड़कर पूरा शहर विप्लवकारियों के हाथ में पहुंच गया।

जून ३० : पूरा गैरीसन आस-पास के विद्रोहियों की सेना के खिलाफ युद्ध के लिए निकल पड़ा; उसे पीछे धकेल दिया गया; फिर रेजीडेन्सी में जाकर उसने आश्रय लिया; इस जगह को भी घेर लिया गया।

जुलाई ४ : सर हेनरी लॉरेन्स की मृत्यु हो गयी (२ जुलाई को गोले के विस्फोट से उनको जो चोट लगी थी, उसके परिणामस्वरूप); कर्नल इंगलिस ने कमान संभाल ली; घेरा डालने वालों के विरुद्ध बीच-बीच में अचानक हमले करते हुए वह तीन महीने तक जमा रहा।— हैवलॉक ने ने सैनिक कार्रवाइयां की (पृष्ठ २७१)।[**] हैवलॉक के कानपुर वापस आ जाने पर सर जेम्स आउट्रम सैनिकों की एक भारी संख्या लेकर उनसे आ मिला, और विभिन्न बागी जिलों से अनेक अकेली पड़ गयीं रेजीमेन्टों को मदद के लिए वहां बुला लिया गया।

सितम्बर १९ : हैवलॉक, आउट्रम और नील के नेतृत्व में पूरी सेना ने गंगा को पार किया। २३ तारीख को लखनऊ से ८ मील के फासले पर स्थित अवध के बादशाहों के ग्रीष्म प्रासाद, आलमबाग पर हमला करके उन्होंने उस पर कब्जा कर लिया।

सितम्बर २५ : लखनऊ पर अंतिम धावा बोल दिया गया। फौजें रेजीडेन्सी पहुंच गयीं, इस संयुक्त सैन्य शक्ति को चारों तरफ से घिरी हुई अवस्था में वहां दो महीने तक और ठहरना पड़ा। (शहर की लड़ाई मे जनरल नील मारा गया; आउट्रम की बांह में संगीन चोट लगी।)

सितम्बर २० : जनरल विल्सन के नेतृत्व में ६ दिनों की वास्तविक लड़ाई के बाद दिल्ली पर कब्जा कर लिया गया। (ब्यौरे के लिए पृष्ठ २७२, २७३ देखिए।) अपने घुड़सवारों का नेतृत्व करता हुआ हौडसन महल में घुस गया, बूढ़े बादशाह और मलका (जीनत महल) को उसने गिरफ्तार कर लिया; उन्हें जेल में डाल दिया गया और हौडसन ने स्वयं अपने हाथों

से (गोली से) शाहजादों को मार डाला। दिल्ली में सेना तैनात कर दी गयी और शहर को शान्त कर दिया गया। इसके फौरन बाद कर्नल ग्रेटहेड दिल्ली से आगरा गया और उसके पास ही होल्कर की राजधानी इन्दौर से आये बागियों की एक मजबूत टुकड़ी को उसने हरा दिया।

अक्तूबर १० : उसने आगरा पर कब्जा कर लिया, फिर कानपुर की तरफ रवाना हो गया, जहां वह २६ अक्तूबर को पहुंचा; इसी बीच, विद्रोहियों को आजमगढ़, चत्रा (हजारीबाग के नजदीक), कजवा तथा दिल्ली के आस-पास के प्रदेश में कैप्टन बोइल्यू, मेजर इंगलिस, पील और शावर्स के नेतृत्व में हरा दिया गया (पील के साथ नौसैनिक ब्रिगेड भी था; स्वदेश से सहायता के लिए आये प्रोबिन और फेन के घुड़सवार सैनिक भी रणक्षेत्र में उतरने के लिए तैयार थे; स्वयंसेवकों की रेजीमेन्टें भी तैयार कर ली गयी थीं)। अगस्त में सर कॉलिन कैम्पबेल ने कलकत्ते की कमान अपने हाथ में ली और लड़ाई को और भी बड़े पैमाने पर चलाने की तैयारी शुरू कर दी।

नवम्बर १६, १८५७ : सर कॉलिन कैम्पबेल ने लखनऊ की रेजीडेन्सी में घिरे हुए गैरीसन को मुक्त किया। (सर हेनरी हैवलॉक २४ नवम्बर को मर गये); लखनऊ से—

नवम्बर २५, १८५७ : कॉलिन कैम्पबेल कानपुर की तरफ चल पड़े, यह शहर फिर विप्लवकारियों के हाथ में पहुंच गया था।

दिसम्बर ६, १८५७ : कानपुर के सामने कॉलिन कैम्पबेल द्वारा लड़े गये युद्ध में जीत हुई; विद्रोही शहर को खाली छोड़ कर भाग गये; सर होप ग्रैन्ट ने उनका पीछा किया और उनको खूब मारा। पटियाला और मैनपुरी में क्रमशः कर्नल सीटन तथा मेजर हौडसन ने विद्रोहियों को हरा दिया; और भी कई जगहों में ऐसा ही हुआ।

जनवरी २७, १८५८ : दिल्ली के बादशाह का डैवेस, आदि की मातहती में कोर्ट मॉर्शल किया गया, "विद्रोही" के रूप में उन्हें मौत की सजा दी गयी (वह १५२६ से चलते आये मुगल राजवंश के प्रतिनिधि थे !); सजा को कम करके आजन्म कालेपानी में बदल कर उन्हें रंगून भेज दिया गया; वर्ष के अन्त में उन्हें वहां ले जाया गया।

सर कॉलिन कैम्पबेल का १८५८ का सैनिक अभियान : २ जनवरी को उन्होंने फरुखाबाद और फतहगढ़ पर कब्जा किया, कानपुर में अपना पड़ाव डाला और आज्ञा जारी की कि हर जगह से उन तमाम सैनिकों, भंडारों और तोपों को जो खाली हों, वहां ले आया जाय। विद्रोही लखनऊ के आस-पास जमा

थे। वहां पर सर जेम्स आउट्रम उन्हें रोके हुए थे। अनेक अन्य संघर्षों के बाद (देखिए पृष्ठ २७६, २७७) १५ मार्च को लखनऊ पर फिर अधिकार कर लिया गया (कॉलिन कॅम्पबेल, सर जेम्स आउट्रम आदि के नेतृत्व मे); शहर को, जिसमें प्राच्यकला की बहुमूल्य वस्तुएं जमा थीं, लूट लिया गया; २१ मार्च को लडाई खत्म हो गयी आखिरी तोप २३ तारीख को चली थी। दिल्ली के शाह के बेटे शाहजादा फीरोज, बिठूर के नाना साहब, फैजाबाद के मौलवी और अवध की बेगम हजरत महल के नेतृत्व मे विद्रोही बरेली की ओर भाग गये।

अप्रैल २५, १८५८ : कैंपम्बेल ने शाहजहांपुर पर अधिकार कर लिया; मौग्स ने बरेली के पास विद्रोहियों के हमले को नाकाम कर दिया, ६ मई को घेरा डालने वाली तोपो ने बरेली पर गोलाबारी शुरू कर दी और मुरादाबाद पर कब्जा करने के बाद जनरल जोन्स पूर्व निश्चय के अनुसार वहां आ गया; नाना और उनके अनुयायी भाग खडे हुए, बरेली पर बिना किसी विरोध के कब्जा कर लिया गया। इसी दौरान, शाहजहापुर को, जिसे विद्रोहियों ने अच्छी तरह घेर लिया था, जनरल जोन्स ने आजाद कर लिया; लखनऊ से कूच करते हुए लुगार्ड के डिवीजन पर कुंवर सिंह के नेतृत्व में विद्रोहियों ने आक्रमण किया और उसे काफी नुकसान पहुचाया; सर होप ग्रैन्ट ने बेगम को हरा दिया, नई सैन्य-शक्तियो को जमा करने के लिए वह घाघरा नदी की तरफ भाग गयी, फैजाबाद के मौलवी इसके बाद जल्द ही मारे गये।

जून १८५८ के मध्य तक : विद्रोही तमाम जगहो पर हरा दिये गये हैं; संयुक्त कार्रवाई करने योग्य वे नही रहे, तितर-बितर होकर वे लुटेरों के गिरोहों में बंट गये है और अग्रेजो की बंटी हुई शक्तियो को खूब परेशान कर रहे है। संघर्ष के केन्द्र है : बेगम, दिल्ली के शाहजादे तथा नाना साहब के ध्वजा-वाहक।

मध्य-भारत में सर ह्यूग रोज के दो महीने (मई और जून) के फौजी अभियान ने विद्रोह पर अंतिम घातक प्रहार किया।

जनवरी १८५८ : रोज ने राहतगड पर अधिकार किया, फरवरी में सागर और गढ़कोटा को उसने अपने कब्जे मे ले लिया, फिर झासी की ओर, जहा रानी* जमीं हुई थी, कूच कर दिया।

अप्रैल १, १८५८ : नाना साहब के चचेरे भाई, तातिया टोपी के खिलाफ,

* रानी लक्ष्मी बाई। —सं.

से (गोली से) शाहजादों को मार डाला। दिल्ली में सेना तैनात कर दी गयी और शहर को शान्त कर दिया गया। इसके फौरन बाद कर्नल ग्रेटहेड दिल्ली से आगरा गया और उसके पास ही होल्कर की राजधानी इन्दौर से आये बागियों की एक मजबूत टुकड़ी को उसने हरा दिया।

अक्तूबर १० : उसने आगरा पर कब्जा कर लिया, फिर कानपुर की तरफ रवाना हो गया, जहां वह २६ अक्तूबर को पहुंचा; इसी बीच, विद्रोहियों को आजमगढ़, चत्रा (हजारीबाग के नजदीक), कजवा तथा दिल्ली के आस-पास के प्रदेश में कैप्टन बोइल्यू, मेजर इंगलिस, पील और शावर्स के नेतृत्व में हरा दिया गया (पील के साथ नौसैनिक ब्रिगेड भी था; स्वदेश से सहायता के लिए आये प्रोबिन और फेन के घुड़सवार सैनिक भी रणक्षेत्र में उतरने के लिए तैयार थे; स्वयंसेवकों की रेजीमेन्टें भी तैयार कर ली गयी थीं)। अगस्त में सर कॉलिन कैम्पबेल ने कलकत्ते की कमान अपने हाथ में ली और लड़ाई को और भी बड़े पैमाने पर चलाने की तैयारी शुरू कर दी।

नवम्बर १६, १८५७ : सर कॉलिन कैम्पबेल ने लखनऊ की रेजीडेन्सी में घिरे हुए गैरीसन को मुक्त किया। (सर हेनरी हैवलॉक २४ नवम्बर को मर गये); लखनऊ से—

नवम्बर २५, १८५७ : कॉलिन कैम्पबेल कानपुर की तरफ चल पड़े, यह शहर फिर विप्लवकारियों के हाथ में पहुंच गया था।

दिसम्बर ६, १८५७ : कानपुर के सामने कॉलिन कैम्पबेल द्वारा लड़े गये युद्ध में जीत हुई; विद्रोही शहर को खाली छोड़ कर भाग गये; सर होपे ग्रैन्ट ने उनका पीछा किया और उनको खूब मारा। पटियाला और मैनपुरी में क्रमशः कर्नल सीटन तथा मेजर हॉडसन ने विद्रोहियों को हरा दिया; और भी कई जगहों में ऐसा ही हुआ।

जनवरी २७, १८५८ : दिल्ली के बादशाह का डेवेस, आदि की मातहती में कोर्ट-मार्शल किया गया; "विद्रोही" के रूप में उन्हें मौत की सजा दी गयी (वह १५२६ से चलते आये मुगल राजवंश के प्रतिनिधि थे !); सजा को कम करके आजन्म कालेपानी में बदल कर उन्हें रंगून भेज दिया गया; वर्ष के अन्त में उन्हें वहां ले जाया गया।

सर कॉलिन कैम्पबेल का १८५८ का सैनिक अभियान : २ जनवरी को उन्होंने फर्रुखाबाद और फतहगढ़ पर कब्जा किया, कानपुर में अपना पड़ाव डाला और आज्ञा जारी की कि हर जगह से उन तमाम सैनिकों, भंडारों और तोपों को जो खाली हों, वहां ले आया जाय। विद्रोही लखनऊ के आस-पास जमा

थे। वहां पर सर जेम्स आउट्रम उन्हें रोके हुए थे। अनेक अन्य संघर्षों के बाद (देखिए पृष्ठ २७६, २७७) १५ मार्च को लखनऊ पर फिर अधिकार कर लिया गया (कॉलिन कैम्पबेल, सर जेम्स आऊट्रम आदि के नेतृत्व मे); शहर को, जिसमें प्राच्यकला की बहुमूल्य वस्तुएं जमा थीं, लूट लिया गया; २१ मार्च को लड़ाई खत्म हो गयी आखिरी तोप २३ तारीख को चली थी। दिल्ली के शाह के बेटे शाहजादा फीरोज, बिठूर के नाना साहब, फैजाबाद के मौलवी और अवध की बेगम हजरत महल के नेतृत्व मे विद्रोही बरेली की ओर भाग गये।

अप्रैल २५, १८५८ : कैम्पबेल ने शाहजहांपुर पर अधिकार कर लिया; मौन्स ने बरेली के पास विद्रोहियो के हमले को नाकाम कर दिया, ६ मई को घेरा डालने वाली तोपो ने बरेली पर गोलाबारी शुरू कर दी और मुरादाबाद पर कब्जा करने के बाद जनरल जोन्स पूर्व निश्चय के अनुसार वहां आ गया; नाना और उनके अनुयायी भाग खड़े हुए, बरेली पर बिना किसी विरोध के कब्जा कर लिया गया। इसी दौरान, शाहजहांपुर को, जिसे विद्रोहियों ने अच्छी तरह घेर लिया था, जनरल जोन्स ने आजाद कर लिया; लखनऊ से कूच करते हुए लुगार्ड के डिवीजन पर कुंवर सिंह के नेतृत्व में विद्रोहियो ने आक्रमण किया और उसे काफी नुकसान पहुचाया; सर होप ग्रैन्ट ने बेगम को हरा दिया, नई सैन्य-शक्तियो को जमा करने के लिए वह घाघरा नदी की तरफ भाग गयी; फैजाबाद के मौलवी इसके बाद जल्द ही मारे गये।

जून १८५८ के मध्य तक : विद्रोही तमाम जगहो पर हरा दिये गये हैं; संयुक्त कार्रवाई करने योग्य वे नही रहे, तितर-बितर होकर वे लुटेरों के गिरोहों मे बंट गये हैं और अंग्रेजो की बटी हुई शक्तियो को खूब परेशान कर रहे हैं। संघर्ष के केन्द्र हैं : बेगम, दिल्ली के शाहजादे तथा नाना साहब के ध्वजा-वाहक।

मध्य-भारत मे सर ह्यू्ग रोज के दो महीने (मई और जून) के फौजी अभियान ने विद्रोह पर अंतिम घातक प्रहार किया।

जनवरी १८५८ : रोज ने राहतगढ़ पर अधिकार किया, फरवरी मे सागर और गढकोटा को उसने अपने कब्जे में ले लिया, फिर झांसी की ओर, जहां रानी* जमी हुई थी, कूच कर दिया।

अप्रैल १, १८५८ : नाना साहब के चचेरे भाई, तांतिया टोपी के खिलाफ,

* रानी लक्ष्मी बाई। —सं.

जो झांसी की रक्षा के लिए काल्पी से उधर आये थे, सख्त लड़ाई की गयी; तातिया हार गये।

अप्रैल ४ : झांसी पर कब्जा कर लिया गया; रानी और तांतिया टोपी बच कर निकल गये, काल्पी में वे अंग्रेजों का इन्तजार करने लग गये; उनकी तरफ कूच करते हुए —

मई ७, १८५८ : कूंच के शहर में शत्रुओं की एक मजबूत शक्ति ने रोज पर हमला कर दिया; रोज ने उन्हें अच्छी तरह हरा दिया।

मई १६, १८५८ : रोज काल्पी के पास कुछ ही मील के फासले पर पहुंच गया है, विद्रोहियों को चारों तरफ से उसने घेर लिया है।

मई २२, १८५८ : काल्पी के विद्रोहियों ने हताश होकर अचानक हमला कर दिया; उनको परास्त कर दिया गया, वे भाग खड़े हुए।

मई २३, १८५८ : रोज ने काल्पी पर कब्जा कर लिया। अपने सैनिकों को, जो जबर्दस्त गर्मी के (अभियान के) कारण बहुत थक गये थे, विश्राम देने के लिए वह कुछ दिन वहीं टिक गया।

जून २ : नौजवान सिंधिया (अंग्रेजों का कुत्ता) को सख्त लड़ाई के बाद उसके सैनिकों ने ग्वालियर से मार भगाया, जान बचाने के लिए वह आगरा भाग गया। रोज ने ग्वालियर पर हमला बोल दिया; झांसी की रानी और तांतिया टोपी के नेतृत्व में विद्रोहियों ने मुकाबला किया—

जून १९ : लश्कर की पहाड़ी (ग्वालियर के सामने) पर लड़ाई हुई; रानी मारी गयी, भारी हत्या-कांड के बाद उनकी सेना तितर-बितर हो गयी। ग्वालियर अंग्रेजों के हाथ में पहुंच गया।

जुलाई, अगस्त, सितम्बर, १८५८ के दरम्यान : सर कॉलिन कैम्पबेल, सर होप ग्रैन्ट और जनरल वॉलपोल प्रमुख विद्रोहियों को ढूंढ-ढूंढ कर मारने तथा उन तमाम दुर्गों पर अधिकार कायम करने के काम में लगे रहे जिनके स्वामित्व के सम्बन्ध में झगड़ा था; बेगम ने फिर कुछ आखिरी लड़ाइयां लड़ीं, फिर नाना साहब के साथ राप्ती नदी के उस पार अंग्रेजों के कुत्ते, नेपाल के जंग बहादुर के इलाके में भाग गयीं; जंग बहादुर ने अंग्रेजों को इस बात की इजाजत दे दी कि उसके देश के अन्दर विद्रोहियों का पीछा करके वे उन्हें पकड़ ले जायें, इस प्रकार "दुस्साहसिकों के के अन्तिम दल भी छिन्न-भिन्न हो गये;" नाना और बेगम पहाड़ों में भाग गये और उनके अनुयायियों ने हथियार डाल दिये।

१८५९ के आरम्भ में : तांतिया टोपी के छिपने के स्थान का पता चल गया, उन पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें फांसी दे दी गयी। नाना साहब

को नेपाल में मर गया "मान लिया गया"। बरेली के खान को पकड़ कर गोली मार दी गयी; लखनऊ के मामू खां को आजन्म कारावास की सजा दी गयी; दूसरों को कालापानी भेज दिया गया, या भिन्न-भिन्न कालों के लिए जेल भेज दिया गया; अपनी रेजीमेन्टों के तितर-बितर हो जाने के बाद विद्रोहियों के अधिकांश भाग ने तलवार रख दी, वे रैयत बन गये। अवध की बेगम नेपाल के अन्दर काठमांडू में रहने लगी।

अवध के राज्य को जब्त कर लिया गया, कैनिंग ने उसे अंग्रेजों की भारतीय सरकार की सम्पत्ति घोषित कर दिया! सर जेम्स आउट्रम के स्थान पर सर रॉबर्ट मौंटगोमरी को अवध का चीफ कमिश्नर बना दिया गया।

ईस्ट इंडिया कम्पनी का अन्त। वह लड़ाई के खतम होने से पहले ही तोड़ दी गयी थी।

दिसम्बर १८५७ : पामर्सटन का इंडिया बिल; डायरेक्टर मंडल के तगडे विरोध के बावजूद फरवरी १८५९ मे उसका प्रथम पाठ पूरा हो गया; परन्तु उदारपथी मंत्रि-मंडल की जगह टोरी मन्त्रि-मंडल सत्ता में आ गया।

फरवरी १९, १९५८ : डिजरायली का इंडिया बिल (देखिए पृष्ठ २८१) पास न हो सका।

अगस्त २, १८५८ : लार्ड स्टैनली का इंडिया बिल पास हो गया और उसके द्वारा ईस्ट इंडिया कम्पनी का अन्त हो गया। भारत महान विक्टोरिया साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया।

कार्ल मार्क्स द्वारा १८७०-८०
के बीच लिखा गया।

पांडुलिपि के पाठ के अनुसार
छापा गया
जर्मन से अनुवाद किया
गया

जो झांसी की रक्षा के लिए काल्पी से उधर आये थे, सख्त लड़ाई की गयी; तातिया हार गये।

अप्रैल ४ : झांसी पर कब्जा कर लिया गया; रानी और तांतिया टोपी बच कर निकल गये, काल्पी मे वे अंग्रेजों का इन्तजार करने लग गये; उनकी तरफ कूच करते हुए —

मई ७, १८५८ : कुंच के शहर में शत्रुओं की एक मजबूत शक्ति ने रोज पर हमला कर दिया; रोज ने उन्हें अच्छी तरह हरा दिया।

मई १६, १८५८ : रोज काल्पी के पास कुछ ही मील के फासले पर पहुंच गया है, विद्रोहियों को चारो तरफ से उसने घेर लिया है।

मई २२, १८५८ : काल्पी के विद्रोहियों ने हताश होकर अचानक हमला कर दिया; उनको परास्त कर दिया गया, वे भाग खड़े हुए।

मई २३, १८५८ : रोज ने काल्पी पर कब्जा कर लिया। अपने सैनिकों को, जो जबर्दस्त गर्मी के (अभियान के) कारण बहुत थक गये थे, विश्राम देने के लिए वह कुछ दिन वहीं टिक गया।

जून २ : नौजवान सिंधिया (अंग्रेजों का कुत्ता) को सख्त लड़ाई के बाद उसके सैनिकों ने ग्वालियर से मार भगाया, जान बचाने के लिए वह आगरा भाग गया। रोज ने ग्वालियर पर हमला बोल दिया; झांसी की रानी और तांतिया टोपी के नेतृत्व मे विद्रोहियों ने मुकाबला किया—

जून १९ : लश्कर की पहाड़ी (ग्वालियर के सामने) पर लड़ाई हुई; रानी मारी गयी, भारी हत्या-कांड के बाद उनकी सेना तितर-बितर हो गयी। ग्वालियर अंग्रेजों के हाथ में पहुंच गया।

जुलाई, अगस्त, सितम्बर, १८५८ के दरम्यान : सर कॉलिन कैम्पबेल, सर होप ग्रैन्ट और जनरल वॉलपोल प्रमुख विद्रोहियों को ढूंढ़-ढूंढ कर मारने तथा उन तमाम दुर्गों पर अधिकार कायम करने के काम में लगे रहे जिनके स्वामित्व के सम्बंध में झगडा था; बेगम ने फिर कुछ आखिरी लड़ाइयां लड़ीं, फिर नाना साहब के साथ राप्ती नदी के उस पार अंग्रेजों के कुत्ते, नेपाल के जंग बहादुर के इलाके में भाग गयी; जंग बहादुर ने अंग्रेजों को इस बात की इजाजत दे दी कि उसके देश के अन्दर विद्रोहियों का पीछा करके वे उन्हें पकड़ ले जायें, इस प्रकार "दुस्साहसिकों के के अन्तिम दल भी छिन्न-भिन्न हो गये;" नाना और बेगम पहाड़ों में भाग गये और उनके अनुयायियों ने हथियार डाल दिये।

१८५९ के आरम्भ में : तांतिया टोपी के छिपने के स्थान का पता चल गया, उन पर मुकदमा चलाया गया और उन्हें फांसी दे दी गयी। नाना साहब

को नेपाल में मर गया "मान लिया गया"। बरेली के खान को पकड़ कर गोली मार दी गयी; लखनऊ के मामू खां को आजन्म कारावास की सजा दी गयी; दूसरों को कालापानी भेज दिया गया, या भिन्न-भिन्न कालों के लिए जेल भेज दिया गया; अपनी रेजीमेन्टों के तितर-वितर हो जाने के बाद विद्रोहियों के अधिकांश भाग ने तलवार रख दी, वे रैयत बन गये। अवध की बेगम नेपाल के अन्दर काठमांडू में रहने लगीं।

अवध के राज्य को जब्त कर लिया गया, कैनिंग ने उसे अंग्रेजों की भारतीय सरकार की सम्पत्ति घोषित कर दिया! सर जेम्स आउट्रम के स्थान पर सर रॉबर्ट मोंटगोमरी को अवध का चीफ कमिश्नर बना दिया गया।

ईस्ट इंडिया कम्पनी का अन्त। वह लड़ाई के खत्म होने से पहले ही तोड़ दी गयी थी।

दिसम्बर १८५७ : पामर्सटन का इंडिया बिल; डायरेक्टर मंडल के तगड़े विरोध के बावजूद फरवरी १८५९ में उसका प्रथम पाठ पूरा हो गया; परन्तु उदारपंथी मंत्रि-मंडल की जगह टोरी मंत्रि-मंडल सत्ता में आ गया।

फरवरी १९, १९५८ : डिजरायली का इंडिया बिल (देखिए पृष्ठ २८१) पास न हो सका।

अगस्त २, १८५८ : लार्ड स्टैनली का इंडिया बिल पास हो गया और उसके द्वारा ईस्ट इंडिया कम्पनी का अन्त हो गया। भारत महान विक्टोरिया साम्राज्य का एक प्रान्त बन गया।

कार्ल मार्क्स द्वारा १८७०-८०
के बीच लिखा गया।

पांडुलिपि के पाठ के अनुसार
छापा गया
जर्मन से अनुवाद किया
गया

है। बम्बई में हर बटालियन में १५० या इससे अधिक भारतीय हैं और वे खतरनाक हैं, क्योंकि ये लोग दूसरो को बगावत करने के लिए भड़का सकते हैं। अगर बम्बई की सेना बगावत कर देती है, तो फिर फिलहाल तमाम फौजी भविष्यवाणियां करने का काम हमें बन्द कर देना पडेगा। उस समय एक-मात्र चीज जो निश्चित होगी, वह यह है कि कश्मीर से लेकर कुमारी अन्तरीप तक एक जबर्दस्त कत्लेआम मच जायगा। बम्बई में परिस्थिति अगर ऐसी है कि सेना का इस्तेमाल विप्लवकारियों के विरुद्ध नहीं किया जा सकता, तो यह आवश्यक है कि कम-से-कम मद्रास की सेनाओं को जो अब नागपुर से आगे बढ़ चुकी हैं—और मजबूत किया जाय तथा इलाहाबाद अथवा बनारस के साथ जल्द-से-जल्द सम्पर्क स्थापित किया जाय।

वर्तमान ब्रिटिश नीति की मूर्खतापूर्ण स्थिति का कारण यह है कि उसकी सेनाओं का कोई वास्तविक सर्वोच्च कमान नहीं है। उसकी यह मूर्खता मुख्यतया दो परस्पर सम्पूरक रूपों में सामने आ रही है: एक तरफ तो अपनी सैनिक शक्तियों को छोटी-छोटी टुकडियों में विभाजित करके वे अपने को छोटी-छोटी बिखरी हुई चौकियों में अटकाये ले रहे हैं; और, दूसरी तरफ, उनके पास जो एकमात्र द्रुतगामी सेना है, उसे वे दिल्ली में फंसाये दे रहे हैं जहा कि वह न केवल कुछ कर नही सकती, बल्कि स्वयं मुसीबत में पडती जा रही है। दिल्ली पर धावा करने का आदेश जिस अंग्रेज जनरल ने दिया था, उसका कोर्ट-मार्शल किया जाना चाहिए और उसे फासी दे दी जानी चाहिए, क्योंकि जो बात हमे हाल में मालूम हुई है, उसको उसे भी जानना चाहिए था। बात यह है कि उस शहर की पुरानी किलेबदियों को स्वयं अंग्रेजों ने इस तरह पक्का करवा दिया कि उस पर केवल तभी अधिकार किया जा सकता है जब कि १५ से २० हजार सैनिक उसे बाकायदा घेर लें। और उस दुर्ग की अगर अच्छी तरह रक्षा की जाती है, तब तो उस पर कब्जा करने के लिए और भी अधिक सैनिकों की जरूरत होगी। पर अंग्रेज सैनिक चूंकि अब वहां पहुंच गये हैं, इसलिए राजनीतिक कारणों से यहां जमे रहने के लिए वे मजबूर हैं। पीछे हटने का मतलब हार होगी, और इसके बाद भी उससे वे मुश्किल से ही बच सकेंगे।

हैवलॉक की फौजों ने बहुत किया है। ऐसी आबोहवा और ऐसे मौसम मे ८ दिनों के अन्दर १२६ मील चलना तथा ६ या ८ लड़ाइयां लड़ लेना मानवीय सहन-शक्ति से परे है। परन्तु उसके सैनिक थक कर चूर हो गये हैं, इसलिए, कानपुर के इर्द-गिर्द थोड़े-थोड़े फासलों पर हमले करके अपनी शक्ति को और भी अधिक कमजोर कर लेने के बाद, संभवतः उसे भी अपने को वहीं पर घिर जाने देना होगा, अथवा फिर उसे इलाहाबाद लौटना होगा।

पुनर्विजय की वास्तविक रेखा गंगा की उपत्यका से ऊपर की ओर जाती है। बंगाल पर अधिकार बनाये रखना अपेक्षाकृत आसान है, क्योंकि वहां के लोग बुरी तरह पस्त हो गये हैं। वास्तव में खतरनाक क्षेत्र दानापुर के समीप से शुरू होता है। यही कारण है कि दानापुर, बनारस, मिर्जापुर और खास तौर से इलाहाबाद, अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं; इलाहाबाद से पहले अंग्रेज दोआब (गंगा-जमुना के बीच के प्रदेश) और दोनों नदियों के तटों पर स्थित नगरों को फतह कर सकते हैं, फिर अवध को, और बाद में शेष भाग को। मद्रास और बम्बई से आगरा और इलाहाबाद के मार्ग केवल गौण दरजे की सैनिक कार्रवाइयों के काम आ सकते हैं।

सबसे महत्वपूर्ण चीज, हमेशा की तरह, केन्द्रीकरण है। गंगा से ऊपर की ओर जो कुमक भेजी गयी है, वह बिल्कुल बिखरी पडी है। अभी तक एक भी आदमी इलाहाबाद नही पहुचा है। इन चौकियों को सुदृढ करने की दृष्टि से शायद यह अनिवार्य है, अथवा हो सकता है कि ऐसा न हो। हर हालत मे, जिन चौकियों की रक्षा करनी है, उनकी संख्या को घटाकर कम-से-कम कर दिया जाना चाहिए, क्योंकि लड़ाई के लिए शक्तियो का केन्द्रीकरण किया जाना चाहिए। कॉलिन कैम्पबेल के बारे मे अभी तक हम सिर्फ यही जानते हैं कि वह बहादुर है : परन्तु अगर एक जनरल के रूप में वह नाम करना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह चाहे दिल्ली का परित्याग करे या नहीं, लेकिन किसी भी कीमत पर* एक चलती-फिरती सेना तैयार कर ले। और जहां पर २५ से ३० हजार तक योरोपियन सिपाही मौजूद हैं, वहां स्थिति इतनी खराब नही हो सकती कि कूच के लिए उसे ५ हजार सैनिक भी न मिल सकें। फिर अपनी क्षतियो की पूर्ति ये लोग दूसरी चौकियों के गैरीसनों से कर लेंगे। कैम्पबेल को केवल तभी इस बात का पता चल सकेगा कि उसकी असली स्थिति क्या है और बुनियादी तौर से उसका किस प्रकार के विरोधी से मुकाबला है। परन्तु, अंदेशा यही है कि एक बेवकूफ की तरह‡ वह दिल्ली के सामने जमकर बैठ जायगा और वहां बैठा-बैठा देखेगा कि १०० प्रति दिन के हिसाब मे उसके सैनिक किस तरह मरते जाते हैं, और इसी बात में वह अपनी "शूर-वीरता" मानेगा कि जब तक वे सब मौत के मुह मे नही पहुंच जाते, तब तक वहीं जमा रहे। वीरता-पूर्ण मूर्खता का आज भी पहले जैसा चलन है!

आमने-सामने की लड़ाई के लिए उत्तर में सैनिक-शक्तियों का केन्द्रीकरण किया जाय; मद्रास से और संभव हो तो बम्बई से उनको जबर्दस्त सहायता

---

* coute que coute.

‡ ira se blottir devant.

है। बम्बई में हर बटालियन में १५० या इससे अधिक भारतीय हैं और वे खतरनाक हैं, क्योंकि ये लोग दूसरों को बगावत करने के लिए भड़का सकते हैं। अगर बम्बई की सेना बगावत कर देती है, तो फिर फिलहाल तमाम फौजी भविष्यवाणियां करने का काम हमें बन्द कर देना पड़ेगा। उस समय एक-मात्र चीज जो निश्चित होगी, वह यह है कि कश्मीर से लेकर कुमारी अन्तरीप तक एक जबर्दस्त कत्लेआम मच जायगा। बम्बई में परिस्थिति अगर ऐसी है कि सेना का इस्तेमाल विप्लवकारियों के विरुद्ध नहीं किया जा सकता, तो यह आवश्यक है कि कम-से-कम मद्रास की सेनाओं को जो अब नागपुर से आगे बढ चुकी हैं—और मजबूत किया जाय तथा इलाहाबाद अथवा बना-रस के साथ जल्द-से-जल्द सम्पर्क स्थापित किया जाय।

वर्तमान ब्रिटिश नीति की मूर्खतापूर्ण स्थिति का कारण यह है कि उसकी सेनाओं का कोई वास्तविक सर्वोच्च कमान नहीं है। उसकी यह मूर्खता मुख्यतया दो परस्पर सम्पूरक रूपों मे सामने आ रही है : एक तरफ तो अपनी सैनिक शक्तियो को छोटी-छोटी टुकड़ियों मे विभाजित करके वे अपने को छोटी-छोटी बिखरी हुई चौकियो मे अटकाये ले रहे हैं; और, दूसरी तरफ, उनके पास जो एकमात्र द्रुतगामी सेना है, उसे वे दिल्ली में फंसाये दे रहे हैं जहां कि वह न केवल कुछ कर नही सकती, बल्कि स्वय मुसीबत में पड़ती जा रही है। दिल्ली पर धावा करने का आदेश जिस अंग्रेज जनरल ने दिया था, उसका कोर्ट-मॉर्शल किया जाना चाहिए और उसे फासी दे दी जानी चाहिए, क्योंकि जो बात हमे हाल में मालूम हुई है, उसको उसे भी जानना चाहिए था। बात यह है कि उस शहर की पुरानी किलेबन्दियों को स्वयं अंग्रेजों ने इस तरह पक्का करवा दिया कि उस पर केवल तभी अधिकार किया जा सकता है जब कि १५ से २० हजार सैनिक उसे बाकायदा घेर लें। और उस दुर्ग की अगर अच्छी तरह रक्षा की जाती है, तब तो उस पर कब्जा करने के लिए और भी अधिक सैनिकों की जरूरत होगी। पर अंग्रेज सैनिक चूंकि अब वहां पहुंच गये हैं, इसलिए राजनीतिक कारणों से वहां जमे रहने के लिए वे मजबूर हैं। पीछे हटने का मतलब हार होगी, और इसके बाद भी उससे वे मुश्किल से ही बच सकेंगे।

हैवलॉक की फौजों ने बहुत किया है। ऐसी आबोहवा और ऐसे मौसम में ८ दिनों के अन्दर १२६ मील चलना तथा ६ या ८ लड़ाइयां लड लेना मानवीय सहन-शक्ति से परे है। परन्तु उसके सैनिक थक कर चूर हो गये हैं, इसलिए, कानपुर के इर्द-गिर्द थोड़े-थोड़े फासलों पर हमले करके अपनी शक्ति को और भी अधिक कमजोर कर लेने के बाद, संभवतः उसे भी अपने को वहीं पर घिर जाने देना होगा, अथवा फिर उसे इलाहाबाद लौटना होगा।

पुनर्विजय की वास्तविक रेखा गंगा की उपत्यका से ऊपर की ओर जाती है। बंगाल पर अधिकार बनाये रखना अपेक्षाकृत आसान है, क्योंकि वहां के लोग बुरी तरह पस्त हो गये हैं। वास्तव में खतरनाक क्षेत्र दानापुर के समीप से शुरू होता है। यही कारण है कि दानापुर, बनारस, मिर्जापुर और खास तौर से इलाहाबाद, अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं; इलाहाबाद से पहले अंग्रेज दोआब (गंगा-जमुना के बीच के प्रदेश) और दोनों नदियों के तटों पर स्थित नगरों को फतह कर सकते हैं, फिर अवध को, और बाद में शेष भाग को। मद्रास और बम्बई से आगरा और इलाहाबाद के मार्ग केवल गौण दरजे की सैनिक कार्रवाइयों के काम आ सकते हैं।

सबसे महत्वपूर्ण चीज, हमेशा की तरह, केन्द्रीकरण है। गंगा से ऊपर की ओर जो कुमक भेजी गयी है, वह बिल्कुल बिखरी पड़ी है। अभी तक एक भी आदमी इलाहाबाद नहीं पहुंचा है। इन चौकियों को सुदृढ करने की दृष्टि से शायद यह अनिवार्य है, अथवा हो सकता है कि ऐसा न हो। हर हालत में, जिन चौकियों की रक्षा करनी है, उनकी संख्या को घटाकर कम-से-कम कर दिया जाना चाहिए, क्योंकि लड़ाई के लिए शक्तियों का केन्द्रीकरण किया जाना चाहिए। कॉलिन कैम्पबेल के बारे में अभी तक हम सिर्फ यही जानते हैं कि वह बहादुर है : परन्तु अगर एक जनरल के रूप में वह नाम करना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह चाहे दिल्ली का परित्याग करे या नहीं, लेकिन किसी भी कीमत पर* एक चलती-फिरती सेना तैयार कर ले। और जहां पर २५ से ३० हजार तक योरोपियन सिपाही मौजूद हैं, वहां स्थिति इतनी खराब नहीं हो सकती कि कूच के लिए उसे ५ हजार सैनिक भी न मिल सकें। फिर अपनी क्षतियों की पूर्ति ये लोग दूसरी चौकियों के गैरीसनों से कर लेंगे। कैम्पबेल को केवल तभी इस बात का पता चल सकेगा कि उसकी असली स्थिति क्या है और बुनियादी तौर से उसका किस प्रकार के विरोधी से मुकाबला है। परन्तु, अंदेशा यही है कि एक बेवकूफ की तरह‡ वह दिल्ली के सामने जमकर बैठ जायगा और वहां बैठा-बैठा देखेगा कि १०० प्रति दिन के हिसाब से उसके सैनिक किस तरह मरते जाते हैं, और इसी बात में वह अपनी "शूर-वीरता" मानेगा कि जब तक वे सब मौत के मुंह मे नही पहुंच जाते, तब तक वहीं जमा रहे। वीरता-पूर्ण मूर्खता का आज भी पहले जैसा चलन है!

आमने-सामने की लड़ाई के लिए उत्तर में सैनिक-शक्तियों का केन्द्रीकरण किया जाय; मद्रास से और संभव हो तो बम्बई से उनको जबर्दस्त सहायता

---

* coute que coute.

‡ ira se blottir devant.

भेजी जाय—बस केवल इसी चीज की आवश्यकता है। नर्मदा तट के मराठा सरदार भी साथ छोड़ कर अगर अलग हो जाते हैं, तब भी कोई फर्क नहीं होगा, और किसी वजह से नहीं तो केवल इस वजह से कि उनके सैनिक पहले से ही विद्रोहियों के साथ हैं। कुछ भी हो, अधिक से अधिक जो किया जा सकता है, वह यह है कि अक्तूबर के अन्त तक, यानी योरप से नई सैनिक कुमक के आने तक, अपनी स्थिति को बचाये रखा जाय।

परन्तु बम्बई की कुछ और रेजीमेन्टें यदि बगावत कर देती हैं, तो पूरा मामला ही निपट जायगा, क्योंकि फिर तोपों और रणनीति का कहीं कोई महत्व नही रह जायगा...।

एंगेल्स का मार्क्स के नाम

२, एडवर्ड प्लेस, जर्सी, २९ अक्तूबर, १८५७

...सिपाहियों ने दिल्ली की फसीलों की रक्षा बुरी तरह से की होगी; सबसे बड़े मजाक की चीज गलियों की लड़ाई थी जिसमे, साफ है कि, आगे लड़ने के लिए देशी सैनिको को भेज दिया गया था। वास्तविक घेरेबन्दी इस तरह ५ से १४ तारीख तक रही थी; उसके बाद जो हुआ वह घेरेबन्दी नही थी। ५ या ६ तारीख को अंग्रेजी सेनाएं फसील के पास, ३०० से ४०० गज तक के फासले तक, पहुंच गयी थी। जहाजों की भारी तोपों की मदद से इतने फासले से अरक्षित फसील मे दरारें बना लेने के लिए इतना वक्त काफी था। लगता है कि फसीलों के ऊपर लगी तोपों का इस्तेमाल भी अच्छी तरह नहीं किया गया, वरना उनके पास इतनी जल्दी अंग्रेज पहुच न पाते...

एंगेल्स का मार्क्स के नाम

३१ दिसम्बर, १८५७

प्रिय मूर,

भारतीय समाचारों से सम्बंधित अखबारों के लिए मैंने सारा शहर छान डाला है; गार्जियन की अपनी प्रतियां परसो ही मैं आपके पास भेज चुका हूं। वे अंक न तो मुझे गार्जियन[1] के दफ्तर में मिल पाये हैं, न एक्जामिनर[2] और टाइम्स के यहा। बैंलफील्ड के पास भी और अंक नहीं हैं। खयाल

था कि लेख आपने मंगल को लिख डाला होगा। इन परिस्थितियों के अन्दर मैं इस स्थिति में नहीं हूं कि लेख लिख सकूं। इस बात का इसलिए और भी मुझे ज्यादा अफसोस है कि चार हफ्तों में यह पहली शाम मुझे ऐसी मिली है जिसमें दूसरे जरूरी कामों का नुकसान किये बिना मैं उसे लिख सकता था। भविष्य मे, फौजी विषयों से सम्बंधित लेखों के बारे में अपनी इच्छाओ से मुझे जितनी जल्दी संभव हो, उतना पहले ही अवगत करा दिया कीजिए। इस समय २४ घंटे का समय भी मेरे लिए बहुत होता है।

कुछ भी हो, सूचनाएं एकदम इतनी कम हैं और हर चीज तार द्वारा कानपुर में कलकत्ता भेजे गये समाचारों के ऊपर इस तरह आधारित है कि उनके सम्बंध में टीका-टिप्पणी कर सकना लगभग असंभव है। मुख्य बातें निम्न हैं। कानपुर से लखनऊ (आलमबाग) का फासला ४० मील है। हैवलॉक की विवशतापूर्ण यात्राओं से मालूम होता है कि भारत में १५ मील का कूच भी बहुत होता है और उसमें बहुत समय लगता है। इस स्थिति में भी कॉलिन* को सिर्फ दो या तीन किश्तों मे ही कूच करना था। कानपुर से रवाना होने के बाद, हर हालत में, तीसरे दिन रोशनी रहते ही उसे आलमबाग पहुंच जाना चाहिए था। वहां पहुंचने के बाद भी उसके पास इतना समय होना चाहिए था कि वह फौरन हमला शुरू कर सके। कॉलिन के मार्च की सफलता को इसी कसौटी पर परखा जाना चाहिए। मुझे तारीखों की याद नहीं है। दूसरे, उसके पास लगभग ७,००० सैनिक थे (खयाल किया जाता था कि उसके पास और ज्यादा आदमी थे, किन्तु कलकत्ते और कानपुर के बीच की यात्रा बहुत बुरी रही होगी और, निश्चय ही, बहुत से आदमी उसमें काम आ गये होंगे), और यदि अवध के लोगों को उसने (आलमबाग और लखनऊ के गैरीसनों समेत) लगभग ७,००० सैनिकों की मदद से हरा दिया, तो यह कोई बहुत बहादुरी का काम नहीं था। हमेशा माना गया है कि ५,००० से ७,००० अंग्रेजों की सेना भारत में कहीं चली जा सकती है और खुले मैदान में कुछ भी कर ले सकती है। इससे विरोधियों का चरित्र एकदम स्पष्ट हो जाता है। इस सम्बंध में इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि अवध के निवासी गंगा की घाटी की यद्यपि सबसे लड़ाकू कौम हैं, फिर भी — इसी वजह से कि योरोपियन संगठन के अन्तर्गत प्रत्यक्ष रूप से वे कभी नहीं रहे — अनुशासन, संगठन-बद्धता, शस्त्रास्त्र आदि की दृष्टि से सिपाहियों की तुलना मे वे बहुत पीछे हैं। इसलिए मुख्य लड़ाई दौड़ते-भागते हुए लड़ी जाने वाली लड़ाई थी, अर्थात ऐसी लड़ाई जिसमें इधर-उधर मुठभेड़ें हुई थी

---

* कैम्पबेल। —सं.

और अवध-वासियों को एक जगह से दूसरी जगह दौड़ाया गया था। यह बात सही है कि योरप में सबसे खराब हल्के पैदल सैनिक, रूसियों के साथ साथ अंग्रेज ही होते हैं, परन्तु क्राइमिया में उन्होंने कुछ सीख लिया है। और, अवधवासियों की तुलना में इस दृष्टि से भी वे बहुत अच्छी स्थिति में थे कि मुठभेड़ों में भाग लेने वाले उनके सैनिकों की अच्छी और नियमित सहायता के लिए रक्षक दल बाकायदा मुस्तैद थे और खन्दकें बनी हुई थीं; वे सब एक ही कमांडर के मातहत थे और एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए संयुक्त रूप से प्रयत्नशील थे। इसके विपरीत, उनके विरोधी, आम एशियाई ढंग के अनुसार ही, अनियमित दलों में बिखरे हुए थे; उनमें से हर आदमी मोर्चे की ओर बढ़ने की कोशिश करता था जिससे कि अंग्रेज एक ही गोली से छै-छै आदमियों को मार लेते थे। उनकी सहायता की कोई नियमित व्यवस्था नहीं थी, न पीछे कोई कुमक मौजूद थी; और उनके हर गिरोह का खुद अपना जातीय कमांडर होता था जो दूसरे तमाम जातीय गिरोहों से अलग-थलग स्वतन्त्र रूप से काम करता था। इस बात को फिर से कह दिया जाना चाहिए कि अभी तक एक भी ऐसे उदाहरण के बारे में हमने नहीं सुना है जिससे यह मालूम हो कि भारत की कोई भी विप्लवकारी सेना कभी किसी एक सर्वमान्य प्रधान के नीचे उचित रूप में संगठित की गयी थी! लड़ाई के स्वरूप के सम्बंध में आये समाचारों से और कोई संकेत नहीं मिलता। इसके अलावा, वहां के प्रदेश का कोई विवरण प्राप्त नहीं है और न ही इसका कोई ब्यौरा आया है कि सेनाओं का किस प्रकार इस्तेमाल किया गया है। इसलिए मैं और अधिक कुछ नहीं कह सकता (खास तौर से याददाश्त के आधार पर)।...

मार्क्स का एंगेल्स के नाम

१४ जनवरी, १८५८

...तुम्हारा लेख शैली और ढंग में शानदार है और न्यू-रेनिशे ज़ीटुंग" के सर्वोत्तम दिनों की याद दिलाता है। जहां तक विंढम की बात है, हो सकता है कि वह बहुत बुरा जनरल हो, लेकिन इस बार उसकी बदकिस्मती यह थी कि उसे रंगरूटों को लेकर लड़ाई में जाना पड़ा था। रेडान में यही उसकी खुशकिस्मती थी। आम तौर से मेरी राय है कि यह दूसरी सेना जो अंग्रेजों ने भारतीयों को भेंट चढ़ा दी है—और उसमें का एक भी आदमी वापिस लौटकर नहीं आयेगा — किसी भी तरह पहली सेना का मुकाबला नहीं कर सकती।

मालूम होता है कि वह पहली सेना बहादुरी, आत्मनिर्भरता तथा दृढ़ता के साथ लड़ती हुई लगभग पूरी की पूरी साफ हो गयी है। जहां तक सैनिकों के ऊपर मौसम के असर की बात है, तो — जिन दिनों अस्थायी रूप से सैनिक विभाग का मैं संचालन कर रहा था, उन दिनों — विभिन्न लेखों में पक्का हिसाब लगाकर मैं यह दिखला चुका हूं कि अंग्रेजों की सरकारी रिपोर्टों में (सैनिकों की) मृत्यु का जो अनुपात बताया जाता था, वह उससे कहीं अधिक था। आदमियों और सोने के रूप में अंग्रेजों को जो कीमत चुकानी पड़ रही है, उसे देखते हुए अब भारत हमारा सर्वोत्तम मित्र है। ...

मार्क्स का एंगेल्स के नाम

९ अप्रैल, १८५९

... भारत की वित्तीय अव्यवस्था को भारतीय विद्रोह के ही वास्तविक परिणाम के रूप में देखा जाना चाहिए। अगर उन वर्गों के ऊपर टैक्स नहीं लगाये जाते जो आज तक इंगलैंड के सबसे पक्के समर्थक रहे हैं, तो व्यवस्था के एकदम बैठ जाने का खतरा अनिवार्य मालूम देता है। परन्तु बुनियादी तौर से इससे भी बहुत मदद नहीं मिलने वाली है। मजाक तो यह है कि अपनी मशीन को चालू रखने के लिए जॉन बुल को अब साल-दर-साल भारत को ४० से ५० लाख पौण्ड नगद देने पड़ेंगे, और इस मजेदार घुमाव-फिराव के ढंग से अपने राष्ट्रीय कर्ज को भी फिर उसे इसी अनुपात में बराबर बढ़ाते जाना पड़ेगा। निश्चय ही इस बात को मानना पड़ेगा कि मैन्चेस्टर के सूती माल के लिए भारतीय बाजार को बहुत ही मंहगी कीमत पर खरीदा जा रहा है। फौजी कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार, २ लाख से २ लाख ६० हजार देशी सैनिकों के साथ-साथ ८० हजार योरोपियनों को भी अनेक वर्षों तक भारत में रखना जरूरी होगा। इसका खर्चा लगभग २ करोड़ पौण्ड आता है, जबकि वास्तविक आमदनी केवल ढाई करोड़ पौण्ड होती है। इसके अलावा, विद्रोह ने ५ करोड़ पौण्ड का एक स्थायी कर्ज बढ़ा दिया है, अथवा विलसन के अनुमान के अनुसार, ३० लाख पौण्ड वार्षिक घाटे की एक स्थायी व्यवस्था उसने पैदा कर दी है। फिर रेलों के सम्बंध में इस बात की गारंटी दी गयी है कि जब तक वे चालू नहीं हो जातीं, तब तक २० लाख पौण्ड सालाना दिया जायगा, और अगर उनकी शुद्ध आमदनी ५ प्रतिशत तक नहीं होती तो एक छोटी सी रकम स्थायी तौर से उन्हें दी जायगी। अभी तक (रेल की उस छोटी सी लाइन को छोड़कर

जो तैयार है) भारत को इस व्यापार से कुछ नहीं मिला है। बस अंग्रेज पूंजीपतियों को उनकी पूंजी पर ५ प्रतिशत रकम चुकाने का सम्मान उसे प्राप्त हुआ है ! लेकिन जॉन बुल ने स्वयं अपने को धोखा दिया है, अथवा कहना चाहिए कि स्वयं उसके पूंजीपतियों ने उसे धोखा दिया है। भारत तो केवल नाम के लिए देता है; वास्तव में तो जॉन बुल ही भरता है। उदाहरण के लिए, स्टैनली के ऋण का अधिकांश भाग इसलिए लिया गया था कि अंग्रेज पूंजीपतियो को उन रेलो की मद मे ५ प्रतिशत के हिसाब से रकम दी जा सके जिनको अभी तक उन्होंने बनाना भी शुरू नही किया है। अन्त में, अब तक लगभग ४० लाख पौण्ड सालाना की जो आय अफीम से होती थी, चीनी संधि के कारण वह बहुत खतरे मे पड गयी है। इजारेदारी हर हालत में खत्म होनेवाली है, और जल्दी ही अफीम की खेती स्वयं चीन में ही बढ जानेवाली है। अफीम की आमदनी का आधार केवल यही था कि वह एक वर्जित वस्तु थी। मेरी राय में, भारत की वर्तमान वित्तीय विपत्ति भारतीय युद्ध से भी अधिक भयंकर चीज है... ।

कि उसे रगडंटा ५.
खुशकिस्मती थी। आम तौर स ..
भारतीयों को भेंट चढ़ा दी है—और उ.
नहीं आयेगा—किसी भी तरह पहली सि१.

टिप्पणियां

१. "भारत में ब्रिटिश शासन" नामक लेख मार्क्स ने ईस्ट इंडिया कम्पनी के पट्टे के बढ़ाये जाने से सम्बंधित उन बहसों के विषय में लिखा था जो कामन्स सभा मे हुई थी। यह न्यू-यौर्क डेली ट्रिब्यून में प्रकाशित हुआ था।

न्यू-यौर्क डेली ट्रिब्यून १८४१ से १९२४ तक निकला था। उसकी स्थापना प्रमुख अमरीकी पत्रकार और राजनीतिज्ञ होरेस ग्रीले ने की थी। १८५०-६० के मध्य तक वह अमरीकी ह्विग पार्टी के वाम-पक्ष का मुखपत्र था। बाद मे वह रिपब्लिकन पार्टी का मुखपत्र बन गया था। १९वीं शताब्दी के चौथे और पाचवें दशकों में उसके विचार प्रगतिशील थे और गुलामी के खिलाफ उसने मजबूत रुख अपनाया था। उसके साथ कई प्रमुख अमरीकी लेखकों और पत्रकारो का सम्बंध था। चार्ल्स डाना, जो कल्पनावादी समाजवाद के विचारों से अत्यधिक प्रभावित थे, १९वी शताब्दी के चौथे दशक के अन्त में उसके सम्पादकों मे थे। मार्क्स का सम्बंध इस पत्र के साथ १८५१ के अगस्त में शुरू हुआ था और, १० वर्ष से अधिक, मार्च १८६२ तक बना रहा था। न्यू-यौर्क डेली ट्रिब्यून के लिए मार्क्स के अनुरोध पर एंगेल्स ने कई लेख लिखे थे। न्यू-यौर्क डेली ट्रिब्यून के लिए मार्क्स और एंगेल्स जो लेख लिखते थे, उनमे अन्तर्राष्ट्रीय और राष्ट्रीय नीति, मजदूर आन्दोलन, योरोपीय देशों के आर्थिक विकास, औपनिवेशिक विस्तार, उत्पीड़ित तथा पराधीन देशों के राष्ट्रीय आन्दोलनों आदि से सम्बंधित बुनियादी प्रश्नों पर विचार किया जाता था। योरोप मे प्रतिक्रिया के काल मे, पूंजीवादी समाज की बुराइयों, उसके अमिट अन्तर्विरोधों तथा पूजीवादी जनवाद की सीमाओं का ठोस प्रमाणों के साथ पर्दाफाश करने के लिए व्यापक रूप से पढ़े जाने वाले इस अमरीकी पत्र का मार्क्स और एंगेल्स ने बहुत इस्तेमाल किया था।

कभी-कभी न्यू-यौर्क डेली ट्रिब्यून के सम्पादक मार्क्स और एंगेल्स के लेखों के साथ काफी मनमानी करते थे। उनमें से कइयों को बिना नाम के सम्पादकीय लेखों के रूप में उन्होंने छाप दिया था। ऐसे भी अवसर आये थे जब लेखों के पाठ में उन्होंने तब्दीली कर दी थी और उन पर मनमानी तारीखें डाल दी थी। मार्क्स इन चीजों का बार-बार विरोध करते थे। अमरीका के आर्थिक संकट के कारण, जिसका असर इस पत्र की आर्थिक

स्थिति पर भी पड़ा था, १८५७ के पतझड़ में मार्क्स को अपने लेखों की संख्या कम कर देनी पड़ी थी। अमरीकी गृह-युद्ध के आरम्भ मे न्यू-यौर्क डेली ट्रिब्यून के साथ मार्क्स का सम्बंध बिल्कुल टूट गया। अधिकांशतया इसका कारण यह था कि दास प्रथा वाले दक्षिण अमरीका के साथ समझौता करने के हिमायतियों ने पत्र के ऊपर अधिकार कर लिया था और वह अपनी पहले की प्रगतिशील नीतियों से हट गया था। इस संग्रह में जिस काल के लेख लिये गये हैं, उसी काल में मार्क्स और एंगेल्स द्वारा लिखे गये कुछ लेखों को छोड़ दिया गया है, क्योंकि न्यू-यौर्क डेली ट्रिब्यून के सम्पादकों ने उनमें बहुत ज्यादा रद्दोबदल कर दिया था। —पृष्ठ ८।

२. तुर्की को समस्याओं से मार्क्स का मतलब निकट पूर्व के उन अंतर्राष्ट्रीय विरोधों से था जो महान शक्तियों के दरम्यान उन दिनों मौजूद थे। इन अंत-विरोधो का कारण यह था कि इन शक्तियो के बीच ओटोमैन साम्राज्य के अंदर, और खास तौर से उसके बालकन प्रदेशों के अंदर, अपना प्रभाव जमाने के लिए एक जबर्दस्त होड़ चल रही थी। इस होड़ के परिणामस्वरूप, अन्त में, १८५३-५६ का पूर्वी, अथवा क्राइमिया का युद्ध छिड़ गया था। इस युद्ध में एक तरफ रूस था और दूसरी तरफ ब्रिटेन, फ्रांस, तुर्की और सारडीनिया थे। क्राइमिया के युद्ध की निर्णायक घटना, कालेसागर पर स्थित रूसियों के नौसैनिक अड्डे, सेवास्तोपोल का घेरा थी। यह घेरा ग्यारह महीने चला था और उसका अन्त सेवास्तोपोल के आत्मसमर्पण मे हुआ था। परन्तु रूसी गैरीसन ने जिस उत्साह और दृढ़ता के साथ सेवास्तोपोल की रक्षा की थी, उससे अंग्रेज-फ्रांसीसी-तुर्की शक्तियां कमजोर हो गयी थीं। और आक्रामक कार्रवाई करने लायक फिर वे नही रह गयी थीं। युद्ध का अन्त पैरिस की शांति संधि से हुआ था। इस संधि पर १८५६ में हस्ताक्षर किये गये थे।

सारडीनिया की समस्या १८५३ मे उस समय उठी थी जिस समय आस्ट्रिया ने पिडमांट (सारडीनिया) के साथ राजनयिक सम्बंध तोड़ लिया था। ये सम्बंध उसने इसलिए तोड़ लिये थे कि १८४८-४९ के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन तथा ६ फरवरी १८५३ के मिलान विद्रोह मे भाग लेनेवाले उन लोगों को आस्ट्रिया ने अपने संरक्षण में ले लिया था जो लुम्बार्डी से (वह उस समय आस्ट्रिया के शासन मे था) चले आये थे।

स्विट्जरलैंड की समस्या से मार्क्स का मतलब उस संघर्ष से था जो १८५३ में ऑस्ट्रिया और स्विट्जरलैंड के बीच उठ खड़ा हुआ था। यह संघर्ष इटली के राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन मे भाग लेनेवाले उन लोगों को लेकर उठ खड़ा हुआ था, जो ६ फरवरी १८५३ को मिलान में हुए असफल विद्रोह के बाद, इटली के जिलों से, खास तौर से लुम्बार्डी से, आकर स्विट्जरलैंड के टेसिन

नामक क्षेत्र में बस गये थे। इटली उस समय ऑस्ट्रिया के शासन में था। —पृष्ठ ८।

३. यहां संकेत कामंस सभा की उस बहस की ओर किया जा रहा है जो ईस्ट इंडिया कम्पनी को नया पट्टा दिये जाने के सम्बंध में हुई थी। ईस्ट इंडिया कम्पनी के १८३३ के पट्टे (सनद) की मियाद पूरी हो गयी थी। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी, जिसकी स्थापना १६०० में हुई थी, भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति का एक अस्त्र थी। भारत को जीतने का काम १९वीं शताब्दी के मध्य तक पूरा हो गया था। उसे ब्रिटिश पूंजीपतियों ने कम्पनी के नाम से किया था। भारत और चीन के साथ व्यापार की व्यावसायिक इजारेदारी कम्पनी को शुरू से ही प्राप्त थी। कम्पनी भारत के जीते हुए क्षेत्रों का नियंत्रण और शासन भी करती थी, नागरिक अधिकारियों को नियुक्त करती थी, और टैक्स उगाहती थी। उसके व्यापारिक और प्रशासकीय विशेषाधिकार पार्लियामेंट द्वारा समय-समय पर बढाये गये पट्टों में निर्धारित कर दिये जाते थे। १९वीं शताब्दी में क्रमशः कम्पनी के व्यापार का महत्व खत्म हो गया। १८१३ में पार्लियामेंट के एक कानून ने भारत की व्यापारिक इजारेदारी उससे छीन ली; केवल चाय और चीन के व्यापार की उसकी इजारेदारी बनी रही। १८३३ के पट्टे के अन्तर्गत कम्पनी के सारे शेष व्यापारिक विशेषाधिकार भी खत्म हो गये, और १८५३ के पट्टे ने भारत के शासन से सम्बंधित कम्पनी के एकाधिकारों को भी कुछ कम कर दिया। ईस्ट इंडिया कम्पनी को ब्रिटिश ताज (सम्राट) के अधिक नियंत्रण में कर दिया गया। उसके डायरेक्टरों का अधिकारियों को नियुक्त करने का हक जाता रहा। डायरेक्टरों की संख्या घटा कर २४ से १८ कर दी गयी। इनमें से ६ ताज द्वारा नियुक्त किये जाते थे। बोर्ड ऑफ कंट्रोल (नियंत्रण-मंडल) के अध्यक्ष को भारत-मंत्री का समकक्ष बना दिया गया। भारत में ब्रिटेन के प्रदेशों पर १८५८ तक कम्पनी का ही क्षेत्रीय नियंत्रण बना रहा था। इसके बाद उसे अन्तिम रूप से खत्म कर दिया गया और भारत सरकार को सीधे-सीधे ताज के मातहत कर दिया गया। —पृष्ठ ८।

४. डायरेक्टर मंडल—ईस्ट इंडिया कम्पनी की शासन समिति। इसका चुनाव हर वर्ष कम्पनी से सम्बंधित सबसे प्रभावशाली व्यक्तियों तथा भारत में ब्रिटिश सरकार के उन सदस्यों के अन्दर से होता था जो कम-से-कम २,००० पौंड मूल्य के कम्पनी के हिस्सों के मालिक होते थे। डायरेक्टर मंडल का सदर दफ्तर लंदन में था। उसका चुनाव शेयर होल्डरों (मालिकों के मंडल) की आम सभा में होता था। इस सभा में केवल उन्हीं शेयर होल्डरों (हिस्सेदारों) को वोट देने का हक होता था जिनके पास कम-से-कम १,००० पौंड के हिस्से होते

थे। १८५३ तक भारत में इस मंडल को व्यापक अधिकार प्राप्त थे। १८५८ में जब ईस्ट इंडिया कम्पनी को खत्म किया गया, तब इस मंडल को भी तोड़ दिया गया।—पृष्ठ ८।

५. जून १८५३ में, कामंस सभा में ईस्ट इंडिया कम्पनी के नये पट्टे के सम्बंध में हुई बहस के दौरान, नियंत्रण मंडल के अध्यक्ष, चार्ल्स वुड ने दावा किया था कि *भारत समृद्ध हो रहा है। अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए* दिल्ली की तत्कालीन स्थिति की तुलना उन्होंने उस काल की स्थिति से की थी जब कि, १७३९ में, फारस (ईरान) के विजेता नादिरशाह (कुली खां) ने लूट-खसोट और तबाह करके उसे नष्ट कर दिया था। —पृष्ठ ९।

६. सप्तराज्य (सात शासकों की सरकार) —अंग्रेजों के इतिहास में इस नाम का प्रयोग उस राजनीतिक व्यवस्था का वर्णन करने के लिए किया जाता है जो मध्य युग के उन प्रारंभिक दिनों में प्रचलित थी जब इंगलैंड सात एंग्लो-सैक्सन राज्यों में बंटा हुआ था (६वीं, ८वीं शताब्दी में)। उदाहरण के रूप में मार्क्स इस शब्द का इस्तेमाल टुकड़ों-टुकड़ों में बटी उस सामंती व्यवस्था का दिग्दर्शन कराने के लिए करते हैं जो मुसलमानों की विजय से पहले दक्षिण में मौजूद थी। —पृष्ठ ९।

७. स्वतंत्र व्यवसाय और निर्बाध व्यापार : यह मुक्त व्यापार के पूंजीवादी अर्थशास्त्रियों का सूत्र था। ये लोग स्वतंत्र व्यापार की तथा इस बात की हिमायत करते थे *कि आर्थिक सम्बंधों में राज्य हस्तक्षेप न करे।* —पृष्ठ ११।

८. मार्क्स कामंस सभा की १८१२ में प्रकाशित हुई एक सरकारी रिपोर्ट का उद्धरण दे रहे हैं। उद्धरण जी. कैम्पबेल की पुस्तक, आधुनिक भारत : नागरिक सरकार की व्यवस्था की एक रूपरेखा (लंदन, १८५२, पृष्ठ ८४-८५) में से लिया गया है। —पृष्ठ १३।

९. गौरवशाली क्रान्ति शब्द का इस्तेमाल इंगलैंड के पूंजीवादी इतिहासकार १६८८ के उस छलपूर्ण अचानक हमले का वर्णन करने के लिए करते हैं जिसके द्वारा जेम्स द्वितीय के शासन को, जिसे भू-स्वामियों के प्रतिक्रियावादी अभिजात वर्ग का समर्थन प्राप्त था, उलट दिया गया था और प्रमुख भू-स्वामी कारखानेदारों तथा थोटी के व्यापारिक संस्थानों से सम्बंधित *ऑरेंज के विलियम* तृतीय को सत्ता पर बैठा दिया गया था। १६८८ के अचानक शासन-परिवर्तन ने पार्लियामेंट की शक्ति को बढ़ा दिया था और धीरे-धीरे वह देश की सर्वोच्च शासन संस्था बन गयी थी। —पृष्ठ १७।

१०. सात-वर्षीय युद्ध (१७५६–६३) : योरोपीय शक्तियों के दो समूहों—अंग्रेज-प्रशियाई और फ्रांसीसी-रूसी-आस्ट्रियाई संयुक्त गुटों के बीच का युद्ध था। युद्ध का एक प्रमुख कारण इंगलैंड और फ्रांस के बीच की औपनिवेशिक

तथा व्यापारिक प्रतिद्वन्द्विता थी। नौसैनिक लड़ाइयों के अलावा, इन दोनों शक्तियों के बीच, मुख्यतया उनके अमरीकी और एशियाई उपनिवेशों के अन्दर लड़ाइयां लड़ी गयी थीं। पूरब में युद्ध का मुख्य क्षेत्र भारत था, जहां फ्रांस और उसके आधीन रजवाड़ों का ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कम्पनी विरोध करती थी। कम्पनी ने अपनी सशस्त्र शक्ति को काफी बढ़ा लिया था और युद्ध का फायदा उठा कर कई भारतीय क्षेत्रों पर कब्जा कर लिया था। सात-वर्षीय युद्ध के फलस्वरूप भारत में फ्रांस के लगभग सारे इलाके उसके हाथ से निकल गये थे (उसके पास केवल पांच तटवर्ती नगर रह गये थे। जिनकी किलेबन्दियों को भी उसे खतम कर देना पड़ा था); और इंगलैंड की औप निवेशिक शक्ति बहुत मजबूत हो गयी थी। —पृष्ठ १७।

११. जे. मिल, ब्रिटिश-भारत का इतिहास। इस पुस्तक का प्रथम संस्करण १८१८ में प्रकाशित हुआ था। यहां पर उद्धृत किया गया अंश उसके १८५८ वाले संस्करण से लिया गया है: खंड ५, भाग ६, पृष्ठ ६० और ५। नियंत्रण बोर्ड के कार्यों के सम्बंध मे ऊपर जो हवाला दिया गया है, वह भी मिल की ही पुस्तक का है (१८५८ का संस्करण, खड ४, भाग ५, पृष्ठ ३९५)। —पृष्ठ १९।

१२. जैकोबिन-विरोधी युद्ध: वह युद्ध जिसे १७९३ में क्रान्तिकारी फ्रास के खिलाफ इंगलैंड ने उस समय शुरू किया था जबकि फ्रास में एक क्रान्तिकारी जनवादी दल की, जैकोबिनों के दल की सरकार कायम थी। इस युद्ध को इंगलैंड ने नेपोलियन के साम्राज्य के खिलाफ भी जारी रखा था।—पृष्ठ १९।

१३. सुधार बिल: यह बिल जून १८३२ में पास हुआ था। इससे कामंस सभा में सदस्य भेजने की विधि बदल गयी थी। भू-स्वामियों तथा पैसेवालों के अभिजात वर्ग की राजनीतिक इजारेदारी पर प्रहार करने के लिए यह सुधार बिल लाया गया था। उसकी वजह से पार्लियामेंट में औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों को प्रवेश मिल गया था। सर्वहारा वर्ग तथा निम्न-पूंजीपति वर्ग के साथ, जिन्होंने सुधार के संघर्ष मे सबसे प्रमुख भाग लिया था, उदारपंथी पूंजीपति वर्ग ने धोखा किया था और उन्हें चुनाव के अधिकार प्राप्त नहीं हुए थे। —पृष्ठ १९।

१४. ऐसे कई युद्धों के नाम मार्क्स ने गिनाये हैं जो भारतीय प्रदेशों को हड़पने की नीयत से तथा अपने मुख्य औपनिवेशिक प्रतिद्वन्द्वी को यानी फ्रासीसी ईस्ट इंडिया कम्पनी को, कुचलने के उद्देश्य से ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत में किये थे।

कर्नाटक का युद्ध रुक-रुक कर १७५६ से १७६३ तक चला था। लड़नेवाले पक्षों, यानी अंग्रेज और फ्रासीसी उपनिवेशवादियों ने उस राज्य के भिन्न-भिन्न

स्थानीय दावेदारों का समर्थन करने के बहाने कर्नाटक को अपने-अपने कब्जे में लेने की कोशिश की थी। अन्त में, अंग्रेजों की जीत हुई थी जिन्होंने जनवरी, १७६१ में दक्षिण, भारत के मुख्य फ्रांसीसी गढ़ पांडिचेरी पर अधिकार जमा लिया था।

१७५६ में अंग्रेजों के एक हमले से बचने के लिए बंगाल के नवाब ने एक युद्ध शुरू कर दिया था। उसने उत्तर-पूर्वी भारत में अंग्रेजों के सहायक अड्डे —कलकत्ते पर कब्जा कर लिया। परन्तु ईस्ट इंडिया कम्पनी की हथियार-बन्द फौजों ने क्लाइव के नेतृत्व में उस शहर पर फिर से अधिकार कर लिया; बंगाल में फ्रांसीसी किलेबन्दियों को उन्होंने खत्म कर दिया; और २३ जून, १७५७ को पलासी में नवाब को पराजित कर दिया। १७६३ में बंगाल में, जिसे कम्पनी का एक अधीन क्षेत्र बना दिया गया था, उठे विद्रोह को कुचल दिया गया। बंगाल के साथ-साथ बिहार को भी, जो बंगाल के नवाब के शासन के अन्तर्गत था, अंग्रेजों ने कब्जे में ले लिया। १८०३ मे अंग्रेजो ने उड़ीसा को पूरी तरह फतह कर लिया। उड़ीसा में कई स्थानीय सामंती राज्य थे जिन्हें कम्पनी ने पहले ही अपना आधीन बना लिया था।

१७९०-९२ और १७९९ मे ईस्ट इडिया कम्पनी ने मैसूर के खिलाफ लड़ाइया चलायीं। मैसूर के शासक टीपू साहब ने अंग्रेजों के खिलाफ मैसूर के पिछले अभियानो मे भाग लिया था और वे ब्रिटिश उपनिवेशवाद के कट्टर शत्रु थे। इनमे से पहली लड़ाई में मैसूर अपने आधे राज्य को खो बैठा था। उस पर कम्पनी तथा उसके मित्र सामन्ती राजाओ ने अधिकार कर लिया था। दूसरे युद्ध का अन्त मैसूर की पूर्ण पराजय तथा टीपू की मृत्यु के रूप में हुआ। मैसूर एक आधीन राज्य बन गया।

नायबो की व्यवस्था अथवा तथाकथित सहायता के समझौतों की व्यवस्था —भारतीय राज्यों के सरदारों को ईस्ट इडिया कम्पनी के आधीन सरदार बनाने का यह एक तरीका था। सबसे अधिक प्रचलित वे समझौते थे जिनके अन्तर्गत उसके प्रदेश में स्थित कम्पनी के सैनिकों का खर्चा राजाओं को उठाना पड़ता था। इन्हीं के साथ-साथ वे समझौते थे जिनके द्वारा बहुत कठिन शर्तों पर राजाओं के सिर पर कर्ज लाद दिये जाते थे। इन शर्तों को पूरा न करने का फल यह होता था कि उनकी अमलदारियां जब्त हो जाती थीं।—पृष्ठ २०।

१५. १८३८-४२ का प्रथम अंग्रेज-अफगान युद्ध—इसे अंग्रेजों ने अफगानिस्तान को हड़पने के उद्देश्य से शुरू किया था। उसका अन्त ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की पूर्ण असफलता के रूप में हुआ था।

१८४३ मे ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने सिंध पर जबर्दस्ती अधिकार कर लिया। १८३८-४२ के अंग्रेज-अफगान युद्ध के दिनों में ईस्ट इंडिया कम्पनी ने

सिंध के सामंती शासकों को धमकियां दी थी और उनके विरुद्ध हिंसा का इस्तेमाल किया था ताकि उनकी अमलदारियों में से ब्रिटिश फौजों के आने-जाने के लिए वह उनकी रजामंदी प्राप्त कर ले। इसका फायदा उठाते हुए १८४३ में अंग्रेजो ने मांग की कि स्थानीय सामंती राजे अपने को कम्पनी का आधीन घोषित कर दे। विद्रोही बलूची कबीलों को कुचलने के बाद घोषणा कर दी गयी कि सारे क्षेत्र को ब्रिटिश भारत में मिला दिया गया है।

पंजाब को सिखों के खिलाफ १८४५–४६ और १८४८–४९ मे किये गये ब्रिटिश अभियानों के द्वारा जीता गया था। सिखों की समानता की शिक्षा (हिन्दू धर्म और इस्लाम के बीच मेल कायम करने का उनका प्रयत्न) १९वी शताब्दी के अन्तिम भाग में भारतीय सामंतों तथा अफगान आक्रमणकारियों के विरुद्ध चलनेवाले किसान आंदोलन की विचारधारा बन गयी। जैसे-जैसे समय बीतता गया, वैसे-वैसे सिखो के अन्दर से एक सामंती दल उठ खडा हुआ। फिर इसी वर्ग के प्रतिनिधि सिख राज्य के सर्वेसर्वा बन गये। १९वी शताब्दी के आरम्भ मे इस सिख राज्य में पूरा पंजाब था और कई आस-पास के क्षेत्र थे। १८४५ मे, ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने सिखो के भद्र वर्ग के कुछ गद्दारों की मदद लेकर सिखों के साथ सघर्ष छेड़ दिया और, १८४६ में, सिख राज्य को अपना एक आधीन राज्य बनाने में वे सफल हो गये। १८४८ में सिखों ने विद्रोह किया, परन्तु १८४९ मे वे पूर्णतया आधीन बना लिये गये। पजाब की जीत ने पूरे भारत को ब्रिटिश उपनिवेश बना दिया।—पृष्ठ २०।

१६. टी. एम. (मुन), ईस्ट इंडीज के साथ इंगलैंड के व्यापार का एक विवेचन: जिसमें उन भिन्न-भिन्न आपत्तियों का जवाब दिया गया है जो आम तौर से इसके विरुद्ध की जाती हैं, लंदन, १६२१।—पृष्ठ २१।

१७. जोशिया चाइल्ड, एक निबंध जिसमें दिखलाया गया है कि ईस्ट इंडिया का व्यापार तमाम विदेशी व्यापारों में सबसे अधिक राष्ट्रीय है, लदन, १६८१। "देशभक्त" के छद्म नाम से प्रकाशित।—पृष्ठ २१।

१८. जौन् पोलैक्सफेन, इंगलैंड और ईस्ट इंडिया अपने विनिर्माण में असंगत: "ईस्ट इंडिया के व्यापार के सम्बंध में एक लेख" नामक निबंध का उत्तर, लंदन, १६९७।—पृष्ठ २२।

१९. बर्मा को फतह करने का काम ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने १९वी शताब्दी के आरम्भ मे ही शुरू कर दिया था। १८२४-२६ के प्रथम बर्मी युद्ध में ईस्ट इंडिया कम्पनी के सैनिकों ने बंगाल की सीमा पर स्थित आसाम प्रांत पर तथा अराकान और तेनेसरीम के तटवर्ती जिलों पर अधिकार कर लिया था। दूसरे बर्मी युद्ध (१८५२) के परिणामस्वरूप अंग्रेजों ने पेगू प्रांत पर कब्जा कर लिया था। चूंकि दूसरे बर्मी युद्ध के अंत मे कोई शांति-संधि नहीं

हुई थी और बर्मा के नये राजा ने, जिसने फरवरी १८५३ में अपने हाथ में शासन लिया था, पेगू पर अंग्रेजों के अधिकार को स्वीकार करने से इनकार कर दिया था. इसी ए १८५३ में बर्मा के विरुद्ध एक नये सैनिक अभियान के आरम्भ किये जाने की संभावना थी। —पृष्ठ २५।

२०. जे. डिकिन्सन, भारत सरकार एक नौकरशाही के नीचे, लंदन, मैन्चेस्टर, १८५३, पृष्ठ ५०। भारतीय सुधार सभा द्वारा प्रकाशित, अंक ६। —पृष्ठ २५।

२१. १८वीं शताब्दी के मध्य में मुगल सामंतशाहों के विदेशी प्रभुत्व के खिलाफ मराठों ने एक सशस्त्र संघर्ष शुरू कर दिया था। महान मुगलों के साम्राज्य पर उन्होने जबर्दस्त प्रहार किया और उसके पतन मे मदद पहुंचायी। इस संघर्ष के गर्भ से एक स्वतंत्र मराठा राज्य की उत्पत्ति हुई। उसके सामंती सरदारो ने फौरन ही फतह की लड़ाइयो की एक श्रृखला आरम्भ कर दी। १७वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में आंतरिक सामती संघर्ष की वजह से मराठा राज्य कमजोर पड़ गया, परतु १८वी शताब्दी के प्रारम्भ मे पेशवा के नेतृत्व में मराठा राज्यों के एक मजबूत सघ की स्थापना हो गयी। भारत पर अपना प्रभुत्व कायम करने के लिए मराठे सामंती सरदारों ने अफगानों का मुकाबला किया, और १६६१ मे वे पूरी तरह पराजित हुए। भारत में प्रभुत्व स्थापित करने के अपने सघर्ष तथा सामंती सरदारो की आतरिक कलह के कारण मराठा राज्यों की शक्ति अन्दर से खोखली हो चुकी थी। इसलिए एक-एक करके वे ईस्ट इडिया कम्पनी के शिकार बन गये। १८०३-०५ के मराठा युद्ध में ईस्ट इडिया कम्पनी ने उन सबको गुलाम बना लिया। — पृष्ठ २६।

२२. जमींदारी और रैयतवारी प्रथाएं: इन्हे भारत में ब्रिटिश अधिकारियों ने १८वी शताब्दी के अन्त और १९वीं शताब्दी के आरम्भ में जारी किया था। महान मुगलो के शासन काल मे जब तक उस राजस्व का, जिसे उत्पीड़ित किसान वर्ग से जमींदार इकट्ठा करता था, एक निश्चित भाग वह सरकार को देता जाता था, तब तक भूमि के ऊपर उसका पुश्तैनी अधिकार बना रहता था। १७९३ के स्थायी जमींदारी कानून क द्वारा इस जमींदार को ब्रिटिश सरकार ने जमीन का स्वामी बना दिया। इस तरह वह वर्ग-ब्रिटिश. औपनिवेशिक अधिकारियों का एक समर्थक बन गया। अंग्रेज जैसे-जैसे अपने शासन को भारत में फैलाते गये, वैसे-वैसे जमींदारी प्रथा का भी कुछ सशोधित रूपो मे न केवल बगाल, बिहार और उड़ीसा में, बल्कि सयुक्त प्रात मध्य प्रांत तथा मद्रास प्रात के एक भाग जैसे कुछ और प्रदेशों में भी उन्होने विस्तार कर दिया। जिन क्षेत्रों में इस प्रथा को चालू किया गया, उनमे वे रैयत, जो पहले किसान समाज का समान अधिकार-सम्पन्न सदस्य हुआ करते थे, अब जमींदारों के

आसामी बन गये। रैयतवारी प्रथा १९वीं शताब्दी के आरम्भ में मद्रास और बम्बई की प्रेसीडेन्सियों में शुरू की गयी थी। इसके अन्तर्गत रैयत को सरकारी जमीन का रखवाला कहा जाता था और अपने खेत पर लगान की एक रकम उसे सरकार को देनी पड़ती थी। इस रकम को भारत में ब्रिटिश प्रशासन मनमाने ढंग से निर्धारित कर देता था। साथ ही साथ, रैयतों को उस जमीन का किसान भूस्वामी भी कहा जाता था जिसे वे लगान पर लेते थे। न्याय की दृष्टि से इस इतनी परस्पर-विरोधी भूमि कर व्यवस्था के परिणामस्वरूप, भूमि कर इतनी ऊंची दर पर निर्धारित किया गया था कि उसे दे सकने में किसान असमर्थ थे। उनके ऊपर बकाया चढ़ता जाता था, और धीरे-धीरे उनकी जमीन मुनाफाखोरों और सूदखोरों के चंगुल में चली जाती थी। — पृष्ठ २७।

२३. जे. चैपमैन, भारत का कपास और व्यापार, ग्रेट ब्रिटेन के हितों की दृष्टि से विचार करने पर; बम्बई प्रेसीडेन्सी में रेलवे की संचार-व्यवस्था के सम्बंध में टीका-टिप्पणी के साथ, लंदन, १८५१, पृष्ठ ९१।—पृष्ठ ३०।

२४. जी. कैम्पबेल, आधुनिक भारत : नागरिक सरकार की व्यवस्था की एक रूपरेखा, लंदन, १८५२, पृष्ठ ५९-६०। —पृष्ठ ३०।

२५. मार्क्स की १८५७ की नोटबुक में जो शीर्षक दर्ज है, उससे यह मेल खाता है। — पृष्ठ ३४।

२६. यहां पर लेखक ईस्ट-इंडिया कम्पनी द्वारा अवध के बादशाह को सिंहासन-च्युत करने तथा अवध को हड़प कर अंग्रेजी राज्य में मिला लेने की बात का जिक्र कर रहे हैं। ये हरकतें मौजूदा समझौतों को तोड़कर ब्रिटिश अधिकारियों ने १८५६ में की थी। (इस संग्रह के पृष्ठ १४९-५९ देखिए।) —पृष्ठ ३४।

२७. लेखक का संकेत १८५६-५७ के अंग्रेज-ईरानी युद्ध की ओर है। १९वीं शताब्दी के मध्यकाल में एशिया सम्बंधी ब्रिटेन की आक्रमणकारी औपनिवेशिक नीति में यह युद्ध एक कड़ी था। ईरान (फारस) के शासकों द्वारा हिरात की जागीर पर कब्जा करने की कोशिश ने इस युद्ध के लिए अंग्रेजों को एक बहाना दे दिया था। जागीर की राजधानी, हिरात व्यापारिक मार्ग का एक अड्डा था और सैनिक उपयोग की दृष्टि से भी एक महत्व का स्थान था। १९वीं शताब्दी के मध्य मे उसको लेकर ईरान (फारस)—जिसे रूस का समर्थन प्राप्त था—और अफगानिस्तान के बीच — जिसे ब्रिटेन बढ़ावा दे रहा था — झगड़ा छिड़ा हुआ था। अक्तूबर १८५६ में ईरानी फौजों ने जब हिरात पर कब्जा कर लिया, तो उसका बहाना लेकर ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने अफगानिस्तान और ईरान दोनों को गुलाम बनाने की दृष्टि से सशस्त्र हस्तक्षेप

किया। ईरान के खिलाफ युद्ध की घोषणा करके अपनी फौजों को उन्होंने हिरात के लिए रवाना कर दिया। परन्तु उसी समय भारत में राष्ट्रीय मुक्ति के लिए १८५७-५९ का विद्रोह फूट पड़ा। इसकी वजह से ब्रिटेन को जल्दी से शांति-संधि करने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा। मार्च १८५७ में पेरिस में हुई एक शांति-संधि के अनुसार ईरान ने हिरात के सम्बंध में अपने तमाम दावों को छोड़ दिया। १८५७ में हिरात को अफगान अमीर के राज्य में शामिल कर लिया गया। —पृष्ठ ३५।

२८. **१८५७-५९ का विद्रोह :** ब्रिटिश शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति के लिए भारतीय जनता का यह एक महान विद्रोह था। इस विद्रोह से पहले ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के साथ अनेक चीजों को लेकर भारतीय जनता की बहुत-सी सशस्त्र टक्करें हुई थीं। अंग्रेजों के औपनिवेशिक शोषण के अनेक पाशविक तरीके थे। टैक्सों का जो भारी और असहनीय बोझ उन्होंने लाद रखा था, वह भारतीय किसान वर्ग को पूर्णतया लूट लेने तथा सामन्ती वर्ग के कुछ स्तरों की सम्पत्ति का अपहरण कर लेने से कम न था। वे बाकी बचे स्वतंत्र भारतीय राज्यों को हड़पने की नीति पर चल रहे थे। टैक्स वसूल करने के लिए उन्होंने यंत्रणा देने की व्यवस्था बनायी थी तथा औपनिवेशिक आतंक का राज्य कायम कर रखा था। जनता के पुरातन काल से चले आये रीति-रिवाजों और उनकी परम्पराओं की वे कुत्सित ढग से उपेक्षा किया करते थे। इन चीजों की वजह से भारतीय जनता के तमाम तबकों में आम क्रोध की एक भावना व्याप्त थी। विद्रोह का विस्फोट इसी कारण हुआ था। विद्रोह १८५७ के वसत मे, बंगाल सेना के उत्तरी भारत स्थित सिपाही रेजीमेन्टों मे आरम्भ हुआ था। (उसके लिए तैयारियां १८५६ की ग्रीष्म ऋतु से ही शुरू हो गयी थी)। (ये सिपाही अंग्रेजो की भारतीय सेना मे किराये पर रखे गये सैनिक थे, जिन्हें वे १८वी शताब्दी के मध्य काल से देशी जनता के अन्दर से भरती करते आये थे। अंग्रेज आक्रमणकारियों ने उनका इस्तेमाल भारत को जीतने के लिए तथा जीते हुए प्रान्तो मे अपनी सत्ता को कायम रखने के लिए किया था।) इस क्षेत्र के सैनिक महत्त्व के मुख्य स्थान सिपाहियो के ही हाथ मे थे। अधिकाश तोपखाने भी उन्हीं के अधिकार में थे। इस कारण विद्रोह के सैनिक केन्द्र वही बन गये थे। उनकी भरती मुख्यतया उच्च हिन्दू जातियों (ब्राह्मणो, राजपूतो, आदि) तथा मुसलमानो के अन्दर से होती थी, इसलिए सिपाहियो की सेना बुनियादी तौर से भारतीय किसान वर्ग के असन्तोष को प्रतिबिम्बित करती थी। साधारण सिपाहियों की अधिकांश सख्या इन्ही किसानो मे से आती थी। इसके अलावा, सिपाही सेना उत्तरी भारत (खास तौर से अवध) के सामन्ती अभिजात वर्ग के एक भाग के असन्तोष को भी व्यक्त करती थी।

सिपाहियों के अफसरों का इस भाग से घनिष्ठ सम्पर्क था। जन-विद्रोह का लक्ष्य विदेशी शासन का अन्त करना था। वह उत्तर भारत और मध्य भारत के विशाल क्षेत्रों में — मुख्यतया दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, रुहेलखंड, मध्य-भारत और बुन्देलखंड में — फैल गया था। विद्रोह की मुख्य चालक शक्ति किसान तथा शहरों के गरीब कारीगरों की आबादी थी, परन्तु उसका नेतृत्व सामन्तों के हाथ में था। १८५८ मे औपनिवेशिक अधिकारियो द्वारा यह वादा कर देने पर कि उनकी तमाम मिल्कियतो को वे बदस्तूर उन्ही के पास बना रहने देंगे, लगभग सभी सामन्तो ने विद्रोह के साथ गद्दारी कर दी थी। विद्रोह की पराजय का मुख्य कारण यह था कि उसका कोई एक केन्द्रीय नेतृत्व नहीं था और न फौजी कार्रवाइयो की उसकी कोई आम योजना थी। इसका कारण बहुत हद तक भारत की सामन्ती फूट, जातीय रूप मे भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों की देश मे आबादी तथा भारतीय जनता के धार्मिक तथा जात-पात सम्बंधी मतभेद थे। अंग्रेजो ने इन चीजों का पूरा फायदा उठाया। इसके अलावा, विद्रोह को कुचलने मे उन्हें अधिकांश भारतीय सामन्तो की सहायता प्राप्त थी। अंग्रेजो की फौज सम्बंधी तथा प्राविधिक श्रेष्ठता उनकी सफलता का एक दूसरा निर्णयकारी कारण थी। यद्यपि देश के कुछ भाग विद्रोह में सीधे-सीधे नहीं शामिल थे (पंजाब, बंगाल और दक्षिण भारत मे फैलने से उसे रोकने मे अंग्रेजो ने कामयाबी हासिल कर ली थी, फिर भी उसका सारे भारत पर प्रभाव पडा था और ब्रिटिश अधिकारी देश की शासन व्यवस्था में सुधार लाने के लिए मजबूर हो गये थे। भारतीय विद्रोह दूसरे एशियाई देशो के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनो के साथ घनिष्ठ रूप से जुडा हुआ था, इसलिए उसने अंग्रेज उपनिवेशवादियों की स्थिति को कमजोर कर दिया था। खास तौर से, अफगानिस्तान, ईरान (फारस) तथा दूसरे कई एशियाई देशों के सम्बध मे अंग्रेजों की जो आक्रमणकारी योजनाए थी, उनके कार्यान्वित किये जाने में दर्जनो वर्ष की उसने देरी करा दी थी। —पृष्ठ ३५।

२९ यहा चीन के साथ १८५६-५८ मे हुए तथाकथित दूसरे अफीम युद्ध की ओर इशारा किया गया है। इस युद्ध के लिए अक्तूबर १८५६ मे कैंन्टन में चीनी अधिकारियों के साथ अंग्रेजो की एक झूठमूठ की लड़ाई खडी कर ली गयी थी। चीनी अधिकारियो ने चीनी जहाज एरो के जहाजियों को गिरफ्तार कर लिया था क्योंकि वे अफीम को गैरकानूनी ढंग से चुरा कर ला रहे थे। अपने जहाज पर वे ब्रिटेन का झडा लगाये हुए थे। बस, इसी घटना को लेकर अंग्रेजो ने लडाई शुरू कर दी थी। उनकी ये शत्रुतापूर्ण कार्रवाइया चीन के अन्दर थोडा-थोड़ा समय छोड़ कर जून १८५९ तक चलती रही थी। उनका अन्त तियन्तसिन की लुटेरी संधि के रूप मे हुआ था। —पृष्ठ ३५।

किया। ईरान के खिलाफ युद्ध की घोषणा करके अपनी फौजों को उन्होंने हिरात के लिए रवाना कर दिया। परन्तु उसी समय भारत मे राष्ट्रीय मुक्ति के लिए १८५७-५९ का विद्रोह फूट पड़ा। इसकी वजह से ब्रिटेन को जल्दी से शांति-संधि करने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा। मार्च १८५७ में पैरिस में हुई एक शांति-संधि के अनुसार ईरान ने हिरात के सम्बध में अपने तमाम दावों को छोड दिया। १८५७ में हिरात को अफगान अमीर के राज्य में शामिल कर लिया गया। —पृष्ठ ३५।

२८. १८५७-५९ का विद्रोह : ब्रिटिश शासन के विरुद्ध राष्ट्रीय मुक्ति के लिए भारतीय जनता का यह एक महान विद्रोह था। इस विद्रोह से पहले ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के साथ अनेक चीजों को लेकर भारतीय जनता की बहुत-सी सशस्त्र टक्करे हुई थीं। अंग्रेजों के औपनिवेशिक शोषण के अनेक पाशविक तरीके थे। टैक्सों का जो भारी और असहनीय बोझ उन्होंने लाद रखा था, वह भारतीय किसान वर्ग को पूर्णतया लूट लेने तथा सामन्ती वर्ग के कुछ स्तरों की सम्पत्ति का अपहरण कर लेने से कम न था। वे बाकी बचे स्वतंत्र भारतीय राज्यों को हडपने की नीति पर चल रहे थे। टैक्स वसूल करने के लिए उन्होंने *यंत्रणा देने की व्यवस्था बनायी थी तथा औपनिवेशिक आतंक* का राज्य कायम कर रखा था। जनता के पुरातन काल से चले आये रीति-रिवाजों और उनकी परम्पराओं की वे *कुत्सित ढग से उपेक्षा किया करते थे।* इन चीजों की वजह से भारतीय जनता के तमाम तबकों मे आम क्रोध की एक भावना व्याप्त थी। विद्रोह का विस्फोट इसी कारण हुआ था। विद्रोह १८५७ के वसंत मे, बंगाल सेना के उत्तरी भारत स्थित सिपाही रेजीमेन्टों में आरम्भ हुआ था। (उसके लिए तैयारियां १८५६ की ग्रीष्म ऋतु से ही शुरू हो गयी थी)। (ये सिपाही अंग्रेजो की भारतीय सेना में किराये पर रखे गये सैनिक थे, जिन्हे वे १८वी शताब्दी के मध्य काल से देशी जनता के अन्दर से भरती करते आये थे। अंग्रेज आक्रमणकारियों ने उनका इस्तेमाल भारत को जीतने के लिए तथा जीते हुए प्रान्तों में अपनी सत्ता को कायम रखने के लिए किया था।) इस क्षेत्र के सैनिक महत्त्व के मुख्य स्थान सिपाहियों के ही हाथ मे थे। अधिकाश तोपखाने भी उन्ही के अधिकार में थे। इस कारण विद्रोह के सैनिक केन्द्र वही बन गये थे। उनकी भरती मुख्यतया उच्च हिन्दू जातियों (ब्राह्मणों, राजपूतों, आदि) तथा मुसलमानों के अन्दर से होती थी, इसलिए सिपाहियों की सेना बुनियादी तौर से भारतीय किसान वर्ग के असन्तोष को प्रतिबिम्बित करती थी। साधारण सिपाहियों की अधिकांश सख्या इन्हीं किसानों मे से आती थी। इसके अलावा, सिपाही सेना उत्तरी भारत (खास तौर से अवध) के सामन्ती अभिजात वर्ग के एक भाग के असन्तोष को भी व्यक्त करती थी।

सिपाहियों के अफसरों का इस भाग से घनिष्ठ सम्पर्क था। जन-विद्रोह का लक्ष्य विदेशी शासन का अन्त करना था। वह उत्तर भारत और मध्य भारत के विशाल क्षेत्रों में— मुख्यतया दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, रुहेलखंड, मध्य-भारत और बुन्देलखंड में— फैल गया था। विद्रोह की मुख्य चालक शक्ति किसान तथा शहरो के गरीब कारीगरों की आबादी थी, परन्तु उसका नेतृत्व सामन्तो के हाथ में था। १८५८ में औपनिवेशिक अधिकारियो द्वारा यह वादा कर देने पर कि उनकी तमाम मिल्कियतों को वे बदस्तूर उन्ही के पास बना रहने देंगे, लगभग सभी सामन्तों ने विद्रोह के साथ गद्दारी कर दी थी। विद्रोह की पराजय का मुख्य कारण यह था कि उसका कोई एक केन्द्रीय नेतृत्व नहीं था और न फौजी कार्रवाइयो की उसकी कोई आम योजना थी। इसका कारण बहुत हद तक भारत की सामन्ती फूट, जातीय रूप में भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों की देश मे आबादी तथा भारतीय जनता के धार्मिक तथा जात-पात सम्बंधी मतभेद थे। अंग्रेजो ने इन चीजों का पूरा फायदा उठाया। इसके अलावा, विद्रोह को कुचलने में उन्हे अधिकाश भारतीय सामन्तो की सहायता प्राप्त थी। अंग्रेजो की फौज सम्बंधी तथा प्राविधिक श्रेष्ठता उनकी सफलता का एक दूसरा निर्णयकारी कारण थी। यद्यपि देश के कुछ भाग विद्रोह में सीधे-सीधे नही शामिल थे (पंजाब, बंगाल और दक्षिण भारत में फैलने से उसे रोकने मे अंग्रेजों ने कामयाबी हासिल कर ली थी, फिर भी उसका सारे भारत पर प्रभाव पडा था और ब्रिटिश अधिकारी देश को शासन व्यवस्था में सुधार लाने के लिए मजबूर हो गये थे। भारतीय विद्रोह दूसरे एशियाई देशों के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनो के साथ घनिष्ठ रूप से जुडा हुआ था, इसलिए उसने अंग्रेज उपनिवेशवादियों की स्थिति को कमजोर कर दिया था। खास तौर से, अफगानिस्तान, ईरान (फारस) तथा दूसरे कई एशियाई देशों के सम्बंध मे अंग्रेजों की जो आक्रमणकारी योजनाए थी, उनके कार्यान्वित किये जाने में दर्जनो वर्ष की उसन देरी करा दी थी। —पृष्ठ ३५।

२९ यहां चीन के साथ १८५६-५८ मे हुए तथाकथित दूसरे अफीम युद्ध की ओर इशारा किया गया है। इस युद्ध के लिए अक्तूबर १८५६ में कैन्टन में चीनी अधिकारियों के साथ अंग्रेजों की एक झूठमूठ की लडाई खडी कर ली गयी थी। चीनी अधिकारियो ने चीनी जहाज एरो के जहाजियो को गिरफ्तार कर लिया था क्योंकि वे अफीम को गैरकानूनी ढग से चुरा कर ला रहे थे। अपने जहाज पर वे ब्रिटेन का झडा लगाये हुए थे। बस, इसी घटना को लेकर अंग्रेजो ने लडाई शुरू कर दी थी। उनकी ये शत्रुतापूर्ण कार्रवाइयां चीन के अन्दर थोडा-थोड़ा समय छोड कर जून १८५९ तक चलती रही थी। उनका अन्त तियन्तसिन की लुटेरी संधि के रूप में हुआ था। —पृष्ठ ३५।

३० टाइम्स—प्रमुख दकियानूस अंग्रेजी दैनिक पत्र। इसकी स्थापना १७८५ में लंदन में हुई थी। —पृष्ठ ४०।

३१. प्रायद्वीप का युद्ध स्पेन और पुर्तगाल के क्षेत्र में आइबेरियाई प्रायद्वीप पर १८०८-१४ में ब्रिटेन और फ्रांस के बीच हुआ था। उसी के साथ-साथ पूरे प्रायद्वीप में एक और युद्ध आरम्भ हो गया था—यह था फ्रांसीसी कब्जे के खिलाफ स्पेनी और पुर्तगाली जनता का अपनी स्वतंत्रता के लिए युद्ध। स्पेन की जनता के संघर्ष ने नेपोलियन की राजनीतिक और सैनिक योजनाओं को असफल बनाने में भारी मदद पहुंचायी थी; १८१२ में, रूस में अपनी भयंकर पराजय के बाद, नेपोलियन स्पेन से अपनी फौजें वापिस बुला लेने के लिए मजबूर हो गया था। —पृष्ठ ४०।

३२. लेखक का स्पष्ट संकेत इस बात की ओर है कि उन दिनों पार्लियामेन्ट के ग्रीष्मकालीन अधिवेशन में ब्रिटिश कामस सभा के सदस्य अपने संसदीय कर्तव्यों की अपेक्षा बहुधा निजी कार्यों में लगे रहना और मौज-मजा करना अधिक पसंद करते थे। इस कारण, वक्ताओं को बहुत बार पार्लियामेंट के लगभग खाली भवन में भाषण देने पड़ते थे। —पृष्ठ ४२।

३३. मानटेस्क्यू की रचना Considerations sur les causes de la grandeur des Romains et de leur decadence (रोमनों के उत्थान और पतन के सम्बंध में विचार) से मतलब है। इस ग्रंथ का प्रथम संस्करण बिना किसी के नाम से १७३४ में एम्सटर्डम में निकला था। यहां गिबन की पुस्तक, रोम साम्राज्य के क्षय और पतन का इतिहास की ओर भी इशारा है। इस ग्रंथ का प्रथम संस्करण लंदन में १७७६-८८ में प्रकाशित हुआ था। —पृष्ठ ४३।

३४. लेखक का संकेत टोरियों की ओर है। टोरी पार्टी इंगलैंड के बड़े भूपतियों तथा धनी लोगों के अभिजात वर्ग की पार्टी थी। उसकी स्थापना १७वीं शताब्दी में हुई थी। तबसे हमेशा प्रतिक्रियावादी घरेलू नीतियों की ही उसने वकालत की है तथा लगातार ब्रिटेन की शासन व्यवस्था की तमाम दकियानूसी तथा जर्जर संस्थाओं का समर्थन किया है। तमाम जनवादी परिवर्तनों का उसने विरोध किया है। इंगलैंड में पूंजीवाद के विकास के साथ-साथ, धीरे-धीरे टोरियों का पहले का राजनीतिक प्रभाव तथा पार्लियामेंट के अन्दर उनका एकाधिकार खत्म हो गया है। उनके इस एकाधिकार पर प्रथम प्रहार १८३२ के सुधार ने किया था। इस सुधार के कारण पार्लियामेन्ट के द्वार औद्योगिक पूंजीपति वर्ग के प्रतिनिधियों के लिए खुल गये थे। भूस्वामियों के लिए लाभदायक कौर्न लॉज (अनाज के कानून) का १८४६ में अन्त कर दिये जाने से इंगलैंड के पुराने भूस्वामियों के अभिजात वर्ग की स्थिति

आर्थिक रूप से कमजोर हो गयी थी। उसके कारण टोरी पार्टी में विभाजन भी हो गया था। १९वीं शताब्दी के ५वें दशक के मध्य का काल टोरी पार्टी के छिन्न-भिन्न होने का काल था। उसका वर्ग-स्वरूप बदल गया : अब वह भू-स्वामियों के अभिजात वर्ग तथा पूंजीवादी धन्नासेठों के मेल की अवस्था को प्रतिबिम्बित करने लगी। इस तरह, पिछली शताब्दी के ४वें दशक के अन्तिम भाग तथा ६ठे दर्शक के प्रारंभिक भाग में पुरानी टोरी पार्टी मे से इगलैंड की कंजरवेटिव पार्टी (अनुदार दल) का उदय हुआ था। —पृष्ठ ४४।

३५. १७७३ तक भारत में ईस्ट इंडिया कम्पनी के तीन गवर्नर होते थे —कलकत्ता (बंगाल), मद्रास तथा बम्बई में। हर गवर्नर को कम्पनी के बड़े नौकरों से बनी हुई एक काउंसिल होती थी। १७७३ के रेगुलेटिंग एक्ट (नियामक कानून) के द्वारा कलकत्ता के गवर्नर के नीचे ४ व्यक्तियों की एक काउन्सिल स्थापित कर दी गयी; गवर्नर को बगाल का गवर्नर-जनरल कहा जाने लगा। गवर्नर-जनरल और उसकी काउंसिल को अब कम्पनी नही, बल्कि आम तौर से ब्रिटिश सरकार ५ वर्ष की मियाद के लिए नामजद करती थी। इस मियाद के पूरा होने से पहले कम्पनी के डायरेक्टर-मडल की प्रार्थना पर केवल बादशाह ही उन्हे बर्खास्त कर सकता था। बहुमत की राय मानना पूरी काउन्सिल के लिए लाजमी था। मत बराबर-बराबर होने पर गवर्नर जनरल का मत निर्णायक होता था। गवर्नर जनरल को बंगाल, बिहार और उड़ीसा के नागरिक तथा सैनिक प्रशासन की जिम्मेदारी दी गयी थी; मद्रास तथा बम्बई की प्रेसीडेन्सियों के ऊपर भी उसे सर्वोच्च अधिकार प्राप्त था। युद्ध और शान्ति से सम्बधित मामलों के सिलसिले में ये प्रेसीडेन्सियां उसके आधीन थी। केवल विशेष मामलों में, ही वे स्वयं अपनी मर्जी से काम कर सकती थी। १७८४ के कानून के मातहत बंगाल काउंसिल के सदस्यों की संख्या कम करके तीन कर दी गयी थी जिनमें से एक कमांडर-इन-चीफ था। १७८६ के एक पूरक कानून के द्वारा गवर्नर-जनरल को आपत्ति-कालों में अपनी काउंसिल से बिना पूछे भी काम करने का तथा कमांडर-इन-चीफ के कामों को अपने हाथ मे ले लेने का अधिकार दे दिया गया। १८३० के कानून के मातहत बंगाल के गवर्नर-जनरल को भारत का गवर्नर-जनरल बना दिया गया। साथ ही बंगाल का भी गवर्नर वह बना रहा। इस काउंसिल को दो।रा चार सदस्यों की संख्या बना दिया गया जिसमें ५वें सदस्य के रूप मे कमांडर-इन-चीफ को भी शामिल कर लिया जा सकता था। गवर्नर-जनरल और उसकी काउंसिल को सम्पूर्ण ब्रिटिश-भारत के लिए कानून बनाने का हक दे दिया गया। बम्बई और मद्रास की सरकारों से यह अधिकार छीन लिया गया। उनके गवर्नरों की काउंसिलें दो-दो सदस्यों की कर दी गयी। १८५३

के कानून के मातहत, कार्यकारिणी समिति का कार्य करने वाली चार सदस्यों की काउंसिल के साथ-साथ एक बड़ी लेजिस्लेटिव काउंसिल भी जोड़ दी गयी। इसमें गवर्नर जनरल, कमांडर-इन-चीफ, बंगाल के लॉर्ड चीफ जस्टिस थे और चीफ जस्टिस के तीन जजों में से एक। गवर्नर-जनरल और उनकी काउंसिल का यह कानून १८५८ तक जारी रहा था।

यहां गवर्नर जनरल लार्ड डलहौजी के मातहत काउन्सिल की चर्चा की जा रही है।—पृष्ठ ४५।

३६. मार्क्स की १८५७ की नोटबुक में जो शीर्षक दर्ज है, उससे यह मिलता है।—पृष्ठ ४९।

३७. बोर्ड ऑफ कंट्रोल (नियंत्रण बोर्ड) की स्थापना १७८४ के कानून के मातहत ईस्ट इंडिया कम्पनी तथा ब्रिटेन की भारतीय अमलदारियों के शासन को बेहतर बनाने के उद्देश्य से की गयी थी। नियंत्रण बोर्ड के ६ सदस्य होते थे जिनकी नियुक्ति प्रिवी कौंसिल के सदस्यों में से बादशाह करता था। नियंत्रण बोर्ड का अध्यक्ष मंत्रि-मंडल का एक सदस्य होता था; वास्तव में, वही भारत-मंत्री तथा भारत का सर्वोच्च शासक हुआ करता था। बोर्ड आफ कंट्रोल (नियंत्रण बोर्ड) की बैठकें लंदन में हुआ करती थीं; उसके फैसले गुप्त समिति के द्वारा भारत भेज दिये जाते थे। इस गुप्त समिति में ईस्ट इंडिया कम्पनी के तीन डायरेक्टर रहते थे। इस तरह, १७८४ के कानून ने भारत में शासन की दोहरी व्यवस्था कायम कर दी थी। एक तरफ बोर्ड आफ कंट्रोल (ब्रिटिश सरकार) था, दूसरी तरफ डायरेक्टर-मंडल (ईस्ट इंडिया कम्पनी) था। १८५८ में बोर्ड आफ कंट्रोल को खत्म कर दिया गया। —पृष्ठ ४५।

३८. अक्तूबर १८५४ के आरम्भ में पेरिस में यह अफवाह फैला दी गयी थी कि सेवास्तोपोल पर मित्र-राष्ट्रों ने फतह हासिल कर ली है। इस झूठी खबर को फ्रांस, ब्रिटेन, बेल्जियम तथा जर्मनी के सरकारी अखबारों ने भी छाप दिया। परन्तु, कुछ दिन बाद फ्रांसीसी अखबारों को इस रिपोर्ट को गलत कहने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा। —पृष्ठ ५२।

३९. *बम्बई टाइम्स* : अंग्रेजी का दैनिक अखबार जिसकी १८३८ में बम्बई में स्थापना हुई थी। —पृष्ठ ५३।

४०. *द प्रेस* : टोरी साप्ताहिक, १८५३ से १८६६ तक लंदन में प्रकाशित हुआ था। —पृष्ठ ५५।

४१. *पेज* : फ्रांसीसी दैनिक जिसकी स्थापना पेरिस में १८४९ में हुई थी। द्वितीय साम्राज्य (१८५२-७०) के समय वह नेपोलियन तृतीय की सरकार का अर्ध-सरकारी मुखपत्र था; उसका एक उपनाम जनरल द ल' एम्पायर (साम्राज्य की पत्रिका) हुआ करता था। —पृष्ठ ५५।

४२. दी मॉरनिंग पोस्ट : अनुदार (कंजरवेटिव) दैनिक पत्र, जो १७७२ से १९३७ तक लंदन से प्रकाशित हुआ था। १९वीं शताब्दी के मध्य में वह पामर्सटन के अनुयाई दक्षिण-पंथी ह्विग लोगों का मुखपत्र था।—पृष्ठ ६०।

४३. सारगोसा : स्पेन में एब्रो नदी के तट पर स्थित एक नगर। प्रायद्वीप के युद्ध के दिनों यानी १८०८-०९ में सारगोसा ने घेरा डालने वाली फ्रांसीसी फौजों का वीरता-पूर्वक मुकाबला किया था। (टिप्पणी ३१ भी देखिए)। —पृष्ठ ६४।

४४. डैन्यूब का झगड़ा : मार्क्स का मतलब उस राजनयिक संघर्ष से है जो १८५६ की पैरिस कांग्रेस में, और बाद में, डैन्यूब के मोलदेविया तथा वालेशिया राज्यों को मिलाने के सवाल को लेकर हुआ था। ये राज्य उस समय तुर्की के अधीन थे। इस आशा से कि उनका राजा बोनापार्ट के राजवंश के किसी सदस्य को बनाया जायेगा, फ्रांस ने यह सुझाव रखा था कि योरोप के शासक राजवंशों से सम्बंधित किसी एक विदेशी राजकुमार के शासन में उक्त राज्यों को एक रूमानियाई राज्य के रूप में संयुक्त कर दिया जाय। रूस, प्रशा तथा सारडीनिया फ्रांस का समर्थन कर रहे थे। तुर्की इसके विरुद्ध था, क्योंकि उसे डर था कि रूमानिया का राज्य ओटोमेन साम्राज्य के जुए को उतार फेंकने की कोशिश करेगा; तुर्की को आस्ट्रिया तथा ब्रिटेन का समर्थन प्राप्त था। एक लम्बे संघर्ष के बाद, कांग्रेस ने माना कि इस बात की जरूरत है कि स्थानीय दीवानों के चुनावों के द्वारा रूमानिया के निवासियों की भावना का पता लिया जाय। चुनाव हुए, किन्तु बेईमानी की वजह से मोलदेविया के दीवान में संघ के विरोधियों की जीत हो गयी। इसकी वजह से फ्रांस, रूस, प्रशा और सारडीनिया ने विरोध किया। उन्होंने मांग की कि चुनावों को रद्द कर दिया जाय। तुर्की ने उत्तर देने में देर कर दी और अगस्त १८५७ में इन देशों ने उसके साथ राजनयिक सम्बंध भंग कर दिया। नैपोलियन तृतीय के बीच-बचाव करने से यह झगड़ा तय हो गया। उसने ब्रिटिश सरकार को राजी कर लिया कि फ्रांसीसी योजना का, जो ब्रिटेन के लिए भी उतनी ही लाभदायक थी, वह विरोध न करे। राज्यों में हुए चुनावों को रद्द कर दिया गया, परन्तु नया चुनाव भी मामले को तय करने में असफल रहा। दोनों राज्यों को मिलाने की समस्या को स्वयं रूमानिया के लोगों ने हल कर लिया। —पृष्ठ ६५।

४५. होल्सटीन तथा श्लेशविग की जर्मन रियासतें (डचिया) कुछ शताब्दियों तक डेनमार्क के राजा के शासन के नीचे थीं। डेनमार्क के राजतंत्र की अखंडता की गारंटी करते हुए, ८ मई १८५२ को रूस, आस्ट्रिया, ब्रिटेन, फ्रांस, प्रशा तथा स्वीडन और डेनमार्क के प्रतिनिधियों ने लंदन की संधि पर

दस्तखत किये। इसके द्वारा इन दोनों रियासतों के स्व-शासन के अधिकार को मान लिया गया, परन्तु उनके ऊपर डेनमार्क के राजा के सर्वोच्च शासन को कायम रखा गया। लेकिन, संधि के बावजूद, १८५५ में डेनमार्क सरकार ने एक विधान प्रकाशित कर दिया। इसके जरिए डेनमार्क के शासन के अन्तर्गत इन रियासतों की स्वतंत्रता और स्व-शासन को खत्म कर दिया गया। इसके विरोध में जर्मन डायट (पार्लियामेंट) ने फरवरी १८५७ में एक आदेश जारी किया और इन रियासतों में उस विधान के लागू किये जाने का विरोध किया; परन्तु, गलती से उसने केवल होल्स्टील तथा लाउएनबर्ग (डेनमार्क के शासन के अन्तर्गत तीसरी जर्मन रियासत) का ही नाम लिया और श्लेशविग का नाम गलती से छूट गया। डेनमार्क ने इस चीज का फायदा उठाया और वह श्लेशविग को अपने राज्य में शामिल करने की तैयारी करने लगा। इसका न केवल श्लेशविग की आबादी ने, जो होल्सटीन से अलग नहीं होना चाहती थी, बल्कि प्रशा, आस्ट्रिया तथा ब्रिटेन ने भी विरोध किया। ये देश डेनमार्क के इस कार्य को लंदन संधि की शर्तों के विरुद्ध मानते थे। —पृष्ठ ६६।

४६. मार्क्स की १८५७ की नोटबुक में दर्ज तिथि के अनुसार, "भारत में किये गये अत्याचारों की जांच" नामक लेख को उन्होंने २८ अगस्त को लिखा था, परन्तु किसी अज्ञात कारण से न्यू-यॉर्क डेली ट्रिब्यून के सम्पादकों ने उसे "भारतीय विद्रोह" (इस संग्रह के पृष्ठ ८७-९१ देखिए) नामक लेख के बाद प्रकाशित किया था। सम्पादक यहां इसी लेख का उल्लेख कर रहे हैं। इसे मार्क्स ने ४ सितम्बर को लिखा था। —पृष्ठ ६७।

४७. नीली पुस्तकें (ब्लू-बुक्स)—ब्रिटिश पार्लियामेंट तथा वैदेशिक दफ्तर द्वारा प्रकाशित की जानेवाली सामग्री तथा दस्तावेजों का एक आम नाम। नीली पुस्तकें वे इसलिए कहलाती हैं कि उनकी जिल्दें नीली होती हैं। ये पुस्तक इंगलैंड में १७वीं शताब्दी से प्रकाशित हो रही हैं। देश के आर्थिक और राजनयिक इतिहास के वे ही मुख्य सरकारी रिकार्ड हैं। यहां पर लेखक उस नीली पुस्तक का उल्लेख कर रहे हैं जिसका शीर्षक है: ईस्ट इंडिया (यंत्रणाएं), लदन, १८५५-५७। —पृष्ठ ६७।

४८. मद्रास में किये गये अत्याचारों के कथित मामलों की जांच-पड़ताल के लिए नियुक्त किये गये कमीशन की रिपोर्ट, लंदन, १८५५। —पृष्ठ ६७।

४९. आगरामांटे—आरिओस्तो की कविता ओरलैंडो फ्यूरिओसो का हब्शी बादशाह। शार्लमेंने के युद्ध के समय आगरामांटे ने पैरिस को घेर लिया था। अपनी फौजों के अधिकांश भाग को उसने उस नगर की फसीलों पर केन्द्रित कर दिया था। मार्क्स यहां ओरलैंडो फ्यूरिओसो की इस प्रसिद्ध पंक्ति की

ओर इशारा कर रहे है : आगरामांटे के शिविर में मतभेद है। इसका इस्तेमाल आम तौर से फूट बताने के लिए किया जाता है। —पृष्ठ ७५ ।

५०. द डेली-न्यूज—ब्रिटेन का उदारवादी पत्र, औद्योगिक पूंजीपति वर्ग का मुखपत्र। इसी नाम से १८४० से १९३० तक वह लंदन से प्रकाशित होता रहा था। —पृष्ठ ७५ ।

५१. द मोफॅसिलाइट—अंग्रेजी भाषा का एक साप्ताहिक उदारदली पत्र जो १८४५ के बाद भारत में निकला था। पहले वह मेरठ से निकला करता था और बाद में आगरा और अम्बाला से। —पृष्ठ ७९ ।

५२. लेखक ईस्ट इंडिया कम्पनी के १८५३ के पट्टे का उल्लेख कर रहे है (टिप्पणी ३ देखिए)। —पृष्ठ ८२ ।

५३. वेण्डी (पश्चिमी फ्रांस के एक प्रांत) मे फ्रांसीसी राजतंत्रवादियों ने पिछड़े किसान वर्ग का इस्तेमाल करके १७९३ मे एक प्रति-क्रांति करा दी थी। उसे रिपब्लिकन (प्रजातंत्रवादी) सेना ने कुचल दिया। इस सेना के सिपाही "ब्लूज" कहलाते थे।

स्पेन के छापेमार—१८०८-१४ में फ्रांसीसी आक्रमणकारियो के विरुद्ध स्पेनी जनता के राष्ट्रीय मुक्ति सघर्ष के सिलसिले में किये जानेवाले छापेमार युद्ध में भाग लेनेवाले लोग। वहां के किसान ही, जिन्होंने विजेताओ का अत्यंत दृढ़ता के साथ प्रतिरोध किया था, छापेमारों के पीछे मुख्य चालक शक्ति थे।

१८४८-४९ की क्रांति के दिनों में हंगरी और ऑस्ट्रिया के क्रांतिकारी आंदोलन को कुचलने मे सर्बिया तथा क्रोट की फौजो ने भाग लिया था। हंगरी का अभिजात वर्ग, जो आस्ट्रिया-हंगरी का अंग था, न केवल हंगेरियाई किसानों का, बल्कि अनेक गैर-हंगेरियाई राष्ट्रीय जातियों का भी उत्पीड़न करता था। सर्बों और क्रोटों की राष्ट्रीय स्वतत्रता की माग का वह विरोध करता था। इससे आस्ट्रिया के प्रतिक्रियावादियो को मौका मिल गया और उन्होने सर्बियाई तथा क्रोट फौजों को खुद अपने स्वार्थ के लिए, बुडापेस्ट और वियना के विद्रोह को कुचलने के काम में, इस्तेमाल कर लिया।

गार्द मोबाइल—(उड़न दस्ता) इसकी स्थापना फ्रांसीसी सरकार के एक फरमान के द्वारा २५ फरवरी १८४८ को की गयी थी। उसका उद्देश्य क्रांतिकारी जनता को कुचलना था। मुख्यतया पतित हो गये लोगो से बनाये गये उसके दस्तो का इस्तेमाल, जून १८४८ में, पेरिस के मजदूरों के विद्रोह को कुचलने के लिए किया गया था। जनरल कैवेगनाक ने, युद्ध मंत्री की हैसियत से, स्वयं अपनी देखरेख में मजदूरों का कत्लेआम करवाया था।

दिसम्बरवादी—एक गुप्त बोनापार्टवादी संघ जिसकी स्थापना १८४९ में हुई थी। उसमे अधिकांशतया वर्ग-च्युत हो गये तत्व, राजनीतिक भगोड़े और फौजवादी आदि थे। उसके सदस्यों ने १० दिसम्बर, १८४८ को लुई बोनापार्ट को फ्रांसीसी प्रजातन्त्र का राष्ट्रपति चुनवाने में मदद दी थी (संघ का नाम इसी कारण दिसम्बरवादी पड़ा था)। २ दिसम्बर, १८५१ के छलपूर्वक किये गये उस अचानक हमले मे भी उन्होंने भाग लिया था जिसके परिणामस्वरूप १८५२ में नेपोलियन तृतीय के रूप में लुई बोनापार्ट को फ्रांस का सम्राट घोषित कर दिया गया। वे प्रजातंत्रवादियो तथा खास तौर से १८४८ की क्रांति मे भाग लेनेवालों के खिलाफ सामूहिक दमन संगठित करने में सक्रिय भाग लेते थे। —पृष्ठ ८७।

५४. लेखक प्रथम अफीम युद्ध (१८३९-४२) का हवाला दे रहे हैं। चीन के विरुद्ध ब्रिटेन का यही वह आक्रमणकारी युद्ध था जिससे चीन की अर्ध-औपनिवेशिक हैसियत की शुरुआत हुई थी। कैन्टन में विदेशी व्यापारियो के अफीम के स्टॉकों को चीनी अधिकारियो ने नष्ट कर दिया था। इसी घटना को इस युद्ध के लिए अंग्रेजो ने एक बहाना बना लिया था। पिछड़े हुए सामंती चीन की हार का फायदा उठाकर ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने उसके ऊपर नानकिंग की लुटेरी सधि लाद दी (२९ अगस्त, १८४२)। इस सधि के द्वारा चीन के ५ बंदरगाह (कैन्टन, एमोय, फुचोव, निन्गपो और शंघाई) ब्रिटिश व्यापार के लिए खोल दिये गये, हांगकांग द्वीप को "शाश्वत अधिकार" के लिए ब्रिटेन को सौंप दिया गया, और चीन से युद्ध का भारी हरजाना वसूल किया गया। १८४३ के एक परिशिष्ट करार (प्रोटोकाल) के जरिए विदेशियों को अपने देश में गैर-मुल्की अधिकार प्रदान करने के लिए भी चीन को मजबूर कर दिया गया। —पृष्ठ ८८।

५५. लेखक कैन्टन की बर्बर बमबारी का जिक्र कर रहे हैं। यह बमबारी चीन मे ब्रिटिश सुपरिंटेंडेन्ट जॉन बाउरिंग के हुक्म से की गयी थी। उसमें शहर के उप-नगरों के लगभग ५,००० मकान नष्ट हो गये थे। यह बमबारी १८५६-५८ के दूसरे अफीम युद्ध की भूमिका थी (टिप्पणी २९ देखिए)।

शान्ति संघ—क्वैकरों द्वारा १८१६ मे लदन में स्थापित एक पूजीवादी शान्तिवादी सस्था। इस संघ को मुक्त व्यापार वालों का जोरदार समर्थन प्राप्त था। मुक्त व्यापार के हिमायती सोचते थे कि शान्ति बनी रहने पर, अपने मुक्त व्यापार के जरिए ब्रिटेन अपनी औद्योगिक श्रेष्टता का बेहतर इस्तेमाल कर सकेगा और उसके द्वारा दूसरो पर अपना आर्थिक तथा राज-नीतिक प्रभुत्व कायम कर लेगा।

१८४५ में, अल्जीरिया के विद्रोह के दमन के दिनों में, जनरल पेलीसियर ने, जो बाद में फ्रांस का मार्शल बन गया था, यह आदेश दिया था कि पर्वतीय गुफाओं मे छिपे हजार अरब विद्रोहियों को कैम्प फायरों के धुएं के जरिये दम घोंट कर मार डाला जाय। —पृष्ठ ८९।

५६. लेखक गेइयस जूलियस सीजर की कमेन्टारी द बेल्लो गालिको की चर्चा कर रहे हैं। जिस घटना का यहा उल्लेख किया गया है, वह सीजर के पुराने वकील तथा मित्र ए. हिर्टियस द्वारा लिखी गयी ८वीं पुस्तक से ली गयी है। हिर्टियस ने गॉल के युद्ध के सम्बंध में अपनी टिप्पणियों का लिखना आगे भी जारी रखा था। —पृष्ठ ९०।

५७. मार्क्स यहां चार्ल्स पंचम के उस फौजदारी कानून (Constitutio Criminalis Carolina) की ओर इशारा कर रहे हैं जिसे राइस्टॉग ने १५३२ मे रोजन्सबर्ग मे पास किया था। यह कानून अपनी अतिशय क्रूरता के लिए कुख्यात था। —पृष्ठ ९०।

५८. डब्लू. ब्लैकस्टोन, इंगलैंड के कानूनों का भाष्य, खंड १-४, प्रथम संस्करण, लंदन, १७६५-६७। —पृष्ठ ९०।

५९. मोजार्ट की रचना Die Entfuhrung aus dem Serail, एक्ट ३, दृश्य ६, आस्मिन। —पृष्ठ ९०।

६०. बाइबिल की कथा के अनुसार, जैरिको की दीवालो को इजराइल के लोगों ने अपनी तुरही की धुन से गिरा दिया था। —पृष्ठ ९०।

६१. न्यू-यौर्क डेली ट्रिब्यून के सम्पादक, जिन्होंने इस वाक्यांश को जोड़ दिया था, अपने स्टॉफ सम्वाददाता, हंगेरियाई लेखक और पत्रकार फेरेन्स पुलस्त्जकी की बात कर रहे हैं। पुलस्त्जकी १८३८ की क्रान्ति की पराजय के बाद हंगरी से प्रवास कर आया था। वह मुख्यतया अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर समालोचनाएं लिखता था। —पृष्ठ ९२।

६२ स्पष्ट है कि मार्क्स यहां बंगाल में १७८४ से प्रकाशित होने वाले अंग्रेजी समाचार पत्र कलकत्ता गजट की बात कर रहे हैं। यह पत्र भारत में ब्रिटिश सरकार का मुखपत्र था। —पृष्ठ ९३।

६३. लेखक यहा १८३८-४२ के प्रथम अंग्रेज-अफगान युद्ध की बात कर रहे है। इसे ब्रिटेन ने अफगानिस्तान को गुलाम बनाने के लिए शुरू किया था। अगस्त १८३९ में अंग्रेजों ने काबुल पर कब्जा कर लिया था; किन्तु नवम्बर १८४१ में वहां एक विद्रोह शुरू हो जाने की वजह से, जनवरी १८४२ में वहा से वापिस हटने के लिए वे मजबूर हो गये थे। उन्होंने भारत लौटने का मार्ग अपनाया। उनके पीछे हटने की क्रिया ने एक भयाक्रान्त भगदड़ का

रूप ले लिया था। ४५०० अंग्रेज सैनिकों और १२,००० अनुचरों में से केवल एक आदमी भारतीय सीमा तक वापिस पहुंच सका था। —पृष्ठ ९६।

६४. लेखक यहां नैपोलियन-पंथी फ्रांस के विरुद्ध युद्ध के दिनों के उस *ब्रिटिश नौसैनिक अभियान* की बात कर रहे हैं जो १८०९ में शेल्डे नदी के मोहाने तक पहुंच गया था। बालचेरेन द्वीप पर अधिकार कर लेने के बाद अंग्रेज अपने हमले को आगे नहीं बढ़ा सके थे। भूख और बीमारी के कारण ४० हजार की अपनी सेना में से लगभग १० हजार सैनिकों को खोकर उन्हें वापिस लौटने के लिए मजबूर होना पड़ा था। —पृष्ठ ९७।

६५. **न्यू-यौर्क डेली ट्रिब्यून** में यह लेख निम्न शब्दों से शुरू होता है : "हमें कल ७ तारीख तक के लंदन के पत्रों की फाइलें प्राप्त हुई हैं।" इन शब्दों को सम्पादकों ने जोड़ दिया था। —पृष्ठ १०२।

६६. **मार्निंग एडवर्टाइजर**— अंग्रेजी दैनिक पत्र जिसकी स्थापना १७८४ में लंदन में की गयी थी; १८५०–६० के बीच वह उग्रवादी पूंजीपति वर्ग का एक मुखपत्र था। —पृष्ठ १०६।

६७. **फ्रेण्ड ऑफ इंडिया** (भारत मित्र)—एक अंग्रेजी समाचार पत्र जिसकी स्थापना १८१८ में सेरामपुर में हुई थी; १८५०–६० के बीच वह हफ्ते में एक बार निकलता था। उसके विचार पूंजीवादी उदारवादी थे। —पृष्ठ १०९।

६८. **मिलिटरी स्पेक्टेटर** (सैनिक दर्शक) — ब्रिटेन का सैनिक साप्ताहिक पत्र, जो १८५७ से १८५८ तक लंदन से निकला करता था। —पृष्ठ १०९।

६९. **बॉम्बे कूरियर** (बम्बई का सदेशवाहक) — ब्रिटिश सरकार का पत्र। ईस्ट इंडिया कम्पनी का मुखपत्र। १७९० में स्थापित किया गया था। —पृष्ठ १११।

७०. यह तालिका मार्क्स ने तैयार की थी। इसे उन्होंने इसी लेख के साथ न्यू-यौर्क भेजा था, परन्तु सम्पादकों ने पत्र के उसी अंक में उसे अलग से छठे पृष्ठ पर छापा था। —पृष्ठ ११३।

७१. लेखक क्राइमिया के युद्ध की बात कर रहे हैं। ५ नवम्बर, १८५४ को, इन्करमैन में रूसी फौजों ने अंग्रेज-फ्रांसीसी-तुर्की गुट की फौजों के ऊपर जवाबी हमला कर दिया था जिसमें कि सेवास्तोपोल पर हमला करने की उनकी तैयारियों को वे विफल कर दें। रूसी फौजों की बहादुरी के बावजूद, अंग्रेज-फ्रांसीसी-तुर्की फौजें लड़ाई जीत गयी। —पृष्ठ ११५।

७२. २५ अक्तूबर १८५४ के दिन बलकलावा में रूसी और मित्र देशों की फौजों के बीच एक लड़ाई हुई। इस लड़ाई में अधिक अनुकूल परिस्थिति के बावजूद *ब्रिटिश और फ्रांसीसी फौजों को जबर्दस्त क्षति उठानी पड़ी।* अंग्रेजी

कमान की गलतियों की वजह से अंग्रेजों का एक हल्का घुड़सवार ब्रिगेड बिल्कुल गारत हो गया। —पृष्ठ ११९।

७३. बम्बई गजट—भारत में निकलने वाला अंग्रेजी समाचार पत्र जिसकी स्थापना १७९१ में की गयी थी। —पृष्ठ ११७।

७४. ग्लोब—अंग्रेजी दैनिक समाचार पत्र, द ग्लोब एंड ट्रैवलर का संक्षिप्त नाम। यह लंदन में १८०३ से प्रकाशित हुआ था। ह्विग लोगों का मुखपत्र होने की वजह से जब ह्विग लोगों की सरकार बनी तब यह सरकारी पत्र बन गया था। १८६६ के बाद से यह कन्जरवेटिव पार्टी (अनुदार दल) का मुखपत्र बन गया है। —पृष्ठ १२२।

७५. लेखक पालियामेंट के १८३३ के उस एक्ट का हवाला दे रहे हैं जिसने ईस्ट इंडिया कम्पनी को चीन में व्यापार करने की इजारेदारी से वंचित कर दिया था और व्यापार की एक एजेंसी के रूप में उसका अन्त कर दिया था। पालियामेंट ने कम्पनी के पास उसके प्रशासकीय कार्य बने रहने दिये थे और उसके पट्टे को १८५३ तक के लिए बढ़ा दिया था। —पृष्ठ १२३।

७६. फ्रेंड ऑफ इंडिया...

७६. फोनिक्स—भारत में अंग्रेजी सरकार का पत्र; १८५६ से १८६१ तक कलकत्ते से प्रकाशित हुआ था। —पृष्ठ १२५।

७७. यह शीर्षक मार्क्स की १८५८ की नोटबुक में दर्ज नाम के आधार पर दिया गया है। —पृष्ठ १२७।

७८. लेखक क्राइमिया के १८५३–५६ के युद्ध का हवाला दे रहे हैं। अल्मा की लड़ाई २० सितम्बर, १८५४ को हुई थी और मित्र देशों की फौज उसमें विजयी हुई थी। —पृष्ठ १२७।

७९. यहां हवाला क्राइमिया के १८५३–५६ के युद्ध का दिया जा रहा है। सेवास्तोपोल की किलेबंदियों के तीसरे दुर्ग (तथाकथित बड़े रेडान) पर मित्र देशों द्वारा १८ जून, १८५५ को एक असफल हमला किया गया था। हमला करनेवाले ब्रिगेड का कमांडर विंडम था। —पृष्ठ १२८।

८०. यह शीर्षक मार्क्स की १८५८ की नोटबुक में दर्ज शीर्षक से मिलता है। —पृष्ठ १३४।

८१. १८३८-४२ के प्रथम अंग्रेज-अफगान युद्ध की ओर इशारा किया जा रहा है (टिप्पणी ६३ देखिए)। —पृष्ठ १३५।

८२. यहां एंगेल्स बर्मा में नगरों और शिविरों के चारों तरफ की जानेवाली एक प्राचीन ढंग की किलेबन्दी की चर्चा कर रहे हैं। —पृष्ठ १४३।

८३. स्पेन के किले बाडाजोज पर फ्रांसीसियों का अधिकार था। वैलिंग्टन के नेतृत्व में अंग्रेजों ने ६ अप्रैल १८१२ को उसे कब्जे में ले लिया था।

स्पेन के किले सोन सेबास्टियन पर, जो फ्रांसीसियों के अधिकार में था, ३१ अगस्त, १८१३ को हमला किया गया था। —पृष्ठ १४५।

८४. यहां भारत के गवर्नर जनरल लार्ड कैनिंग द्वारा ३ मार्च, १८५८ को जारी की गयी घोषणा का हवाला दिया जा रहा है। इस घोषणा के अनुसार, अवध राज्य की भूमि को ब्रिटिश अधिकारियों ने जब्त कर लिया था। इस भूमि में उन बड़े-बड़े सामन्ती जमीदारों, ताल्लुकेदारों की भी जमीनें शामिल थीं जिन्होंने विद्रोह में भाग लिया था। परन्तु, ब्रिटिश सरकार ने, जो ताल्लुकेदारों को अपनी तरफ मिलाना चाहती थी, कैनिंग की घोषणा के मतलब को बदल दिया। ताल्लुकेदारों से वादा किया गया कि उनकी सम्पत्ति पर हाथ नहीं लगाया जायगा। इसके बाद उन्होंने विद्रोह के साथ गद्दारी की और अंग्रेजों से जाकर मिल गये।

इस घोषणा का "अवध का अनुबंधन" और "लार्ड कैनिंग की घोषणा और भारत की भूमि व्यवस्था" शीर्षक अपने लेखों में मार्क्स ने विश्लेषण किया है। (पृष्ठ १४९–५६ और १५७–६० देखिए)। —पृष्ठ १४६।

८५. अपनी सेना के बढ़िया संगठन के बावजूद, और इस बात के बावजूद कि अंग्रेजों के खिलाफ वह सेना जबर्दस्त बहादुरी से लड़ी थी, १८ दिसम्बर, १८४५ को मुड़की नामक गांव मे (फीरोजपुर के समीप), तथा २१ दिसम्बर १८४५ को फीरोजपुर में, और २८ जनवरी १८४६ को लुधियाना के करीब अलिवाल गांव की लड़ाई में सिख हार गये। परिणामस्वरूप, सिख १८४५-४६ के प्रथम अंग्रेज-सिख युद्ध में पराजित हुए। हार का मुख्य कारण उनके सर्वोच्च कमान की गद्दारी थी। —पृष्ठ १४७।

८६. यह शीर्षक मार्क्स की १८५८ की नोटबुक के आधार पर दिया गया है। —पृष्ठ १४९।

८७. यहा मार्क्स अवध के सम्बंध मे गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिंग की घोषणा को उद्धृत कर रहे हैं। (टिप्पणी ८४ देखिए)। यह घोषणा ८ मई, १८५८ को टाइम्स में छपी थी। —पृष्ठ १४९।

८८. यहा पोलैंड के राज्य में हुए १८३०–३१ के विद्रोह को रूसी प्रतिक्रियावादियो द्वारा कुचल दिये जाने की बात का हवाला दिया जा रहा है। पोलैंड का राज्य रूसी साम्राज्य का अंग था। —पृष्ठ १४९।

८९. लेखक १८४८–४९ के ऑस्ट्रिया तथा इटली के युद्ध की बात कर रहे हैं। इस युद्ध में २३ मार्च, १८४९ को, नोवारा (उत्तरी इटली) की लड़ाई में सारडीनिया के राजा चार्ल्स एलबर्ट की फौजों की जबर्दस्त पराजय हुई थी। —पृष्ठ १४९।

९०. अवध मुगल साम्राज्य का अंग था; किन्तु १८वी सदी के मध्य में अवध का मुगल वायसराय वास्तव में एक स्वतंत्र शासक बन गया। १७६५ में अंग्रेजों ने अवध को अपने आधीन एक जागीर में बदल दिया। राजनीतिक सत्ता ब्रिटिश रेजीडेन्ट के हाथों में चली गयी। इस स्थिति पर पर्दा डालने के लिए अवध के शासक को अंग्रेज अक्सर बादशाह कहते थे। —पृष्ठ १५०।

९१. ईस्ट इंडिया कम्पनी तथा अवध के नवाब के बीच १८०१ मे हुई संधि के अनुसार, यह बहाना करके कि नवाब ने अपना कर्जा नहीं चुकाया है, भारत के गवर्नर-जनरल वैलेजली ने उसकी आधी जागीर को हड़प लिया। इस हड़पे हुए हिस्से में गोरखपुर, रुहेलखंड तथा गंगा और और जमुना नदियों के बीच के कुछ इलाके आते थे।—पृष्ठ १५१।

९२. न्यू-यॉर्क डेली ट्रिब्यून के सम्पादक, जिन्होंने मार्क्स के लेख में यह बात जोड़ दी थी, भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड कैनिंग तथा अवध के चीफ कमिश्नर आउट्रम के बीच हुए उस पत्र-व्यवहार का हवाला देते है जो अवध के सम्बंध में कैनिंग की घोषणा को लेकर हुआ था (देखिए टिप्पणी ८४)। यह घोषणा उस पत्र में ५ जून, १८५८ को प्रकाशित हुई थी। —पृष्ठ १५७।

९३. १९वी शताब्दी के मध्य तक लगभग सारा भारत ब्रिटिश शासन की मातहती मे आ गया था। कश्मीर, राजपूताना, हैदराबाद का एक भाग, मैसूर और कुछ दूसरी छोटी-छोटी जागीरें ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधीन थी। —पृष्ठ १५७।

९४. यहां भारतीय गवर्नर-जनरल कार्नवालिस द्वारा स्थायी जमीन्दारी के सम्बंध मे जारी किये गये १७९३ के एक्ट का हवाला दिया जा रहा है। (टिप्पणी २२ देखिए)। —पृष्ठ १५८।

९५. १९ अप्रैल, १८५८ के अपने पत्र मे नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष, लार्ड एलेनबरो ने अवध के सम्बन्ध में लार्ड कैनिंग की घोषणा की आलोचना की थी। (टिप्पणी ८४ देखिए)। किन्तु चूकि लार्ड एलेनबरो के पत्र को ब्रिटेन के राजनीतिक हल्कों में नापसन्द किया गया था, इसलिए उसे त्यागपत्र देने के लिए मजबूर हो जाना पड़ा था। —पृष्ठ १६०।

९६. बात उस बिल की की जा रही है जिसे डर्बी के मंत्रि-मंडल ने मार्च में पर्लियामेंट के अन्दर पेश किया था और जो जुलाई १८५८ मे पास हो गया था। बिल "भारत की सरकार को अच्छी तरह से चलाने के लिए कानून" के नाम से पास हुआ था। इस कानून से भारत पूरे तौर से ताज के मातहत हो गया था और ईस्ट इंडिया कम्पनी समाप्त हो गयी थी। कम्पनी

के हिस्सेदारों को ३० लाख पौण्ड का मुआवजा देना तय हुआ था। नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष के स्थान पर भारत-मंत्री को नियुक्त कर दिया गया था और सलाहकार के रूप में भारतीय कौंसिल की स्थापना हुई थी। भारत के गवर्नर-जनरल को वायसराय का नाम दे दिया गया था, पर वास्तव में उसका काम लंदन स्थित भारत मंत्री की इच्छा को ही पूरा करना था। इस एक्ट का आलोचनात्मक विश्लेषण मार्क्स ने अपने लेख, "भारत सम्बंधी बिल" में प्रस्तुत किया है (पृष्ठ १८१–८५ देखिए)। —पृष्ठ १६१।

९७. यह शीर्षक मार्क्स की १८५८ की नोटबुक के अनुरूप है। —पृष्ठ १६१।

९८. बात उन औपनिवेशिक युद्धों के सम्बंध में की जा रही है जो १९वीं शताब्दी के तीसरे से सातवें दशक तक फ्रांसीसी उपनिवेशवादियों ने अल्जीरिया को फतह करने के उद्देश्य से उस देश में चलाये थे। अल्जीरिया के ऊपर फ्रांसीसी हमले का वहां की अरब आबादी ने लम्बे काल तक दृढ़ता के साथ मुकाबला किया था। फ्रांसीसियों ने युद्ध का संचालन अत्यधिक पाशविकता के साथ किया था। १८४७ तक अल्जीरिया को फतह करने का काम मुख्यतया पूरा हो गया था, परन्तु अपनी आजादी के लिए अल्जीरियाई जनता का संघर्ष कभी नहीं रुका। —पृष्ठ १७९।

९९. यह शीर्षक मार्क्स की १८५८ की नोटबुक में दिये गये नाम के अनुरूप है। —पृष्ठ १८०।

१००. लेखक यहां १७७३ के रेगुलेटिंग (नियामक) एक्ट का उल्लेख कर रहे हैं। इस एक्ट ने उन हिस्सेदारों की संख्या को कम कर दिया था जिन्हें कम्पनी के मामलों पर होने वाले विचार-विमर्श में भाग लेने तथा डायरेक्टर मंडल को चुनने का अधिकार प्राप्त था। इस एक्ट के अन्तर्गत केवल उन्हीं हिस्सेदारों को हिस्सेदारों की मीटिंगों में वोट देने का अधिकार रह गया था जिनके पास एक हजार पौण्ड से कम के हिस्से नहीं थे। प्रथम बार भारत के गवर्नर-जनरल तथा उसकी कौंसिल के सदस्यों की नियुक्ति व्यक्तिगत रूप से ५ वर्ष के लिए की गयी थी। उनको कम्पनी के डायरेक्टर मंडल के शिकायत करने पर केवल बादशाह बर्खास्त कर सकते थे। उसके बाद गवर्नर-जनरल और उसकी कौंसिल के कम्पनी द्वारा नामजद किये जाने की बात हुई थी। १७७३ के एक्ट के मातहत कलकत्ते में लार्ड चीफ जस्टिस तथा तीन जजों का सर्वोच्च न्यायालय स्थापित कर दिया गया। —पृष्ठ १८०।

१०१. विदेशियों के सम्बंध में बिल (अथवा षड्यंत्र बिल) को ८ फरवरी, १८५८ में पामर्सटन ने फ्रांसीसी सरकार के दबाव से कामन्स सभा में पेश

किया था (बिल को पेश करने की घोषणा पामर्सटन ने ५ फरवरी को की थी)। इस बिल के अन्तर्गत, यह व्यवस्था की गयी थी कि ब्रिटेन में अथवा किसी दूसरे देश में किसी व्यक्ति की हत्या करने के लिए की जाने वाली साजिश का संगठन करने या उसमें भाग लेने का अगर ब्रिटेन मे रहने वाला कोई व्यक्ति अपराधी पाया जाय, तो उस पर—वह चाहे ब्रिटेन की प्रजा हो, चाहे विदेशी हो—अंग्रेजी अदालत में मुकदमा चलाया जा सकेगा तथा उसे सख्त सजा दी जा सकेगी। इसके विरोध में उठ खड़े होनेवाले जन-आन्दोलन के दबाव से इस बिल को कामन्स सभा ने नामंजूर कर दिया था और पामर्सटन को त्यागपत्र देने के लिए मजबूर होना पड़ा था। —पृष्ठ १८३।

१०२. डर्बी मंत्रि-मंडल के सत्ता में आने के बाद नियंत्रण बोर्ड के अध्यक्ष लार्ड एलेनबरो को इस बात का अधिकार दिया गया था कि भारत की शासन व्यवस्था में सुधार करने के लिए एक सुधार बिल वह तैयार करें। परन्तु भारतीय कौंसिल के निर्वाचन की उसमें जो अत्यन्त जटिल व्यवस्था रखी गयी थी, उसकी वजह से उनके बिल से सरकार को संतुष्ट नहीं किया। बिल का मजबूती से विरोध हुआ और वह ठुकरा दिया गया। —पृष्ठ १८३।

१०३. सिविस रोमानस सम—यह उपनाम पामर्सटन को पैसीफिको नाम के व्यापारी के सम्बंध में २५ जून, १८५० को कामन्स सभा में उन्होंने जो भाषण दिया था, उसके बाद दे दिया गया था। डौन पैसीफिको नामक व्यापारी एक ब्रिटिश नागरिक था। उसके पूर्वज पुर्तगाली थे। (एथेन्स में उसके घर को जला दिया गया था)। उसकी रक्षा करने के लिए ब्रिटिश नौसेना को यूनान भेजा गया था। इस नौसेना द्वारा वहां किये गये कार्यों को सही ठहराते हुए पामर्सटन ने घोषणा की थी कि रोमन नागरिकता के उस सूत्र—सिविस रोमानस सम—की ही तरह, जिसकी वजह से प्राचीन रोम के नागरिकों को तमाम दुनिया में सम्मान मिलता था, ब्रिटिश नागरिकता के लिए भी इस बात की गारंटी होनी चाहिए कि ब्रिटेन की प्रजा चाहे जहा भी हो, उसकी रक्षा की जायगी। पामर्सटन के इस अंध-राष्ट्रवादी भाषण का इंगलैंड के पूंजीपति वर्ग ने हर्षपूर्वक स्वागत किया था। —पृष्ठ १८३।

१०४. यहां १८५२ के अंग्रेज-बर्मी युद्ध का हवाला दिया जा रहा है। (टिप्पणी १९ देखिए)। —पृष्ठ १९१।

१०५. यह और आगे के पृष्ठ, जिनका अपनी टिप्पणियों के पाठ में मार्क्स उल्लेख करते हैं, रोबर्ट सीवेल की रचना, प्रारंभिक काल से लेकर माननीय ईस्ट इंडिया कम्पनी के १८५८ में समाप्त कर दिये जाने तक का भारत का विश्लेषणात्मक इतिहास मे से लिये गये है। लंदन, १८७०। —पृष्ठ १९५।

१०६. गार्जियन पूंजीवादी पत्र मैन्चेस्टर गार्जियन का संक्षिप्त नाम। यह मुक्त व्यापार वालों का पत्र था, बाद में उदार दल (लिबरल पार्टी) का मुखपत्र बन गया था। इसकी मैंचेस्टर में १८२१ में स्थापना हुई थी। —पृष्ठ२०४।

१०७. एक्जामिनर—अंग्रेजी का पूंजीवादी उदारपंथी साप्ताहिक। १८०८ से १८८१ तक लंदन से निकला था। —पृष्ठ २०४।

१०८. न्यू रेनिशी जीटुंग —जनवादियों का यह मुखपत्र कोलोन में १ जून, १८४८ से १९ मई, १८४९ तक प्रतिदिन प्रकाशित हुआ था। उसके सम्पादक मार्क्स थे। सम्पादक मंडल में एंगेल्स भी थे। पत्र जनवादी आन्दोलन के सर्वहारा पक्ष का लड़ाकू वाहन था। जनता को जाग्रत करने और प्रति-क्रान्ति के विरुद्ध लड़ने के लिए उसको संगठित करने में उसने बहुत मदद दी थी। सम्पादकीय, जो जर्मन तथा योरोपीय क्रान्ति के बुनियादी मुद्दों पर पत्र के दृष्टिकोण को प्रतिबिम्बित करते थे, नियमित रूप से मार्क्स और एंगेल्स द्वारा लिखे जाते थे। यह पत्र पुलिस दमन के मुकाबले में क्रान्तिकारी जनवादियों तथा सर्वहारा वर्ग के हितों का अत्यंत बहादुरी के साथ समर्थन करता था। मार्क्स को देश निकाला दे दिये जाने तथा न्यू रेनिशी जीटुंग के दूसरे सम्पादकों के ऊपर दमन की वजह से अखबार को बन्द होना पड़ा था। —पृष्ठ २०६।

१०९. लेखक ब्रिटेन और चीन द्वारा जून १८५८ में की गयी तियन्तसिन की असमान संधि की ओर इशारा कर रहे हैं। इस चीनी संधि से चीन के साथ लड़े जाने वाले १८५६–५८ के द्वितीय अफीम युद्ध का अन्त हो गया था। संधि ने मंचूरिया में यांग्सी नदी के तट पर स्थित बन्दरगाहों, ताइवान तथा हैनान के द्वीपों और तियन्तसिन के बन्दरगाह को विदेशी व्यापार के लिए खोल दिया था। स्थायी विदेशी राजनयिक प्रतिनिधियों को पेकिंग में प्रवेश दे दिया गया था। विदेशियों को पूरे देश मे मुक्त रूप से यात्रा करने तथा नदियों और समुद्र के जलमार्गों में जहाज चलाने का अधिकार दे दिया गया था। मिशनरियों की सुरक्षा की गारंटी कर दी गयी थी। —पृष्ठ २०८।

नामों की अनुक्रमणिका

अ, आ, ऑ

इ

कुचलने में भाग लिया; जुलाई-सितम्बर १८५७ मे लखनऊ में अंग्रेजी फौजों का कमांडर था।—१९५

ईवन्स, जॉर्ज डि लेसी (१७८७-१८७०) : ब्रिटिश जनरल, क्राइमिया के युद्ध में लड़ा था; उदारपंथी राजनीतिज्ञ, पार्लमेंट का सदस्य।—५८, ६२, ६३

ए

एलगिन, जेम्स ब्रूस, अर्ल (१८११-१८६३) : ब्रिटिश राजनयज्ञ; १८५७-५८, १८६०-६१ में विशेष राजदूत के रूप मे चीन भेजा गया था; बाद में (१८६२-६३) भारत का वाइसराय रहा।—३६

एलिजाबेथ, प्रथम (१५३३-१६०३) : इंगलिस्तान की रानी (१५५८-१६०३)।—१६, २१

एलेनबेरो, एडवर्ड लॉ, बैरन (१७५०-१८१८) : अंग्रेज न्यायाधीश, ह्विग, बाद में टोरी, अटर्नी जनरल (१८०१-०३) तथा किंग्स बेंच का चीफ जस्टिस (१८०२-१८)।—५६, १४६, १५०, १६०, १८३

एन्सन जॉर्ज (१७९७-१८५७) : अंग्रेज जनरल, भारत में अंग्रेज फौजों का कमांडर-इन-चीफ (सेनाधिपति)।—३९, १९३, १९४

एशबर्नहम, टामस (१८०७-१८७२) : अंग्रेज जनरल (सेनापति)। १८५७ में चीन में चल रहे एक सैनिक अभियान का कमांडर था, परन्तु भारत में राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम छिड़ जाने पर भारत बुला लिया गया था।—३७

क

कुली खां, देखिए नादिरशाह।

कुंअर सिंह (?-१८५८) : १८५७-५९ में भारत के राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह के समय अवध के विद्रोहियों का एक नेता।—११२, १९७

क्लाइव, रॉबर्ट (१७२५-१७७४) : बंगाल का गवर्नर जनरल (१७५७-६० और १७६५-६७); भारत पर अंग्रेजी अधिकार के काल में एक सबसे क्रूर उपनिवेशकारी।—२१, ३२

केम्टी, ज्योर्जी (१८१०-१८६५) : तुर्की जनरल, जन्म से हंगेरियावासी था; क्राइमिया के युद्ध के समय डेन्यूब के तट पर तुर्की फौजों का कमांडर था (१८५३-५४); बाद मे (१८५४-५५) काकेशिया में उनका कमांडर बना था।—१२७

कावेनाक, लुइ यूगीनी (१८०२-१८५७) : फ्रांसीसी जनरल और राजनीतिज्ञ; एल्जियर्स को फतह करने की लड़ाई में हिस्सा लिया था (१८३१-४८);

अपनी पाशविकता के लिए कुख्यात; जून १८४८ में युद्ध मंत्री की हैसियत से उसने पैरिस के मजदूरों के विद्रोह को पाशविकता से कुचला था।—८७

कैम्पबेल : अंग्रेज अफसर, १८५७-५९ में भारत के राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम को कुचलने में भाग लिया।—१३९

कैम्पबेल, कॉलिन, बैरन क्लाइड (१७९२-१८६३) : ब्रिटिश जनरल, बाद में फील्ड मार्शल; दूसरे अंग्रेज-सिख युद्ध (१८४८-४९) और क्राइमिया के युद्ध (१८५४-५५) में भाग लिया था; १८५७-५९ के भारतीय स्वातंत्र्य संग्राम (विद्रोह) के समय अंग्रेजी फौजों का कमांडर-इन-चीफ।—१०७, १२७, १२८, १३१, १३३, १३४, १३५, १३६, १३७, १३८, १३९, १४०, १४१, १४३, १४४, १४५, १४७, १६२, १६५, १६७, १६८, १७५, १७६, १७७, १७८, १८५, १९६, १९७, १९८, २०३, २०५

कैम्पबेल, जॉर्ज (१८२४-१८९२): भारत में अंग्रेज औपनिवेशिक अफसर (१८४३-७४ के बीच समय-समय पर); बाद में (१८७५-९२) पार्लियामेंट का सदस्य; उदारपंथी; भारत सम्बंधी पुस्तकों का रचयिता।—३०, १७३

कैनिंग, चार्ल्स जॉन, अर्ल (१८१२-१८६२) : अंग्रेज राजनीतिज्ञ, टोरी, बाद में पील-वादी, भारत का गवर्नर-जनरल (१८५६-६२), भारत के १८५७-५९ के राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह को कुचलने के काम का संगठनकर्ता।—९४, १४६, १४९, १५०, १५७, १५९, १६०, १९१, १९४, १९९

कोबेट, विलियम (१७६२-१८३५) : अंग्रेज राजनीतिज्ञ और लेखक; निम्न पूंजीवादी उग्रवाद का प्रमुख प्रचारक; कहता था कि इंगलैंड की राजनीतिक व्यवस्था का जनवादीकरण कर दिया जाय; १८०२ में कोबेट के साप्ताहिक राजनीतिक रोजनामचे का प्रकाशन शुरू किया।—१७, ९०

कॉरबेट, स्टुअर्ट (?—१८६५) : अंग्रेज जनरल, भारत के १८५७-५९ के राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह को कुचलने में भाग लिया।—१९३

कॉडरिंगटन, विलियम जॉन (१८०४-१८८४) : अंग्रेज जनरल, क्राइमिया में अंग्रेजी फौजों का कमांडर-इन-चीफ (१८५५-५६)।—१२७

कॉर्नवालिस, चार्ल्स मार्क्विस (१७३८-१८०५) : ब्रिटेन का प्रतिक्रियावादी राजनीतिज्ञ, भारत का गवर्नर-जनरल (१७८६-९३, १८०५)। आयरलैंड का जब वाइसराय था (१७९८-१८०१, १८०५), तब उस देश के विद्रोह को उसने कुचला था (१७९८)।—१५८

ग

च

ज

नेपियर, चार्ल्स जेम्स (१७८२-१८५३) : अंग्रेज जनरल, नेपोलियन प्रथम के विरुद्ध युद्धों में उसने भाग लिया था, १८४२-४३ में भारत में उन फौजो का कमाडर था जिन्होने सिंध को जीता था; १८४३-४७ में सिंध का शासक था।—५०, ५९, १२७

नेपोलियन प्रथम, बोनापार्ट (१७६९-१८२१) : फ्रांस का सम्राट (१८०४-१४ तथा १८१५)।—९०, ९७, ९८

नेपोलियन तृतीय (लुई नेपोलियन बोनापार्ट) (१८०८-१८७३) : नेपोलियन प्रथम का भतीजा, दूसरे प्रजातन्त्र का (१८४८-५१) राष्ट्रपति, फ्रास का सम्राट (१८५२-७०)।—६४, १४६, १४९

नौर्थ, फ्रेडरिक (१७३२-१७९२) : अंग्रेज राजनेता, टोरी, चांसलर ऑफ द' एक्सचेकर (१७६७), प्रधान मत्री (१७७०-८२); १७८३ मे पोर्टलैण्ड के संयुक्त मत्रि-मडल मे गृह मत्री (फौक्स-नौर्थ मन्त्रि-मडल)।—१८

प

पुरन्दर सिंह : हिन्दुस्तान का राजा। —११२

पामर्सटन, हैनरी जॉन टैम्पुल, विस्काउण्ट (१७८४-१८६५) : ब्रिटेन का प्रधान मत्री। अपने राजनीतिक जीवन के आरम्भ मे वह टोरी था। १८३० के बाद से एक ह्विग नेता था, ह्विग पार्टी के दक्षिणपन्थी तत्वों का उसे समर्थन था। विदेश मंत्री (१८३०-३४, १८३५-४१, १८४६-५१); गृह मंत्री (१८५२-५५) तथा प्रधान मंत्री (१८५५-५८, १८५९-६५)।—४२, ५८, ६१, ६२, ६३, ६४, १४६, १५२, १५३, १८२, १८३, १८४, १९९

पिट, विलियम जूनियर (१७५९-१८०६) : अंग्रेज राजनेता, टोरी पार्टी का नेता, प्रधान मत्री (१७८३-१८०१, १८०४-०६)।—१८, १९, १८२

पील, विलियम (१८२४-१८५८) : अंग्रेज अफसर, भारत के राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह (१८५७-५९) के समय एक नौसैनिक ब्रिगेड के नेता की हैसियत से विद्रोह को कुचलने में उसने हिस्सा लिया था। —१९६

पैटन, जॉन स्टैफर्ड (१८२१-१८८९) : अंग्रेज अफसर, बाद मे जनरल। प्रथम और द्वितीय अंग्रेज-सिख युद्धों में (१८४५-४६, १८४८-४९) भाग लिया। फिर भारत के १८५७-५९ के राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह को कुचलने के काम मे हिस्सा लिया।—१०२

पोलैक्सफेन, जॉन (१६३८-?-?) : एक अंग्रेज व्यापारी और आर्थिक समस्याओं का लेखक। ईस्ट इंडिया कम्पनी की इजारेदारी को खत्म करने की वकालत करता था।—२२

मरे, चार्ल्स (१८०६-१८९५) : अंग्रेज राजनयज्ञ, मिस्र में काउंसल जनरल (१८४६-५३), तेहरान में राजदूत (१८५४-५९) ।—६२

महान मुगलों : भारतीय सम्राटों का राजवंश ।—२७, ८९

मामू खां : भारत के १८५७-५९ के राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह के समय अवध के विद्रोहियों का कमांडर था ।—१९९

मानसिंह : भारतीय राजा; अगस्त १८५८ में विद्रोहियों के साथ शामिल हो गया था; परन्तु १८५९ के आरम्भ में विद्रोह के सुविख्यात नेता तातिया टोपी के साथ उसने गद्दारी की थी ।—१८७

मानसिंह : अवध राज्य का एक बड़ा सामन्ती भू-स्वामी; १८५७-५९ के भारत के राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह के समय अंग्रेज उपनिवेशवादियों का वह एक मित्र था ।—१८५, १८७

मार्लबोरो, जॉन चर्चिल, ड्यूक (१६५०-१७२२) : अंग्रेज जनरल; १७०२-११ के दरम्यान स्पेन के उत्तराधिकार के युद्ध मे अंग्रेजी फौजों का कमांडर-इन-चीफ था ।—१२७

मिल, जेम्स (१७७३-१८३६) : अंग्रेज पूंजीवादी अर्थशास्त्री और दार्शनिक, "ब्रिटिश-भारत का इतिहास" नामक पुस्तक का लेखक ।—२१

मिनी, क्लॉड एतिनी (१८०४-१८७९) : फ्रांसीसी फौजी अफसर और सैनिक आविष्कर्ता; उसने एक नयी तरह की राइफल का आविष्कार किया था। —१३१

मुन, टॉमस (१५७१-१६४१) : अंग्रेज सौदागर तथा अर्थशास्त्री, वणिक; १६१५ से ईस्ट इंडिया कम्पनी का एक डायरेक्टर था ।—२१

मेसन, जॉर्ज हेनरी मौन्क (१८२५-१८५७) : अंग्रेज अफसर, जोधपुर में रहता था; भारत के १८५७-५९ के राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह के समय वह मारा गया था ।—११२

मुहम्मद अलीशाह : अवध का बादशाह (१८३७-१८४२) ।—१५३

मोलियर, जाँ बापतिस्ते (पोक्वेलिन) (१६२२-१६७३) : महान् फ्रांसीसी नाटककार ।—९०

मोजार्ट, वोल्फगौग अमेडिअस (१७५६-१७९१) : महान आस्ट्रियाई संगीत रचयिता ।—९०

मौलवी अहमदशाह (?-१८५८) : भारत के १८५७-५९ के राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह का एक प्रमुख नेता' जनता के हितों का प्रतिनिधि; अवध में विद्रोह

ल

लक्ष्मी बाई (१८३०?–१८५८) : झांसी राज्य की रानी, राष्ट्रीय वीरांगना, १८५७-५९ के भारतीय राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह की एक नेत्री, विद्रोही दस्तों का उन्होंने स्वयं नेतृत्व किया था, लड़ाई में मारी गयी थी।—१९७, १९८

लीड्स, टॉमस ओसबार्न : १६८९ से कारमार्थेन का मार्क्विस, १६९४ से ड्यूक (१६३१-१७१२); अंग्रेज राजनेता, टोरी, प्रधान मंत्री (१६७४-७९ और १६९०-९५); १६९५ में पार्लियामेन्ट ने उसके ऊपर घूसखोरी का अभियोग लगाया था।—१७, १८०

लुई नेपोलियन : देखिए नेपोलियन तृतीय।

लुई फिलिप (१७७३-१८५०) : ओर्लियन्स का ड्यूक, फ्रांस का बादशाह, (१८३०-४८)।—१६, १७, ४३, १४९

लुगर्ड, एडवर्ड (१८१०-१८९८) : अंग्रेज जनरल, अंग्रेज-ईरानी युद्ध (१८५६-५७) में तथा १८५७-५९ के भारत के राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह को कुचलने में भाग लिया था।—१३८, १७७, १९७

लेसी ईवन्स : देखिए ईवन्स, जार्ज डि लेसी।

लारेन्स : भारत में अंग्रेज अफसर।—५३

लारेन्स, जार्ज सेण्ट पैट्रिक (१८०४-१८८४) : अंग्रेज जनरल, १८५७-५९ के राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह को कुचलने में भाग लिया, राजपूताना का रेजीडेन्ट (१८५७-१८६४)।—११२

लारेन्स, हेनरी मॉण्टगोमरी (१८०६-१८५७) : अंग्रेज जनरल, नेपाल में रेजीडेण्ट (१८४३-४६), पंजाब के प्रशासन बोर्ड का अध्यक्ष (१८४९-५३), अवध में चीफ कमिश्नर (१८५७), १८५७-५९ में भारत के राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह के समय लखनऊ में अंग्रेज फौजों का कमांडर था।—३६, ५१, ८१, १००, १९२, १९५

लारेन्स, जॉन लेयर्ड मेयर (१८११-१८७९) : ब्रिटेन के औपनिवेशिक प्रशासन का उच्चाधिकारी; पंजाब का चीफ कमिश्नर (१८५३-५७); भारत का वायसराय (१८६४-६९)।—७१, ८८, १०२, १०५, १८८

व

वॉन कोर्टलैण्ड, हेनरी चार्ल्स (१८१५-१८८८) : अंग्रेज जनरल; १८३२-३९ में सिख सरकार की फौज में नौकर था। पहले और दूसरे अंग्रेज-सिख युद्धों में (१८४५-४६, १८४८-४९) अंग्रेजों की तरफ से भाग लिया था; भारत

के राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह को कुचलने मे भी उसने हिस्सा लिया था। —६०, ७८, ९२, १०५

वाघन, जॉन लूथर (१८२०-२२) : अंग्रेज जनरल; भारत के राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह (१८५७-१९) को कुचलने में भाग लिया।—५२

वाजिदअली शाह : अवध का बादशाह (१८४७-१८५६)।—५१, १५०

वॉलपोल, रॉबर्ट (१८०८-१८७६) : अंग्रेज अफसर, बाद में जनरल; कोरफू द्वीप में फौज में काम किया (१८४७-१८५६); १८५७-५९ मे भारत के राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह के समय एक ब्रिगेड का कमांडर था।—१९८

वारेन, चार्ल्स (१७९८-१८६६) : अंग्रेज अफसर; १८५८ में जनरल बना दिया गया; १८१६-१९ तथा १८३०-३८ मे भारत मे नौकरी की; क्राइमिया युद्ध में हिस्सा लिया।—१९

वाल्तेयर, फ्रांसिस मारी (आरूत) (१६९४-१७७८) : विख्यात फ्रांसीसी दार्शनिक, साहित्यकार और इतिहासकार, अनियत शासनवाद तथा कैथोलिकवाद के विरुद्ध सख्त संघर्ष चलाया।—४२

विलियम तृतीय : आरेन्ज का राजकुमार (१६५०-१७०२); नीदरलैण्ड्स का स्टॉटहोल्डर (१६७२-१७०२) और इंगलैण्ड का बादशाह (१६८९-१७०२)।—१६, १७, २२

विलियम चतुर्थ (१७६५-१८३७) : ग्रेट ब्रिटेन का बादशाह (१८३०-३७)। —१५२

विलियम्स, विलियम फेनविक, बैरोनेट कार्स (१८००-१८८३) : अंग्रेज जनरल; १८५५ मे क्राइमिया के युद्ध के समय कार्स की रक्षा के कार्य का नेतृत्व किया था; पार्लियामेंट का सदस्य (१८५६-५९); वुलविच में गैरीसन का कमांडर था।—१२७

विक्टोरिया (१८१९-१९०१) . ग्रेट ब्रिटेन की मलका (१८३७-१९०१)। —१९९

विलसन, आर्कडेल (१८०३-१८७४) : अंग्रेज जनरल; भारत के राष्ट्रीय मुक्ति विद्रोह के समय जिन फौजो ने दिल्ली को घेरा और उस पर धावा किया था, उनकी कमान (१८५७) और लखनऊ पर कब्जा करने के समय तोपखानों की कमान उसके हाथ में थी (१८५८)।—९७, १०४, ११७, १२१, १६७, १९२, १९५

श

ह

भौगोलिक अनुक्रमणिका*

---

* इस अनुक्रमणिका में भारत में १८५७-५९ में हुए राष्ट्रीय मुक्ति संग्राम से सम्बंधित भौगोलिक स्थानों के नाम हैं।—सम्पादक

ध

न

प

फ

ब

भ

म

र

ल

व

श

स

ह